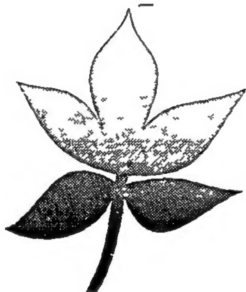
अनैतिकता की धूप अणुव्रत की छतरी

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

अनैतिकता की धूप
अणुव्रत की छतरी



आचार्य तुलसी

आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)

श्री मूलचन्दजी, लूणीदेवी बोथरा, श्री सुरेन्द्रकुमारजी निर्मलादेवी बोथरा
श्री पदमकुमारजी सीमादेवी बोथरा श्री संजयकुमारजी दीपिकादेवी बोथरा
बीकानेर-गंगाशहर के सौजन्य से

प्रकाशक कमलेश चतुर्वेदी प्रबंधक आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य पैंतालीस रुपये / संस्करण १९९७ / मुद्रक पवन प्रिंटर्स दिल्ली ११००३२

ANAITIKATA KI DHOOP ANUVRAT KI CHHATARI
by Acharya Tulsi

Rs 45 00

प्रस्तुति

मनुष्य के मन की धरती पर विचारो की पौध उगती है। उस पौध में कही फूल खिले होते हैं, कही काटे बिछे होते हैं। कभी वह पतझर की भाति वीरान हो जाती है और कभी मधुमास की बहारो से भर जाती है। उसके किसी भाग म अधकार ही अधकार भरा है तो दूसरा उजालो से खिला हुआ है। मन की इस धरती पर केवल आरोह-अवरोह ही नही, द्वद्वो का जाल भी है। उस द्वद्वात्मक जाल को काटकर आगे बढने के लिए आवश्यकता रहती है नैतिक बल की। जिस व्यक्ति के पास नैतिकता का पाथेय नही है वह अपनी जीवन यात्रा म श्रात हो जाता है। किसी भी क्षेत्र मे गति करने के लिए नैतिक बल की नितात अपेक्षा रहती है। धर्म और अध्यात्म की फलश्रुति ता नैतिकता ही है समाज और राजतत्र भी नैतिकता के प्रभाव से मुक्त रहकर अपनी नीति म सफल नही हो सकते।

एक युग था, जब नैतिक मूल्यो की कोई चर्चा नही होती थी। उस समय मनुष्य के मन मे दुर्बलताए नही थी बुराइया नही थी, यह बात नही है। पर उनका स्वरूप भिन्न था। उस परिस्थिति मे बुराई के प्रतिकार का क्रम भी दूसरा था। देखते देखते मनुष्य के मन, विचार और प्रवृत्तियो मे जो परिवर्तन हुए उन्होंने नैतिक आदोलनो की अपरिहार्यता अनुभव करा दी। अणुव्रत आदोलन भी उसी श्रृंखला की एक सशक्त कडी है।

आज बुद्धिवाद और वज्ञानिक सुविधाए जिस रूप म बढ रही है युग चेतना म सत्ता, सपदा और आत्मख्यापन की भूख भी तीव्र होती जा रही है। इस भूख ने मनुष्य को इतना असहाय और किंकर्तव्यविमूढ बना दिया है कि वह इसकी पूर्ति के लिए उचित-अनुचित कुछ भी करने म झिझकता नही। इस स्थिति को नियत्रित करने की अपेक्षा है। अणुव्रत आदोलन का उद्देश्य दोनो ओर से काम करने का रहा है। भारत मे यह अपनी श्रेणी का पहला आदोलन है, जिसने व्यक्ति चेतना और समूह चेतना को समान रूप से प्रभावित किया है। भारतीय आचार विज्ञान की बहुमुखी धाराओ के मध्य सेतु का काम करने वाला अणुव्रत लोक चेतना को ऊर्ध्वारोहित करने वाली प्रवृत्तियो का सफल सवाहक बनता हुआ अपने साहित्यिक

परिवेश को भी विस्तार दे रहा है। 'अनैतिकता की धूप अणुव्रत की छतरी' उसी विस्तार का एक बिन्दु है, जो अपने पाठकों को नैतिक मूल्यों के अववोध ही नहीं आचरण के विषय मे भी सही दिशा दर्शन दे सकता है।

प्रस्तुत कृति मे भारतीय आचार-विज्ञान और पश्चिमी आचार शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रश्नोत्तरों के माध्यम से किया गया है। मैं बहुत बार सोचा करता था कि भारतेतर देशों मे नैतिकता का क्या स्वरूप है? वहा के भौतिकता प्रधान वातावरण मे भी किसी अध्यात्म प्रधान नीति का मूल्य है क्या? इस दृष्टि से कुछ लोगो के विचार जाने, कुछ व्यक्तियो के व्यवहार देखे और कुछ बातें साहित्य मे पढीं। कुल मिलाकर मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा कि जिस प्रकार भारत का आचार शास्त्र है उसी प्रकार पश्चिम का भी अपना आचार शास्त्र है। भारतीय आचार का आधार है अध्यात्म और पश्चिमीय आचार का आधार है सुख प्रधान जीवन की शुभमूलक धारणाएं। धारणाओ का उत्स भिन्न होने पर भी अनेक मोडो पर अद्भुत सामजस्य का दर्शन होता है। नैतिक मूल्य शाश्वत और सामयिक दोनो प्रकार के होते है। शाश्वत मूल्य स्थिर होते है पर सामयिक मूल्यों मे परिवर्तन की सभावना को नकारा नही जा सकता। जो व्यक्ति सामयिक मूल्यो मे शाश्वत सत्य का दर्शन करने लगते है उनके सामने कठिनाई उपस्थित हो जाती है। जिस व्यक्ति के चिंतन की खिडकिया सदा खुली रहती हैं वह अपने सापेक्ष दृष्टिकोण को विकसित कर सकता है। सापेक्ष चिंतन के द्वारा ऐकातिक आग्रह जैसी समस्याएं स्वय निरस्त हो जाती है।

पश्चिमीय आचार शास्त्र के साथ भारतीय आचार सहिता का तुलनात्मक अध्ययन करने से जो तथ्य उभरे उन्हें अभिव्यक्ति देने का एक लक्ष्य सामने था। पहले चिन्तन यह था कि वर्गीकृत रूप मे शृखलाबद्ध पुस्तक लिखी जाए। किन्तु विषयगत सकीर्णता को दूर करने के लिए आचार या नीति के सम्बन्ध मे उन्मुक्त जिज्ञासाओ की यात्रा शुरू की गयी। यात्रापथ इतना लम्बा हो जाएगा, इसकी मुझे कल्पना नहीं थी। पर जो सिलसिला चल पड़ा उसे बीच मे तोडना उचित नहीं लगा। इसलिए जितने प्रश्न सभव हो सके, उन्हें उभारा गया। इस यात्रा मे युवाचार्य महाप्रज्ञ और साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा मेरे सहयात्री बनकर रहे। मुक्त चर्चा मे प्रासंगिक विषय का जो विशद विश्लेषण हुआ, उसे बयालीस इकाइयो मे समेटकर एक सकलन तैयार कर दिया गया।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम सस्करण सन् 1979 मे मुद्रित हुआ था। उसमे अहिंसा सम्बन्धी कुछ निबन्ध और थे। अहिंसा आचार शास्त्र का महत्त्वपूर्ण अग है। इस दृष्टि से शैलीगत भिन्नता के बावजूद वे निबन्ध इस सकलन के फ्रेम मे फिट बैठ गये।

विगत सात वर्षों की इस अवधि मे समय समय पर अणुव्रत से सम्बन्धित कुछ

नये निबन्ध लिखे गये। उनमें आचार शास्त्र की दृष्टि से सहज सरल भाषा में जो व्याख्या दी गयी, वह पाठक के मन में नैतिक मूल्यों के प्रति गहरी अभिरुचि उत्पन्न करने वाली प्रतीत हुई। इस उपयोगिता को देखते हुए प्रस्तुत पुस्तक के दो विभाग कर दिये गये। प्रथम विभाग ज्यों का-त्यों रखा गया। दूसरे विभाग में अहिंसा विषयक निबन्धों के स्थान पर अणुव्रत सम्बन्धी सामग्री संकलित कर दी गयी। कुल मिलाकर यह पुस्तक आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र की झलक पाने के लिए एक वातायन बन गयी।

जो व्यक्ति नैतिक मूल्यों के सही सन्दर्भों की समझ के अभाव में नैतिकता, अध्यात्म या आचार के प्रति श्रद्धालु बन जाते हैं, वे ऐसे साहित्य का मननपूर्वक अध्ययन कर अपनी सही समझ को जागृत करें। भारतीय लोकमानस की नैतिक आस्था के नाजुक धागों को थामने में ऐसे संकलन उपयोगी बनें तथा अनैतिकता की तीखी धूप से श्रान्त और क्लान्त बने व्यक्ति अणुव्रत की छतरी हाथ में लेकर अपनी श्रान्ति और क्लान्ति को दूर करें, यह अपेक्षा है।

बीदासर
१८ दिसम्बर १९८६

—आचार्य तुलसी

अनुक्रम

भारतीय एवं पाश्चात्य आचार विज्ञान

जीवन मूल्यों की तलाश

भारतीय एव पाश्चात्य आचार-विज्ञान

नैतिकता इतिहास के आईने में

प्रश्न—आपने अपने युग मे नैतिक मूल्यो की पुन प्रतिष्ठा के लिए विशेष प्रयास किया है। इस प्रयास मे आपने लम्बी लम्बी यात्राए की हैं, नैतिक साहित्य तैयार करवाया है, जन-सम्पर्क बढ़ाया है तथा और भी बहुत कुछ किया है। मेरी एक जिज्ञासा है कि इस सन्दर्भ मे अतीत मे भी कुछ काम हुआ है क्या ? यदि हुआ है तो वह किस क्रम से हुआ है और किसने किया है ?

उत्तर—नैतिकता सामाजिक जीवन का अपरिहार्य अग है। किसी भी युग और किसी भी समाज म इसकी अपरिहार्यता को नकारा नही जा सकता। इसलिए समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र—तीनो धाराओं म इसकी व्याख्या उपलब्ध है। हर शास्त्र की व्याख्या की पृष्ठभूमि मे उसका अपना दृष्टिकोण और परिस्थितिया प्रतिबिम्बित हैं किंतु उनकी अतिम परिणति एक बिन्दु पर जाकर होती है। इस दृष्टि से उक्त प्रश्न की उत्तर शृखला बहुत लम्बी हो जाती है। सब शास्त्रो म प्रतिपादित नैतिकता की आधार सहिता का समालोचनात्मक अध्ययन एक स्वतन्त्र और श्रमसाध्य विषय है। प्रस्तुत सन्दर्भ म हम कुछ ग्रथो और ग्रथ प्रणेताओ को सामने रखकर इस चर्चा को क्रमश आगे बढ़ाते रहेंगे।

भारतीय लोक चिन्तन म धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों को परम तत्त्व माना गया है। आध्यात्मिक दृष्टि अर्थ और काम को वह मूल्य नहीं देती जो धर्म और मोक्ष को प्राप्त है। किन्तु अर्थार्जन म अप्रशस्त प्रकारो का परिहार एक सीमा तक धर्म की परिधि मे समाविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार अनियन्त्रित काम के नियन्त्रण की दिशा असत् से सत की ओर गतिसूचक मानी जाती है। समाज, राज्य और धर्मनीति भी इन चारो पुरुषार्थों से अनुबंधित है। इस अनुबंधता म भी नीतिशास्त्रो मे नैतिकता का व्यवस्थित और सागोपाग विश्लेषण उपलब्ध नही होता, फिर भी यत्र तत्र विकीर्ण सामग्री के आधार पर यह जाना जा सकता है कि उस युग म नैतिक मूल्यो के निर्धारण का मानदड क्या था और वे लोक-जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते थे।

पाश्चात्य विद्वानो के साहित्य तथा उनके अनुकरण स्वरूप लिखे गये साहित्य

को अलग रखकर साहित्यिक विश्लेषण किया जाये तो भारतीय साहित्य तीन धाराओ मे प्रवाहित रहा है—वैदिक, बौद्ध और जैन। नैतिकता की चर्चा सबसे अधिक विस्तत और व्यवस्थित जैसी जैन आगम साहित्य मे हुई है, अयत्र दुलभ है। जैन आगमो के मूल स्रोत भगवान् महावीर ने नैतिक मूल्यो की दृष्टि से जो दशन दिया, वह मौलिक, उपयोगी और जनभोग्य रहा है, यह कहने मे कोई कठिनाई नही है।

बौद्धपिटको मे भी नैतिकता की सक्षिप्त आचार सहिता उपलब्ध है, जिसके आधार पर बुद्ध के अनुगामियो ने जीवन के उदात्तीकरण का मागदशन पाया है। जैन और बौद्ध दोनो एक श्रमण सस्कृति की धाराए हैं, इसलिए तत्त्व प्रतिपादन के कई पहलुओ मे साम्य होना स्वाभाविक है, फिर भी दोनो धाराओ के प्रवतको और प्रबुद्ध नेताओ का अपना मौलिक चिन्तन भी रहा है।

वैदिक साहित्य मे महाभारत, पुराण, स्मतिया धमसूत्र तथा नीतिशास्त्र सबधी अनेक ग्रथो मे नतिकता के सदभ प्राप्त हैं। कौटिलीय अथशास्त्र मे चाणक्य और सोमदेव के नीतिसूत्रो का व्यवस्थित सकलन है। ईसवी पूव चतुथ शताब्दी के महान् अथशास्त्री विष्णुगुप्त (चाणक्य) ने मौयवश की समुन्नति मे अपने प्रतिभा-बल का उपयोग किया। चाणक्य एक कुशल कूटनीतिज्ञ था। उसने राजनीति और अथनीति के सूक्ष्म रहस्यो का उदघाटन करते हुए कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जो नैतिकता की दृष्टि से मननीय हैं—

कदाचिदपि चारित्र्य न लघयेत्

व्यक्ति किसी भी परिस्थिति मे चारित्र का अतिक्रमण न करे—यह सूत्र जितना महत्त्वपूण है, उतना ही सावभौम है।

दुव्यसन जीवन निर्माण म सबसे बडा बाधक तत्त्व है। जो व्यक्ति दुव्यसनो के पाश मे बध जाते हैं, वे किसी काय मे सफल नही हो सकते। व्यसन मात्र को त्याज्य बताते हुए चाणक्य ने लिखा है—

न व्यसनपरस्य कार्यावाप्ति

व्यसनो की व्याख्या मे जुआ, शिकार मद्यपान आदि का समावेश किया गया है।

नास्ति काय द्यूतप्रवृत्तस्य

जुआरी व्यक्ति के सामने कोई काम नही रहता।

मृगयापरस्य धर्मार्थो विनश्यत

शिकार में निरत व्यक्ति के धम और अथ दोनो विनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

न स्यात कूटसाक्षी

झूठी गवाही नहीं देनी चाहिए। यह मानवीय मूल्य नही है। प्राचीन समय म

इस कार्य को गर्ह्य माना जाता था। इसी तथ्य की अभिव्यक्ति निम्नलिखित सूत्र मे मिलती है—

कूटसाक्षिणो नरके पतन्ति

झूठी गवाही देने वाले नरक म जाते है। सोमदेव न नीतिसूत्रो म व्यसन को परिभाषित करत हुए लिखा है—

व्यस्यति प्रत्यावतयत्येन श्रेयस इति व्यसनम्।

जो व्यक्ति को श्रेयस् से निर्वतित कर दता है, वह व्यसन कहलाता है। द्यूत-क्रीडा की जघन्यता प्रदर्शित करत हुए नीतिकार लिखते हैं—

नास्त्यकृत्य द्यूतासक्तस्य, मातर्यपि हि मताया दोव्यत्येव हि कितव ।

जुआरी व्यक्ति के लिए कुछ भी अकृत्य नहीं रह जाता। वह अपनी मा के मरने पर भी द्यूतक्रीडा म सलग्न रहता है।

पानशोण्ड चित्तभ्रमात् मातरमभिलपति।

मदिरापान किसी भी परिस्थिति मे काम्य नही हो सकता। मद्य से उन्मत्त व्यक्ति को चित्त विक्षेप के कारण अपनी माता और बहन का भी भाव नही रह पाता।

लंचो हि सव पातका नामागमनद्वारम्।

रिश्वत सब पापो के आगमन का द्वार है। इस सूत्र मे रिश्वत को उन अपराधो की श्रेणी म परिगणित किया है, जिनका विशोधन होना बहुत कठिन है।

लचेन कार्यकारिभि उरभ्रवत स्वामी विक्रीयते

रिश्वत लेकर काम करन वाले व्यक्ति अपने स्वामी को मेढ की भाति बेच देते हैं।

इसी प्रकार अन्य अनेक सदर्भ हैं, जिनके आधार पर नैतिक मूल्यांकन की दृष्टि उपलब्ध होती है। नैतिकता कोई कला नही, जिसका प्रशिक्षण दिया जा सके। यह तो एक प्रकार का आचरण या अभ्यास है, जो सकल्पशक्ति से किया जा सकता है। नैतिकता के भी प्रशिक्षण का क्रम हो सकता है, पर मात्र प्रशिक्षण से उसकी क्रियान्विति नही हो पाती। इसके लिए तो सामूहिक वातावरण बनाने तथा व्यक्तिश प्रेरणा देने की जरूरत है।

मूल्य-निर्धारण एक समस्या

प्रश्न—नैतिकता की समस्या मूल्यांकन की समस्या है। भौतिकवादी व्यक्ति की दृष्टि म मूल्य वह है जो मनुष्य की इच्छा को परितृप्ति दे सके। अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के अनुसार मूल्य वह ह जो व्यक्ति को आत्म विकास की ओर अग्रसर करे। दोनो दृष्टियो की निरपेक्षता म मूल्याकन की समस्या समाहित नही हो सकती। इस स्थिति म आप क्या मार्गदशन दत हैं?

उत्तर—इस समस्या का सावकालिक समाधान वही होगा, जो आप्त पुरुषो ने किया है। मेरे चिन्तन का आधार भी वही है। जैन दशन का एक शब्द है 'अनेकान्त'। यह अनेकान्त विरोधी-से विरोधी दिशाओ को भी एक बिन्दु पर लाकर मिला देता है। इस मिलन म किसी के अस्तित्व को खतरा नही है पर जो विरोध का आभास होता है वह सिमटता हुआ प्रतीत होने लगता है। मूल्य निर्धारण के सबध मे भी अनेकान्त का सापेक्ष दृष्टिकोण ही अधिक व्यावहारिक हो सकता है।

सामाजिक धरातल पर जो मूल्यात्मक आदश हैं वे न तो इच्छाओ के सपोषण से सवथा विमुख हो सकत हैं और न आत्म विकास के प्रतिगामी हो सकते है। आत्मोत्कष और समाज व्यवस्था के समुचित अभ्युदय की पृष्ठभूमि पर नतिकता सहज भाव से प्रतिफलित हो सकती है। इसका मूल्याकन न इच्छा की परितृप्ति मे बाधक है और न आत्म विकास मे। औचित्य का अतिक्रमण न मूल्यात्मक आदश हो सकता है और न नतिकता।

मनुस्मृति वैदिक साहित्य का प्रमुख ग्रथ है। उसम लौकिक और लोकोत्तर आचार सहिता का निरूपण करत हुए कुछ ऐसे तथ्यो का प्रतिपादन किया गया है जो सावभौम और सावकालिक हैं। उन्हे भारतीय आचार-सहिता के एक अग के रूप म स्वीकृत किया जा सकता है।

धम को परिभाषित करते हुए स्मृतिकार ने लिखा है—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धम के लक्षण हैं (६/९२)।

जुआ, जनापवाद, निंदा तथा असत्य को श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए अनाचरणीय कहा गया है (२/१७७)।

शिकार, जुआ, दिन में अधिक सोना, निंदा, स्त्रियों में आसक्ति, उन्माद, गाना, नाचना, वाद्य बजाना और व्यर्थ परिभ्रमण—ये दस काम-जन्य व्यसन हैं। व्यक्ति सुख की इच्छा से इन व्यसनों का आदी हो जाता है, किंतु बाद में इनसे छुटकारा पाना बहुत कठिन है (७/४७)।

चुगलखोरी, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, धनापहरण, कठोर वचन और कठोर दंड—ये आठ व्यसन क्रोध से उत्पन्न होते हैं (७/४८)।

कामजन्य व्यसनों में मदिरापान, जुआ, स्त्री में आसक्ति और शिकार को अधिक कष्टकर बताया गया है (७/५०)।

क्रोधजन्य व्यसनों में अधिक कष्टकर हैं—दंड प्रयोग, कटुवचन और धनापहार (७/५१)।

उक्त अठारह व्यसनों में सात व्यसनों को अधिक दुःखद मानने का हेतु है उनका आत्मघाती और परघाती दुष्परिणाम। दुर्व्यसन केवल उसी व्यक्ति का अहित नहीं करते हैं जो उनके चंगुल में फंस जाता है किंतु वे उसके परिपार्श्व को प्रभावित कर वहां भी अपनी काली छाया छोड़ देते हैं। इस दृष्टि से मनुस्मृतिकार ने लिखा है—

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ (७/५३)।

एक ओर दुःखमना की गहरी खाई, दूसरी ओर मृत्यु का गहरा गर्त। ये दोनों ही स्थितियां व्यक्ति के लिए दुःखद हैं। किंतु दोनों की तुलना करें तो व्यसन अधिक दुःखद है। दुर्व्यसनी व्यक्ति मृत्यु के बाद नीचे-नीचे जाता है और व्यसन-मुक्त व्यक्ति स्वर्गलोक की यात्रा करता है।

उक्त विश्लेषण के आधार पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति भौतिकवादी हो या अध्यात्मवादी, आदर्शवादी मूल्यों को वह नकार नहीं सकता। क्योंकि आदर्शवाद का सामाजिक दृष्टिकोण यही है कि व्यक्ति का आचरण उन्नत हो। दुराचारी व्यक्ति लोक में निंदा को प्राप्त करता है। उसे पग-पग पर दुःख मिलता है, बीमारियां उसका पीछा नहीं छोड़ती और उसका आयुष्य कम होता है (४/१५७)।

झूठी गवाही न्याय की दृष्टि से बहुत बड़ा अपराध है। मानवीय मूल्य व्यक्ति को कभी भी कूट साक्षी की अनुमति नहीं दे सकते। स्मृतिकार ने भी इसी दृष्टि को सामने रखकर कहा है—

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद् विब्रुवन्नार्यसंसदि।
अवाङ् नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ (८/७५)।

साक्षी देने वाला व्यक्ति न्यायालय मे आकर दृष्ट या श्रुत तथ्यो से विपरीत भाषण करता है तो अधोमुख नरक म गिरता है तथा अन्य शुभ कर्मों से प्राप्त होने वाले स्वर्ग से वंचित रहता है।

गवाही मे असत्य बोलने वाला व्यक्ति वरुण के पाश से बांधा जाता है तथा सैकडो जन्मो तक विवश रहता है इसलिए साक्षी म सत्य बोलना चाहिए।

मनुस्मृति मे विवर्णित सात दुर्व्यसनो की चर्चा महाभारत मे भी उपलब्ध है। राजा का मन्त्रिमडल कैसा हो ? इस प्रश्न के सदर्भ मे भीष्म ने युधिष्ठिर को सबोधित कर कहा—सात प्रकार के दुर्व्यसनो से दूर रहने वाले व्यक्ति को मन्त्रि मडल मे सम्मिलित करना चाहिए। वे सात दुर्व्यसन हैं—मदिरापान, जुआ, पर स्त्री गमन, शिकार, परुषदड, परुषवचन और अर्थापहरण।

भौतिकवादी व्यक्ति का उद्देश्य मात्र अपनी इच्छा को परितृप्ति देना ही हो तो वह सामाजिक स्तर पर भी सामजस्य स्थापित नही कर सकता। इसी प्रकार आत्मवादी व्यक्ति को भी व्यवहार की भूमिका पर चलने के लिए उस अगम्य ऊचाई से नीचे उतरना ही होगा।

मेरा अभिमत है व्यवहार्य आदर्श किसी भी समाज और व्यक्ति के सुखी जीवन का रहस्य है। सामाजिक व्यक्ति के लिए दोनो स्थितियो मे सापेक्ष मनोवृत्ति का निर्माण कर असतुलित-चित्तवृत्ति को तोडना जरूरी है। सापेक्षता के अभाव मे जीवन मे बिखराव और टकराव की परिस्थितिया उत्पन्न हो जाती हैं जो आचार विज्ञान को नही समझने के कारण होती हैं।

आचार शास्त्र का मूल नैतिकता है, पर दिखाऊ भौतिकता आचार का फलित नहीं हो सकती। वह तो एक मुखौटा है। उससे व्यक्ति अह चेतना, ममकार की चेतना से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए तथाकथित नैतिक मूल्यों मे न उलझकर आचार की गहराई मे प्रवेश करने से हर समस्या अपने आप समाहित होती हुई प्रतीत हो सकती है।

भारतीय आचार-शास्त्र को महावीर की देन

प्रश्न—वैदिक साहित्य मे भारतीय आचार-संहिता का जो स्वरूप प्राप्त है, उसकी आपने संक्षिप्त चर्चा की। उस चर्चा के मध्य आपने यह भी बताया कि नैतिकता या आचार शास्त्र का व्यवस्थित प्रतिपादन जैन आगमो मे हुआ है। जैन आगम साहित्य के उद्गम-स्रोत भगवान् महावीर तथा उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस दिशा में जो अभिक्रम किया है, उस विषय मे समग्रता से जानने की इच्छा है। आप अनुग्रह करें तो हमे एतद्विषयक सामग्रिक जानकारी उपलब्ध हो सकती है।

उत्तर—भगवान् महावीर ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे महान् क्रातचेता के रूप मे विश्व क्षितिज पर उदित हुए। उनकी तेजस्विता ने प्रतिगामी मूल्यो और मानवीय चेतना को प्रगति की ओर अग्रसर किया। उनकी चिंतनधारा ने मनुष्य को अनन्त सत्य के साक्षात्कार और अनन्त शक्ति की खोज मे प्रेरित किया। उनके दर्शन ने युग-चेतना को नया आलोक दिया। उस आलोक का आधार था विचार और आचार की समन्विति। मानवीय विचार को आचार की मजिल तक पहुचने के लिए एक लम्बी यात्रा करनी होती है। यह यात्रा अन्तर मे घटित होती है। भगवान् महावीर इसी अन्तर-यात्रा के प्रेरक थे। वे स्वय अपनी चेतना की गहरी तहो म अतियात्रित हुए और लाखो-करोडो व्यक्तियो की चेतना को झकझोरने वाला दिशा-बोध दिया।

जैन आगमो मे गुफित भगवान् महावीर की वाणी मे जैन आचार का सामग्रिक और विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। उनकी तत्त्व निरूपण पद्धति को दो स्तरो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम स्तर के निरूपण म आचार का उत्कृष्ट रूप निरूपित हुआ है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाच व्रतो को महाव्रतो के रूप मे प्रस्तुति की गयी है। इन महाव्रतो का मन, वचन और कर्म से आंशिक अतिक्रमण भी क्षम्य नही है। जो व्यक्ति आचार की इस उन्नत भूमिका पर आरोहण करते हैं, वे देश, समाज और परिवार की सीमाओ को अतिक्रात कर अपने आपको सपूर्ण रूप से आचार के प्रति समर्पित कर देते हैं।

भगवान् महावीर इसी आचार पद्धति को विश्व चेतना में संक्रांत करना चाहते थे, किन्तु वे विश्व मानस की दुर्बलताओं से भी परिचित थे। हर व्यक्ति की चेतना में इतना अवकाश नहीं था कि वह महाव्रतों की भूमिका पर दृढ़ता से आरोहण कर सके। इस स्थिति को लक्षित कर भगवान् ने आचार सम्बन्धी द्वितीय स्तर का उद्घाटन किया। उनके पास कोई भी व्यक्ति जिज्ञासु होकर आता, वे उसके सामने दोनों भूमिकाओं की चर्चा करते थे। जिस व्यक्ति का आत्मबल प्रबल होता, जिसकी चेतना में आलोकमय बनने की अभीप्सा जागृत हो जाती वह सर्वात्मना समर्पित होकर महाव्रतों का कवच पहन लेता और जो व्यक्ति इस पथ पर चलने में कठिनाई महसूस करता वह अणुव्रत को स्वीकार कर द्वितीय भूमिका में आरोहण करता।

प्रश्न—भगवान् महावीर द्वारा निरूपित आचार विधान का संक्षिप्त परिचय आपने दिया। इसके आधार पर यह निश्चित होता है कि प्रथम स्तर की भूमिका सबके लिए सुलभ नहीं थी। द्वितीय भूमिका में पथ इतना भयावह और संकरा नहीं था जिस पर चलने वाला विभीषिका अनुभव करे। इस दृष्टि से द्वितीय भूमिका का पथ सुगम और प्रशस्त प्रतीत होता है। मैं चाहती हूं कि इस भूमिका का सांगोपांग विवेचन हो, ताकि एक सर्वोपयोगी आचार विधि का बोध करके जन जन की चेतना भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चंक्रमण कर सके। क्या यह संभव है?

उत्तर—भगवान महावीर के लिए तो असंभव जैसा कुछ भी नहीं था। उन्होंने गहन अंधकार में भटकी हुई अनेक अनेक चेतनाओं को दिव्य आलोक से आलोकित किया। किन्तु अवश्यंभाविता को बदलने का प्रयास उन्होंने कभी नहीं किया। इस संदर्भ में मैं यह तथ्य उद्घाटित करना चाहता हूं कि संसार के सब लोग किसी एक आचार संहिता को आदर्श मानकर चलें अथवा उसके माध्यम से सबके जीवन में रूपांतरण घटित हो, यह संभव नहीं है। हां, सार्वभौम और सार्वकालिक आचार संहिता की उपयोगिता किसी भी समय समाप्त नहीं हो सकती। इस दृष्टि से भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त आचार-संहिता का आज भी उतना ही मूल्य है, जितना उस समय में था। अब मैं एक एक व्रत के परिप्रेक्ष्य में आचार के व्यावहारिक सूत्रों की चर्चा करूंगा।

मुनि के लिए उसके आचार का प्रथम सूत्र है अहिंसा महाव्रत। इसी प्रकार गृहवास में रहने वाले व्यक्ति के लिए पहला आदर्श है—अहिंसा अणुव्रत। महाव्रत और अणुव्रत की सीमाओं को समझकर गाथापति आनन्द ने भगवान् महावीर के चरणों में निवेदन किया—भन्ते! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा करता हूं, प्रतीति करता हूं, रुचि करता हूं। भन्ते! निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, तथ्य है। यह समग्र रूप से ग्रहण करने योग्य है किन्तु मैं इसके लिए अपने आपको असमर्थ अनुभव कर रहा

हू। इसलिए मैं पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को स्वीकार करता हू।

भगवान् महावीर ने कहा—आनन्द! तुम्हे जैसा सुख हो, वैसा करो, पर धार्मिक काय म विलम्ब मत करो। भगवान् की अनुमति पाकर आनन्द ने बारह व्रत स्वीकार किय। व्रतो की स्वीकृति म मन, वचन और शरीर—तीनो को सयत रखने का सकल्प था तथा उनकी सीमा मे समागत परिहाय बातो को दूसरो के द्वारा न करान का भी सुदृढ मनोभाव था। व्रतो के सख्याक्रम के साथ उनके नाम ये हैं—

१ अहिंसा अणुव्रत
२ सत्य अणुव्रत
३ अचौय अणुव्रत
४ स्वदार (पति) सतोष अणुव्रत
५ इच्छा परिमाण अणुव्रत
६ दिशा परिमाण व्रत
७ उपभोग परिभोग परिमाण व्रत
८ अनथ दण्ड विरति व्रत
९ सामायिक व्रत
१० देशावकाशिक व्रत
११ पौषध व्रत
१२ अतिथि सविभाग व्रत

उक्त बारह व्रतो को स्वीकार करने वाला दशव्रती श्रावक कहलाता है। इन व्रतो की व्याख्या और सभावित दोषो की आलोचना विधि का प्रसग अग्रिम चर्चा के लिए छोडकर मैं इस विषय को सपन्न करता हू।

अणुव्रत स्वरूप-बोध

प्रश्न—अहिंसा आदि अणुव्रतो का स्वरूप क्या है और उस पर आधारित जीवन का क्रम कैसे बनता है ? उनके प्रति व्यक्ति की आस्था और उससे प्रभावित समाज चेतना के सम्बन्ध मे आपका क्या दृष्टिकोण है ?

उत्तर—अहिंसा अणुव्रत की सीमा मे चलने फिरने वाले निरपराध प्राणियो की हिंसा का परित्याग होता है। हिंसा का सबध केवल प्राणवियोजन मात्र से ही नही है। असत प्रवृत्ति और उसके द्वारा होने वाला प्राण-वध हिंसा है। प्रवृत्ति चाहे मानसिक हो, वाचिक हो या कायिक, उसका असत प्रयोग हिंसा है। सूक्ष्म हिंसा से विरत रहना अहिंसा महाव्रत है। अणुव्रती श्रावक स्थूल हिंसा से विरत होता है। इस व्रत की परिधि मे प्राण वियोजन के अतिरिक्त भी कुछ ऐसी प्रवृत्तिया आती हैं जो त्याज्य हैं जैसे—

बध—मनुष्य या पशुओ को रज्जु आदि से गाढ बधन से बाधना।

वध—मनुष्य या पशु पर मारक प्रहार करना।

छविच्छेद—मनुष्य या पशु के शरीर के अवयवो को विच्छिन्न करना।

अतिभार आरोपण—मनुष्य या पशु पर अधिक भार लादना।

भक्तपान विच्छेद—अपने आश्रित प्राणियो के आहार पानी आदि का विच्छेद करना।

सत्य अणुव्रत मे व्यक्ति स्थूल असत्य का परिहार करता है। इस व्रत के अनुसार व्यक्ति किसी पर असत्य दोष का आरोपण नही कर सकता। किसी व्यक्ति की गुप्त मत्रणा का भेद नही दे सकता। अपनी स्त्री (पति) की रहस्यमय बात को प्रकट नही कर सकता। किसी भी व्यक्ति को असत्य सभाषण के लिए प्रेरित नही कर सकता और झूठा हस्ताक्षर नही कर सकता।

कन्या आदि के विवाह प्रसग मे, पशु भूमि आदि के विक्रय प्रसग मे, धरोहर लौटाने के सबध मे और साक्षी देने के सन्दर्भ मे भी असत्य का आचरण करने वाला सत्य की सीमा का अतिक्रमण करता है।

तीसरा अणुव्रत चौर्य वृत्ति का प्रतिरोधक है। इस व्रत का पालन करने वाला

व्यक्ति चोर द्वारा चुराई हुई बहुमूल्य वस्तु को कम मूल्य मे नही खरीद सकता। चोर को चोरी करने की प्रेरणा नही दे सकता। किसी भी राष्ट्र की निर्धारित नीति का अतिक्रमण नही कर सकता। झूठा तोल-माप नही कर सकता—तोल-माप के साधनो को बडा और छोटा रखकर लेते समय बड़े साधन का उपयोग तथा देते समय छोटे साधन का उपयोग करने वाला तृतीय व्रत मे दोष लगाता है। इस व्रत का पाचवा अतिचार है—नकली वस्तु को असली बताकर देना अथवा असली वस्तु मे नकली वस्तु का मिश्रण कर देना।

चतुर्थ व्रत का सम्बन्ध व्यक्ति की वृत्तिगत पवित्रता से है। विवाहित पति या पत्नी के अतिरिक्त किसी भी स्त्री पुरुष के प्रति विषय-वासनापरक चिंतन, वाणी और चेष्टा का परिहार करना इस व्रत का उद्देश्य है। इस व्रत का साधक कुछ समय के लिए वेतन देकर किसी स्त्री (पुरुष) के साथ अवैधानिक सम्बन्ध नही रख सकता। अपरिगृहीत स्त्री—वेश्या, कुमारी या विधवा स्त्री के साथ गलत सम्बन्ध स्थापित नही कर सकता। अन्य स्त्रियो के साथ काम क्रीडा नही कर सकता। अपने पारिवारिकजनो के अतिरिक्त दूसरो के विवाह की व्यवस्था कर काम भोग के लिए प्रेरित नही कर सकता तथा इन्द्रियो के विषयो मे तीव्र आसक्ति नही कर सकता।

यह व्रत उन्मुक्त यौन-सम्बन्धो और वासना-वर्धक प्रयत्नो को नियन्त्रित करके व्यक्ति को सयम की ओर प्रेरित करता है। इस व्रत की साधना से साधक ऊर्जस्वी जीवन जीता हुआ परम आह्लाद की अनुभूतियो मे लीन हो जाता है।

पाचवें अणुव्रत म आवश्यकता और आकाक्षा का नियमित करने का निर्देश है। इस व्रत मे व्यक्ति भूमि, मकान आदि की सीमा का अतिक्रमण नही कर सकता। सोना चादी आदि धातुओं, द्विपद चतुष्पद आदि प्राणियो, धन, धान्य और अन्य घरेलू उपकरणो की मर्यादा का लघन नही कर सकता।

इस व्रत के स्वीकरण से सग्रह और शोषकमूलक वृत्तियो का परिष्कार होता है, विलासिता की वृत्ति नियन्त्रित होती है और स्वीकृत सीमा मे सतुष्ट रहने का मनोभाव विकसित होता है।

उक्त पाच अणुव्रत जैन आगमो म प्रतिपादित जन-साधारण की आचार सहिता का मूल आधार हैं। मूल सुदृढ हो तो फल-फूल भी सुरक्षित रहते हैं। मूल के अभाव मे फल-फूलो की आशा व्यर्थ है। भारतीय आचार विज्ञान के सार्वभौम और सार्वकालिक सिद्धान्त उक्त व्रतो की परिधि से बाहर नही रहते। विश्व का कोई भी व्यक्ति इन व्रतों की भावना के अनुसार अपने जीवन, समाज और राष्ट्र से चारित्रिक अभ्युदय का रूप देख सकता है।

भगवान् महावीर ने इन सिद्धान्तो को पुष्ट करने के लिए कुछ और सूत्र दिये। उन सूत्रो को गुणव्रत या शिक्षाव्रत के रूप म मान्य किया गया है। जन सस्कारो

से अपरिचित व्यक्तियों के लिए ये सूत्र कुछ अटपटे हो सकते हैं, किन्तु हैं महत्त्वपूर्ण। इस दृष्टि से इनके सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा अपेक्षित है।

छठा व्रत या प्रथम शिक्षाव्रत दस दिशाओं में गमनागमन सम्बन्धी सीमा का निर्धारण करता है। इस व्रत का पालन करने वाला व्यक्ति ऊर्ध्वदिशा, अधःदिशा और तिर्यक् दिशा के परिमाण का अतिक्रमण नहीं कर सकता। किसी एक दिशा को संकुचित कर दूसरी दिशा को विस्तार नहीं दे सकता और स्मृतिदोष की सम्भावना से संदिग्ध दिशा में यात्रा नहीं कर सकता।

सातवां व्रत उपभोग-परिभोग की सामग्री को सीमित करना है। यह सीमा दो प्रकार से होती है—भोजन की दृष्टि से और कर्म की दृष्टि से। भोजन की दृष्टि से सचित्त (जीव सहित) भोजन, सचित्त मिश्रित भोजन, अपक्व भोजन, अधपक्व भोजन और ऐसी तुच्छ औषधियां जिनमें लाभ कम हो और हिंसा अधिक हो, व्रती व्यक्ति के लिए त्याज्य हैं।

कर्म की दृष्टि से अंगारे बनाना और बेचना, जंगल कटवाना, शकटों के द्वारा व्यवसाय करना, भाड़े के लिए व्यवसाय करना, पत्थर, लोह आदि की खानें खुदवाना, हाथीदांत, शंख, सीप, कौड़ी आदि हिंसा निष्पन्न व्यवसाय करना, दास-दासी, गाय, ऊंट आदि के केशों का व्यापार करना, लाक्षाकर्म करना, मदिरा आदि रसों का व्यवहार, अफीम बनाना, बेचना, तिल ईख आदि को कोल्हू से पीलना, पशुओं के नाक-कान आदि अवयव काटने का धंधा करना, क्षेत्र साफ करने के लिए वन में अग्नि प्रयोग करना, खेती करने के लिए तालाब, द्रह आदि सुखाना और आचरणहीन व्यक्तियों को पोषण देकर उनके व्यापार से आजीविका चलाना आदि कार्यों में छोड़ने योग्य कामों का सर्वथा परिहार तथा अन्य कार्यों को सीमित करना सातवें व्रत का मार्गदर्शन है।

आठवां व्रत है अनर्थदंड परित्याग का। इसकी साधना करने वाला कामोत्तेजक शब्द नहीं बोलता, भांड की तरह कुचेष्टाएं नहीं करता, मुखरता—निरर्थक नहीं बोलता, ऊखल मूसल, तलवार आदि शस्त्रों का निर्माण नहीं करता और उपभोग परिभोग के लिए निर्धारित सीमा का अतिक्रमण नहीं करता।

नवें व्रत में व्रती व्यक्ति मन, वचन और शरीर की असत् प्रवृत्ति का निरोध करता है। इस व्रत का नाम है 'सामायिक'। इसका अर्थ है समता की उपलब्धि। समता का साधक लाभ-अलाभ, सुख दुःख निंदा प्रशंसा, सत्कार-दुत्कार आदि द्वन्द्वों में सम रहने का अभ्यास करता है। जीवन यात्रा में समागत अनुकूल और प्रतिकूल हर परिस्थिति में संतुलित रहने का प्रयास करता है। इस व्रत के लिए न्यूनतम समय एक मुहूर्त (४८ मिनट) का है। इस काल में सामायिक की विस्मृति और अधूरी सामायिक को बीच में ही पूरी करने पर आलोचना द्वारा उसके शोधन

का क्रम निश्चित है।

दसवें व्रत मे पूर्वोक्त व्रतो मे की गयी सीमा को कुछ और सीमित किया जाता है। सामान्यत किसी भी प्रकार का सवर—निरोध इस व्रत के अतगत आ सकता है, किन्तु विशेप रूप से क्षेत्र सम्बन्धी सीमाओ को अधिक महत्त्व दिया गया है। इन सीमाओ के अनुसार व्यक्ति मर्यादित क्षेत्र मे बाहर स्वय किसी पदार्थ का आयात निर्यात नही कर सकता, कर्मचारियो के द्वारा आयात निर्यात नही करवा सकता। मर्यादित भूमि से बाहर साकेतिक शब्दो द्वारा सूचना भेजकर काम नही करवा सकता। शारीरिक क्रिया का प्रदर्शन कर उसके सकेत से कोई काम नही करवा सकता तथा बाह्य पुद्गल प्रक्षेप—पत्थर आदि फेंककर किसी कार्य की सूचना नही दे सकता।

ग्यारहवा व्रत एक विशेप प्रकार की साधना है। इसका नाम है 'पौपधोपवास'। इस व्रत की आराधना करने वाला एक दिन रात के लिए गृहस्थ जीवन की चर्या से मुक्त रहकर स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि माध्यमो से अपनी चेतना को अन्तर्मुखी बनाने का प्रयत्न करता है। इस व्रत की स्वीकृति के साथ ही वह प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि मे जागरूक रहकर पौपध व्रत की सम्यग् अनुपालना करता है।

बारहवा व्रत अतिथि-सविभाग है। पात्र व्यक्ति को पात्र अनुदान देने से इस व्रत का पालन होता है। यहा पात्रता का सम्बन्ध सयम के साथ जोडा गया है। सयमी व्यक्ति के सयम को पोषण देने के लिए शुद्ध भावना से शुद्ध (जो हिंसा आदि से निष्पन्न न हो) पदार्थ देने वाला व्यक्ति 'अतिथि सविभाग व्रत का पालन करता है।

कोई व्यक्ति माया से दातव्य पदार्थ को सचित्त वस्तु पर रख दे सचित्त से ढक दे, काल अतिक्रमण कर दे, अपनी वस्तु को दूसरो की बता दे अथवा मेरे द्वारा प्रदत्त दान से मेरे माता पिता को पुण्य मिले अथवा मात्सर्य—अमुक व्यक्ति ने इस प्रकार का दान दिया है तो क्या मैं कृपण हू निर्धन हू जो नही दे सकता, ऐसी भावना से दान देना इस व्रत के अतिचार है। अतिचारो का वर्जन कर व्रतो की आराधना करने वाला व्यक्ति अपने व्रती जीवन से पूरा लाभान्वित हो सकता है।

आज की हमारी यह चर्चा काफी लम्बी हो गयी है। इसमे हम केवल व्रतो के स्वरूप बोध तक पहुच पाये है। समाज चेतना इन व्रतो से किस सीमा तक प्रभावित होती है, यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रश्न के अन्य बिन्दुओ की स्पष्ट प्रस्तुति और समाधान के लिए थोडी प्रतीक्षा करनी होगी।

अनैतिकता की धूप अणुव्रत की छतरी

प्रश्न—अणुव्रतो के स्वरूप विश्लेषण म आपकी विस्तत अभिव्यक्ति मे पिछले प्रश्न के कुछ बिन्दु अस्पष्ट ही रह गये। अगली चर्चा मे उन बिन्दुओं को उत्तरित करने का संकेत आपने दिया था। इसलिए आज मैं पुन उन्हीं बिन्दुओं को दोहरा रहा हू। प्रश्न का पहला बिन्दु है—अणुव्रतो पर आधारित जीवन जीने वाले व्यक्ति का जीवन नम कैसे बनता है? क्या वह समाज म रहता हुआ उन आदर्शों को पूर्ण रूप से जीवनगत कर सकता है? ऐसे जीवन मे उसे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव होता है? या आत्मतोष मिलता है?

उत्तर—भारतीय संस्कृति म व्रत शब्द बहुत गौरववाची शब्द है। व्रत मनुष्य को संताप से बचाता है। धूप से बचाव करने के लिए छत का जो उपयोग है, अनैतिक प्रवृत्तियो से बचने के लिए व्रत का भी वही उपयोग है। व्रती व्यक्ति का जीवन सहज, सन्तुलित और शान्त होना चाहिए। यदि व्रतो के साथ सहजता सन्तुलन और शान्ति नही आती है तो मानना चाहिए कि व्रतो को ऊपर से थोपा गया है, मानस की उनके प्रति सहज स्वीकृति नही है। थोपी हुई चीज वह निष्पत्ति नही ला सकती, जो सहज स्वीकृति स आती है। थोपना दो प्रकार से होता है—दूसरे के द्वारा और अपने द्वारा। अपने द्वारा थोपी हुई वृत्ति भी आन्तरिक रूपान्तरण नही ला सकती। वैसी स्थिति मे दूसरे व्यक्ति द्वारा आरोपित वृत्ति, चाहे वह कितनी ही शुभ क्यो न हो, स्थायी परिणाम नही ला सकती।

जो व्यक्ति समझपूर्वक व्रत स्वीकार करता है, वह उससे लाभान्वित भी होता है। व्रत का अर्थ है किसी काम को करने या न करने का मानसिक निर्णय। व्यवहार की भाषा मे इसको संकल्प भी कहा जा सकता है, किन्तु तत्त्वत संकल्प और व्रत मे अन्तर है। संकल्प भी मानसिक निर्णय है पर वह बुरा भी हो सकता है, जैसे किसी व्यक्ति ने किसी का अहित कर दिया। अहित का परिणाम भोगने वाला उससे द्वेष करने लगा। बदले की भावना से प्रेरित होकर उसने संकल्प कर लिया कि जब तक मैं अमुक व्यक्ति का बुरा नही कर दूगा निश्चित होकर नही बैठूगा। इस मानसिक निर्णय मे दूसरे का बुरा करने की भावना है। यह एक

प्रतिक्रिया है जो दूसरे व्यक्ति की क्रिया का परिणाम है।

संकल्प शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का हो सकता है, जबकि व्रत शुभ ही होता है। व्रती व्यक्ति के व्यवहार में नैतिकता स्वयं फलित होती है। जिस नैतिकता के साथ अध्यात्म का अनुबन्ध नहीं है, वहां वह अपने विशुद्ध स्वरूप को सुरक्षित नहीं रख सकती। अध्यात्मविहीन नैतिकता देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तित होती हुई मात्र सामयिक अपेक्षा बनकर रह जाती है।

व्रती व्यक्ति का जीवन कम-अधिक व्यवस्थित रह सकता है, किन्तु इस तथ्य को भी हम दो दृष्टियों से प्रतिपादित करना है। व्रतों की उच्चतम भूमिका पर आरोहण करना बहुत बड़ा आदर्श है। हर व्रती व्यक्ति का लक्ष्य आदर्श तक पहुंचना होता है, किन्तु वह व्यवहार को छोड़कर कोरे आदर्श की उड़ान नहीं भर सकता। वही आदर्श उपयोगी होता है जो व्यवहार्य हो सके। कुछ व्यक्ति आदर्श पर चल सकते हैं, पर हर व्यक्ति के लिए वैसा करना सम्भव नहीं होता इसलिए मध्यम मार्ग की बात ध्यान में रखी गयी है। अणुव्रतों को स्वीकार करने वाला व्यक्ति महाव्रतों की ऊंचाइयों और अव्रत की खाइयों के मध्य ठोस धरातल पर चलता हुआ सन्तुलित और संयत जीवन जी सकता है।

अब रहा प्रश्न कठिनाइयों और आत्मतोष का। कठिनाई व्यक्ति के लिए कसौटी है। कठिनाइयों के अभाव में प्रशस्त जीवन जीना और कठिनाइयों की उपस्थिति में अपने शुभ संकल्प पर अडिग नहीं रहना दुर्बल मनोवृत्ति का परिचायक है। दृढ मनोबली व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में घुटने नहीं टेकते। मैं ऐसे व्यक्तियों को जानता हूं जो उच्च राजकीय पदों पर काम करते हैं। वित्त-मन्त्रालय तक जिनके हाथों में रहा। वे चाहते तो एक-एक केस में लाखों रुपये पा सकते थे किन्तु उन्होंने एक पैसा भी हड़पने का प्रयास नहीं किया। कुछ लोग कह सकते हैं कि प्राप्त अवसर से लाभ न उठाना क्या बुद्धिमत्ता है? कोई कुछ भी सोचे ऐसी परिस्थिति में विचलित न होना, अर्थ के मामले में एकदम बेदाग जीवन जीना बहुत बड़े आत्मतोष का निमित्त बनता है। कठिन परिस्थितियों में आत्मतोष का अनुभव ही सच्चा अनुभव है। ऐसे व्यक्ति जिस समाज में होते हैं, वह समाज भी उनसे बहुत गौरवान्वित होता है।

प्रश्न—कठिनाइयों से विचलित न होना और उनमें आत्मतोष का अनुभव करना अच्छी बात है पर हर व्यक्ति में इतनी क्षमता नहीं होती। क्षमता के अभाव में किसी भी व्यक्ति की आस्था कठिन जीवन पर कैसे टिक सकती है? और उस आस्थाहीनता से समाज चेतना पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर—भारतीय ऋषि मुनियों ने जिस कठिन जीवन का मार्गदर्शन दिया है, वह एकान्ततः कठिन नहीं है। क्योंकि व्यक्ति की क्षमता के अनुसार उसमें अनेक स्तरों का निर्धारण है। यदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ही स्तर का

निर्धारण होता तब तो यह समस्या खड़ी हो सकती थी। किन्तु आचार शास्त्र के महान् प्रणेता भगवान् महावीर ने बताया—

बल थाम च पेहाए सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्त काल च विन्नाय तहप्पाण निजुजए॥

व्यक्ति अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर, क्षेत्र और काल को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार स्वय को धार्मिक प्रवृत्तियो मे नियोजित करे।

अपनी क्षमता के अनुसार स्वीकृत पथ मे भी वही व्यक्ति चल सकता है, जो आस्थाशील हो। आस्था का निर्माण दो प्रकार से होता है। कुछ व्यक्ति प्रवृत्ति का सुफल प्राप्त कर उसके प्रति आस्थावान बनते हैं और कुछ व्यक्ति फलाशसा से निरपेक्ष रहते हुए सत के प्रति आस्थाशील बन जाते हैं। हर व्यक्ति की आस्था को हम एक ही तुला पर तोल नही सकते, फिर भी यह तो निश्चित है कि आस्था बहुत बडा आश्वासन है। शुष्क तर्कवाद के अखाडे मे भी आस्था की विजय होती है। व्यक्ति की भीतरी तहो मे रमी हुई आस्था का ही परिणाम है कि व्यक्ति बुरा काम करके अनुताप करता है।

यूनान का सम्राट सिकन्दर सत डायोजनीज के सामने खडा था। सिकन्दर की आकुलता भरी आकृति पर दृष्टि टिकाते हुए डायोजनीज ने पूछा— सिकन्दर तुम क्या चाहते हो ?' सिकन्दर बोला—'मैं यूनान को जीतना चाहता हू।' 'यूनान विजय के बाद तुम क्या करोगे ?' यह डायोजनीज का दूसरा प्रश्न था। उसने उत्तर दिया—'मैं एशिया महाद्वीप पर अपना विजय ध्वज फहराना चाहता हू।' 'उसके बाद तुम्हारा कार्यक्रम क्या रहेगा ?' डायोजनीज के इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए सिकन्दर गर्व से बोला—'फिर मैं विश्व विजय का स्वप्न देखता हू।' 'तुम्हारा यह स्वप्न भी पूरा हो गया तो फिर तुम्हारे लिए क्या करणीय होगा ?' इस प्रश्न ने सिकन्दर को उदास कर दिया।

इस घटना से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि गलत काम करने के लिए समुद्भूत इच्छा यदि पूरी नही होती है तो वह व्यक्ति को व्यथित करती रहती है। किन्तु वही इच्छा पूरी होकर उसे अत्यन्त व्यथित कर देती है। इस व्यथा का अन्त तभी होता है जब व्यक्ति यश प्रतिष्ठा और सुख-सुविधाओ के कृत्रिम व्यामोह से ऊपर उठकर आत्म-केन्द्रित बनता है।

व्यक्तियो का समूह ही समाज है। जब व्यक्ति व्यक्ति की चेतना मे आचार विषयक शास्त्रीय और व्यावहारिक धारणाए स्थिर हो जाती हैं तो समाज चेतना भी उन मूल्यो को प्रतिष्ठा देने लगती है। समाज-सम्मत मूल्यो और मानको से व्यक्ति प्रभावित है तथा व्यक्ति के आचार और व्यवहार का प्रतिबिम्ब समाज

पर पडता है। इस दृष्टि से यह कहना उचित प्रतीत होता है, कि स्वस्थ समूह-चेतना का आधार व्रत है। जिन लोगो के मन मे स्वस्थ और उदात्त जीवन जीने की चाह है वे किसी भी मूल्य पर कठिनाइयो को झेलकर अपने व्रती जीवन की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखते हैं और विशेष प्रकार के आत्मतोष का अनुभव करते हैं।

श्रावक की आचार-संहिता

प्रश्न—भगवान् महावीर ने जिस व्रतमूलक आचार संहिता का निरूपण किया, उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस सन्दर्भ में कोई नयी धारणाएं प्रस्थापित की या वे उसी आचार-संहिता को आधार मानकर चलते रहे ?

उत्तर—सत्य अखंड और अविभाज्य होता है। देश काल की सीमाएं उसे विभाजित नहीं कर सकती। सत्य सदा त्रैकालिक होता है, इसलिए अतीत और अनागत के क्षण भी इसको खंडित नहीं कर सकते। भगवान् महावीर ने महाव्रत और अणुव्रत की जिन दो सरिताओं को प्रवाहित किया, वे आज भी अपनी गति से बह रही हैं। इन दोनों सरिताओं को उत्स बनाकर छोटी मोटी अनेक धाराओं ने भारत की अध्यात्म प्रधान धारा को सरसब्ज बनाया है। भगवान् महावीर ढाई हजार वर्ष से कुछ और पहले इसी भारत भूमि पर जन्मे थे। तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपने मन, वचन और कर्म को समग्र रूप से उत्कृष्टतम आचार की साधना में समर्पित कर दिया। साढ़े बारह साल तक उन्होंने ध्यान और तपयोग की विशेष साधना की। साधना काल में अनुकूल और प्रतिकूल परीषह तथा उपसर्गों को उन्होंने जिस असीम आत्मबल से सहन किया, इतिहास की एक विलक्षण घटना है। प्राणहारी वेदना को उन्होंने हंसते हंसते संवेदन किया। उस समय का मनुष्य जगत् विस्मय विमुग्ध होकर उस अनुत्तर योगी के अनुत्तर साम्य का निरीक्षण कर रहा था।

साधना का समय संपन्न हुआ। भगवान महावीर मोह की सघन शृंखला को तोड़कर आगे बढ़े और ज्ञान एवं दर्शन के आवरण टूट गये। बंधन और आवरणों से मुक्त होते ही वे निरन्तराय हो गये। समग्र विश्व के चेतन और अचेतन पदार्थ उन्हें हाथ की रेखा से भी अधिक स्पष्ट दिखायी देने लगे। अपने इसी कैवल्यज्ञान के आलोक में निमग्न होकर उन्होंने आचार शास्त्र का निरूपण किया जो 'चरण करणानुयोग' रूप में वर्गीकृत हुआ।

भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों ने आचार शास्त्र के बारे में जो कुछ कहा, उसका मूलभूत आधार कोई नया नहीं था। क्योंकि उत्तरवर्ती जिन

आचार्यों के ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध होते हैं, वे केवलज्ञानी नहीं थे। उनके तत्त्व-निरूपण का आधार भगवान् महावीर की वाणी ही था। इसलिए किसी भी आचार्य के निरूपण में कोई मौलिक भेद परिलक्षित नहीं होता। पर भिन्न भिन्न आचार्यों की प्ररूपणा शैली में अन्तर रहना अस्वाभाविक नहीं था। क्योंकि एक ही समय में एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही विषय पर निरूपित तथ्यों का संकलन करने वाले व्यक्ति उनको विविध रूपों में प्रस्तुति देते हैं। यह संकलनकर्ताओं की ग्रहण क्षमता और रुचि पर निर्भर है कि वे किस तथ्य को कितना महत्त्व देते हैं और किस तथ्य को गौण कर देते हैं।

जैन वाङ्मय में मुनि-जीवन की आचार-संहिता का मूलभूत आधार पांच महाव्रत रहा है। जैन मुनि दिगम्बर हैं या श्वेताम्बर, पांच महाव्रतों में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है। यद्यपि महाव्रतों की व्याख्या और चर्या पद्धति में विकल्प आए हैं, किन्तु मौलिक आधार एक ही है।

नागरिकों या गृहस्थों के लिए जैन वाङ्मय में जो आचार निरूपित है, उसका पालन करने वाले श्रावक कहलाते हैं। श्रावक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—श्रन्ति, वपन्ति, किरन्ति इति श्रावकाः। जो तत्त्वों के प्रति गहरी निष्ठा रखते हैं, सुपात्र क्षेत्र में दान देते हैं तथा कर्मरजों को अलग करते हैं, वे श्रावक हैं। कुछ विद्वानों के अभिमत से श्रावक वे होते हैं, जो सम्यक्त्वी और अणुव्रती होने पर भी प्रतिदिन मुनियों के पास साधु और गृहस्थ की समाचारी का श्रवण करते हैं।

श्रावक की आचार-संहिता का वर्णन मुख्यत दो रूपों में और कहीं तीन रूपों में उपलब्ध होता है। इनमें प्रथम प्रकार है ग्यारह प्रतिमाओं का। दूसरे प्रकार में बारह व्रतों की चर्चा है और तीसरे प्रकार में पक्ष चर्या और उसके साधना का प्रतिपादन है। इस विविधता में भी भगवान् महावीर द्वारा निरूपित तत्त्वों से कोई विलक्षण धारणा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न—भारतीय आचार विज्ञान के संदर्भ में व्रतों, प्रतिमाओं या ऐसे ही कुछ अन्य तथ्यों की चर्चा मूल विषय को एक सीमित परिधि में केंद्रित कर रही है। फिर भी जब प्रसंग चल ही पड़ा है तो मैं यह भी जानना चाहती हूं कि अभी आपने जो 'प्रतिमा' की बात कही, वे प्रतिमाएं क्या हैं? ग्यारह प्रतिमाओं की प्ररूपणा स्वयं भगवान् महावीर ने ही की थी या यह उत्तरवर्ती आचार्यों का चिंतन है? वर्तमान श्रावक समाज में क्या इनकी साधना के प्रयोग चल रहे हैं?

उत्तर—'प्रतिमा' जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इसका प्रयोग विशेष प्रकार के संकल्प की स्वीकृति से होता है। यह साधना की एक विशिष्ट पद्धति है जो साधु और श्रावक के लिए भिन्न भिन्न प्रकार से प्रतिपादित है। प्रतिमा शब्द का अर्थ है मूर्ति या प्रतिबिम्ब। किंतु प्रस्तुत संदर्भ में इस शब्द का आर्थिक

उत्तरोत्तर इसे साधना की उच्च भूमिका तक ले जाता है। मुनि के लिए बारह प्रतिमाओं का उल्लेख है जिनका संबंध तप-ध्यान के साथ है। श्रावक प्रतिमा ग्यारह हैं। इनके प्रस्तोता स्वयं भगवान् महावीर हैं। भगवान् महावीर के समय में उनके विशिष्ट श्रावक प्रतिमा स्वीकार करते हैं, यह तथ्य 'उपासकदशा' में विवर्णित श्रावकों की कथा से स्पष्ट है। दशाश्रुतस्कंध में प्रतिमाओं का सांगोपांग विवेचन उपलब्ध है। आचार्य भद्रबाहु की नियुक्तियों में भी यत्र-तत्र इनकी चर्चा है।

श्रावक प्रतिमा का उद्देश्य है गृहस्थ जीवन में रहते हुए साधना की उच्च भूमिकाओं पर आरोहण करना। इनमें कुछ प्रतिमाओं का संबंध विचारधारा तक सीमित है। कुछ प्रतिमाओं में तपस्या, स्वाध्याय तथा अन्य नियम स्वीकृत किये जाते हैं। आगे चलकर वेशभूषा और संपूर्ण चर्या भी इनसे जुड़ जाती है। भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी प्रतिमाओं की आचार-संहिता का विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण का मूल आधार एक ही है, फिर भी शब्द संरचना और प्रतिपादन-पद्धति में अन्तर परिलक्षित होता है। किंतु भावबोध के स्तर पर क्रम-परिवर्तन जैसी कोई प्रतीति नहीं होती।

श्रावक प्रतिमाओं के प्रयोग का क्रम वर्तमान में भी प्रचलित है। इनमें कुछ प्रतिमाएं तो ऐसी हैं, जो श्रावक के लिए हर समय लागू रहती हैं। कुछ प्रतिमाएं सीमित समय के लिए स्वीकृत की जाती हैं और कुछ बार-बार पुनरावृत्त की जाती हैं। प्रतिमाधारी श्रावक का समाज में विशेष स्थान होता है। अंतिम प्रतिमा में उसका जीवन कई अंशों तक साधुत्व की साधना के समकक्ष हो जाता है। कुछ व्यक्ति इन प्रतिमाओं को जीवन भर के लिए स्वीकार करते हैं और कुछ निर्धारित अवधि तक इनका प्रयोग कर छोड़ देते हैं।

प्रश्न—इन ग्यारह प्रतिमाओं के नाम क्या हैं? और उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर—जैन वाङ्मय में प्रतिमाओं की विस्तृत व्याख्या उपलब्ध है। मैं यहां उनके नाम और स्वरूप की संक्षिप्त जानकारी दे रहा हूं—

१ दर्शन प्रतिमा

स्वरूप—धर्म में गहरी आस्था रखना, धार्मिक तत्त्वों की यथार्थ अवगति और तदनुरूप श्रद्धा तथा श्रद्धा के विघटक दोषों का वर्जन करना।

२ व्रत प्रतिमा

स्वरूप—पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत धारण करना, पौषध, उपवास आदि

क्रियाएं करना ।

३ सामायिक प्रतिमा

स्वरूप—समता का अभ्यास करना, यथाशक्ति व्रत स्वीकार करना ।

४ पौषध प्रतिमा

स्वरूप—अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा—इन चार तिथियों को उपवासपूर्वक धर्माराधना करना ।

५ कायोत्सर्ग प्रतिमा

स्वरूप—कायोत्सर्ग का अभ्यास करना, रात्रि भोजन आदि का परित्याग करना तथा अब्रह्मचर्य को सीमित करना ।

६ ब्रह्मचर्य प्रतिमा

स्वरूप—अब्रह्मचर्य का सर्वथा परिहार करना ।

७ सचित्त प्रतिमा

स्वरूप—सचित्त भोजन पानी का सर्वथा त्याग करना ।

८ आरम्भ वर्जक प्रतिमा

स्वरूप—अपनी ओर से किसी हिंसात्मक प्रवृत्ति मे सक्रिय न होना ।

९ प्रेष्य-प्रतिमा

स्वरूप—अपने कर्मकरो को भी हिंसात्मक प्रवृत्ति म प्रेरित न करना ।

१० उद्दिष्ट वर्जक प्रतिमा

स्वरूप उद्दिष्ट—अमुक अमुक के लिए निष्पन्न भोजन का परित्याग करना,

केशों का मुंडन करवाना या जटा धारण करना। घर संबंधी प्रश्न के उत्तर में 'मैं जानता हूं या नहीं जानता' इन दो वाक्यों से अधिक नहीं बोलना।

११ श्रमणभूत प्रतिमा

स्वरूप—साधु की तरह आचार का पालन करना साधु जैसे ही भंड, उपकरण, वस्त्र आदि धारण करना, केशों का मुंडन करवाना या केश लुंचन करना, भिक्षा के लिए केवल ज्ञातिजनों में ही जाना।

उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाओं में समय की दृष्टि से प्रतिमा का समय एक मास है तथा उत्तरोत्तर हर प्रतिमा में एक एक मास की वृद्धि होती है। इस प्रकार ग्यारवीं प्रतिमा का समय ग्यारह मास होता है। अगली प्रतिमाओं में पूर्व गृहीत प्रतिमाओं के संकल्प यथावत् चालू रहते हैं। पूरी प्रतिमाओं में पांच वर्ष छह मास का समय लगता है। प्रतिमा का यह प्रयोग स्वीकार करने वाला ग्यारहवीं प्रतिमा तक आगे बढ़े ही, यह कोई अनिवार्यता नहीं है। प्रतिमाधारियों के वर्गीकरण में प्राचीन आचार्यों ने जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के रूप में तीन वर्गीकरण किये हैं। प्रथम छह प्रतिमाधारी गृहस्थ साधक या प्रतिमा की न्यूनतम साधना करने वाले कहलाते हैं। सातवीं, आठवीं और नवीं प्रतिमा का प्रयोग करने वालों को ब्रह्मचारी साधक या मध्यम साधना करने वाले कहा गया है तथा दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा का प्रयोग करने वाले भिक्षुक साधक या उत्कृष्ट साधना करने वाले श्रावक बताये गये हैं।

प्रतिमा प्रयोग की यह बात जैन आचार शास्त्र की देन है, अतः आचार विज्ञान के स्थूल परिप्रेक्ष्य में इसका अवबोध कम लोगों को हो सकता है। किंतु गहराई से इसका अध्ययन किया जाये तो मानना होगा कि भारतीय आचार विज्ञान की यह एक विशिष्ट परंपरा है।

भारतीय आचार-विज्ञान के मूल आधार

प्रश्न—पाश्चात्य दार्शनिकों ने पश्चिमीय आचार विज्ञान सम्बन्धी जो विश्लेषण किया है उसमें शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, मनोरंजनात्मक, सौन्दर्यात्मक, धार्मिक और चारित्रिक सभी प्रकार के मूल्यों का समावेश है। भारतीय आचार विज्ञान का मूलभूत आधार क्या है? इसमें किन मूल्यों को प्राथमिकता दी गयी है?

उत्तर—पाश्चात्य दर्शन ने सौन्दर्य, तर्क और चरित्र को स्वतन्त्र मूल्य दिया है, इसलिए उक्त सभी मूल्य वहां स्वतन्त्र रूप से विकसित हो सके। इस विकास-श्रृंखला में आचार विज्ञान को एक समीचीन प्रस्तुति नहीं मिल सकी। पश्चिम की मूल्य विषयक धारणाओं का आधार पूर्ण रूप से आध्यात्मिक नहीं है। जब तक अध्यात्म का स्वतन्त्र मूल्य स्वीकृत नहीं होता, तब तक सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में द्वन्द्वों का निवारण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से भारतीय दार्शनिक प्रारम्भ से ही जागरूक रहे हैं। उन्होंने अध्यात्म को स्वतन्त्र मूल्य दिया तथा जीवन के आन्तरिक पक्ष को प्रशस्त बनाने के लिए उस पर विशेष बल दिया।

मेरे अभिमत से भारतीय आचार का केन्द्र बिन्दु है 'प्रामाणिकता'। जिस प्रवृत्ति में व्यक्ति की प्रामाणिकता सुरक्षित रहती है, वह किसी भी क्षेत्र से अनुबंधित हो, व्यक्ति को उस सीमा तक नैतिक रख सकती है। नैतिकता का आन्दोलन साधु समाज के लिए उतनी तीव्रता से कभी नहीं चला जितना गृहस्थ-समाज के लिए चला। क्योंकि गृहस्थ जीवन के सम्पर्क-सूत्र ऐसे हैं, जिनसे व्यक्ति अप्रामाणिकता की ओर सहज गति कर सकता है। उन सम्पर्कों के बीच रहते हुए भी गृहस्थ स्वयं को प्रामाणिकता की ओर अग्रसर रख सके, इस दृष्टि से बहुमुखी प्रयास हुआ है।

साधुओं का जीवन गृहस्थ जीवन के अन्य सम्पर्कों से मुक्त है, फिर भी मानसिक पवित्रता की दृष्टि से उनकी आचार-संहिता में ऐसे तथ्यों का समावेश है, जिनसे वे प्रामाणिकता के उच्चतम शिखर पर पहुंच सकें। उदाहरण के

लिए—साधु एक कैंची मांगकर लाता है और लाते समय यह कहता है कि मुझे नाखून काटने के लिए कैंची की अपेक्षा है इस प्रकार निश्चित कार्य के लिए लायी हुई कैंची से वह कपड़ा नहीं काट सकता। यदि वह उस कैंची से कपड़ा काटता है तो प्रामाणिकता का नियम टूटता है। वर्तमान में कैंची साधु के अधिकार में है वह उसे दिनभर अपने पास रख सकता है पर नाखून काटने के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपयोग में उसको नहीं ले सकता। इसी प्रकार दो दिन के लिए ली हुई पुस्तक को पुनः स्वीकृति के बिना चार दिन नहीं रखा जा सकता।

उपर्युक्त पद्धति प्रामाणिकता की व्यावहारिक कसौटी है। इससे प्रामाणिक रहने वाले व्यक्ति की चर्या तो प्रशस्त होती ही है, उसके परिसर में रहने वाले लोगों को भी प्रेरणा मिलती है।

हिन्दुस्तान में राजाओं के युग का घटना प्रसंग है। एक राजा का मंत्री जैन श्रावक था। वह राज्य व्यवस्था में मुख्य अधिकारी होने पर भी अत्यन्त सादा जीवन जीता था। वह विलासिता से जितना दूर था, अहंकार से भी उतना ही दूर था। कर्तव्य बुद्धि की प्रेरणा से राजकीय व्यवस्थाओं का संचालन करता और जितना अवकाश मिलता, उसमें धर्माराधना के उपक्रमों में संलग्न रहता।

किसी समय राज्य का एक विशेष व्यक्ति व्यक्तिगत परामर्श लेने के लिए उसके पास गया। उसने कुछ समय तक बात करने की इच्छा व्यक्त की। मंत्री ने उस दीये को बुझा दिया जिसके प्रकाश में वह लेखन-कार्य कर रहा था और एक दूसरा दीया जला दिया। आगन्तुक को यह काम रहस्यमय लगा। उसने उत्सुकता भरी निगाहों से मंत्री की ओर देखकर दीया बुझाने और जलाने के सम्बन्ध में जिज्ञासा की।

मंत्री बोला—इस समय मैं राजकीय कार्य में लगा हुआ था, अतः सरकारी व्यय से जलने वाले दीपक का उपयोग कर रहा था। किन्तु अब हम व्यक्तिगत काम के लिए बैठे हैं अतः मेरे निजी खर्च में आए हुए तेल का उपयोग कर रहा हूं।

मंत्री की इस बात ने आगन्तुक को विस्मय विमुग्ध कर दिया। उसने कहा—मेरी आज तक यह धारणा थी कि सरकारी व्यक्ति राजकीय कार्यों की ओट में अपना घर भरते हैं, रिश्वत लेते हैं और अपने दायित्व के प्रति पूरे सजग नहीं रहते। इस धारणा के विपरीत आज मुझे आपके निकट संपर्क ने अभिभूत कर दिया है। नैतिक मूल्यों की इतनी ऊंचाई तक आप पहुंचे हुए हैं, यह हमारे लिए सुखद आश्चर्य का विषय है। काश! सभी राजकीय अधिकारी और कर्मचारी इस आदर्श को सामने रखकर चल पाते।

एक मंत्री की प्रामाणिकता का यह उदाहरण अपने आप में बेजोड़ है। एक दूसरी घटना का उल्लेख करता हूं, जो अप्रामाणिकता के क्षेत्र में विशेष घटना हो

सकती है।

एक बहुत बड़ी व्यावसायिक कंपनी में कार्यरत एक युवक ने अपने पिता को देहात से अपने पास बुलाया। वह किसी बड़े शहर में रहता था। पिता पुत्र के पास पहुंचा। उसने देखा—दो तीन कमरों का एक छोटा सा फ्लैट उसके पुत्र के अधिकार में है। यह देखकर उसे दुःख हुआ कि प्रत्येक कमरे में बिजली जल रही है और पंखा चल रहा है। उसने उपालम्भ के लहजे में कहा—बेटा! बिना मतलब पंखों और लाइटों का खर्च? क्या कमाई इसलिए करते हो? पुत्र ने पिता को आश्वस्त करते हुए बताया—पिताजी! आप चिंता न करें, यह खर्च कंपनी का लगता है। पिता का मन शान्त हुआ। अब वह स्वयं दिन रात हर क्षण पंखे के नीचे रहने लगा।

कुछ समय बाद युवक के पिता अस्वस्थ हो गये। युवक पिता के पास जाकर बोला—पिताजी! आप घबराइए मत। मैं यहां के सबसे बड़े डॉक्टर को बुलाकर लाता हूं। वह आपकी जांच अच्छी प्रकार कर सकेगा। बड़े डॉक्टर का नाम सुनते ही पिता के चेहरे पर चिंता की झलक प्रतिबिम्बित हो गयी। बड़े डाक्टर को कितनी फीस चुकानी होगी? इस प्रश्न ने पिता को उद्वेलित कर दिया। किन्तु पुत्र ने उद्वेलन को शान्त करने के लिए कहा—पिताजी! डॉक्टर और दवा का खर्च भी हमारी कंपनी वहन करती है।

यह बात सुनकर पिता ने अपनी बीमारी को और अधिक गंभीर बना दिया। अब क्या था? डॉक्टर पर डाक्टर और दवा पर दवा। घर का पैसा लगता तो एक दिन भी दवा लेना संभव नहीं था। पर इलाज हो रहा था कंपनी के खर्च पर इसलिए उसमें संकोच करने की कोई अपेक्षा नहीं थी।

जिस समाज में अप्रामाणिकता के ऐसे संस्कार जमे हुए हैं और ऐसे संस्कारों को सामाजिक मूल्य मिलता है, वह समाज कभी अध्यात्म की ऊंचाई का स्पर्श नहीं कर सकता। भारतीय आचार विज्ञान का मूल आधार प्रामाणिकता है।

प्रश्न—आचार विज्ञान के संदर्भ में आपने मूल्यों की चर्चा की। ये मूल्य स्वतः स्थापित होते हैं? किसी व्यक्ति विशेष के प्रयत्न से समाज में आते हैं, या समूह चेतना को प्रभावित कर स्थिर हो जाते हैं?

उत्तर—कोई भी मूल्य स्वतः स्थापित नहीं होता, क्योंकि मूल्य का अर्थ है मान्यता। किसी समाज में किस परम्परा या सिद्धान्त को मान्यता मिलती है, यह व्यक्तिगत प्रयत्नों पर भी निर्भर करता है और सामूहिक धारणाओं पर भी। *सामाजिक मूल्यों और मानकों का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है और व्यक्ति के* चिंतन एवं धारणाओं के आधार पर मूल्य और मानकों में परिवर्तन होता है तथा नये मूल्य स्थापित भी होते हैं।

मूलतः मूल्यों को मैं दो वर्गों में विभाजित करता हूं—आत्मलक्षी मूल्य और

बहिर्लक्षी मूल्य। इन्हें स्वलक्ष्य मूल्य और निमित्त मूल्य भी कहा जाता है। स्वलक्ष्य मूल्य आत्माश्रित होते हैं। नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की पृष्ठभूमि में ये ही मूल्य काम करते हैं। निमित्त मूल्य शरीर सापेक्ष या परिस्थिति-सापेक्ष हैं। एक व्यक्ति के लिए रोटी का मूल्य है, रोटी के सन्दर्भ में परिश्रम का भी मूल्य है। पर ये मूल्य भौतिक हैं। आत्मलक्षी व्यक्ति इन मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। किन्तु वह उन्हें उतना ही स्थान देता है, जितना निमित्त कारण को मिलना चाहिए।

आचार का मूल्य शाश्वत है। आचार शास्त्र की मौलिक आस्थाओं में किसी भी काल में विप्रतिपत्ति नहीं आ सकती। वैसे हर समाज और राष्ट्र की आचार संहिता स्वतन्त्र होती है। स्वतन्त्र होने पर भी त्रैकालिकता को छोड़ा नहीं जा सकता। ऐसी मौलिक आस्थाएं ही नैतिक मूल्यों के रूप में उभरकर समाज के सामने आती हैं। सभी विचारशील व्यक्ति इन मूल्यों को समान रूप से अपनी स्वीकृति देते हैं, फलतः समूह चेतना उन मूल्यों से प्रभावित होती है। इसलिए मूल्य-स्थापना के सम्बन्ध में किसी परिस्थिति या व्यक्ति विशेष को ही आधार नहीं माना जा सकता।

सुखवाद और नैतिकता

प्रश्न—आचार विज्ञान का इतिहास मानव समाज के सभ्य होने के इतिहास से सपक्त है। मानवीय सभ्यता का उदय तब हुआ जब मनुष्य की चेतना जागृत हुई और उसमें विचारशीलता का उत्कर्ष हुआ। कुछ दार्शनिक यह मानते हैं कि आचार विचार का व्यवस्थित रूप मिलने से पहले ही मानवीय व्यवहारों का नैतिक मूल्यांकन होने लगा था। नैतिक मूल्यों के संदर्भ में पाश्चात्य दार्शनिक 'ह्रैमोक्राइट' बथम, जान स्टुअर्ट मिल, सिजविक आदि का यह मन्तव्य रहा है कि आचार का आधार तृप्ति और सुख है। इसी मन्तव्य के आधार पर उन्होंने मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद जैसे सिद्धान्तों का स्थापित किया। क्या भारतीय विचारधारा में अनुसार उक्त मन्तव्य ग्राह्य हो सकता है? इस सम्बन्ध में आपका अपना अभिमत क्या है?

उत्तर—आचार या नैतिकता का आधार क्या है? इस प्रश्न पर आज तक विभिन्न प्रकार से विचार प्रस्तुत होते रहे हैं। सुखवाद की यह धारणा हजारों वर्ष प्राचीन है। कुछ दार्शनिकों ने चार्वाक दर्शन को भी भारतीय दर्शनों में मान्यता दी है। जो दर्शन आत्मा, कर्म, ईश्वर, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म आदि आत्मवादी मान्यताओं का अपनी अस्वीकृति देता रहा और वर्तमान जीवन की सुख-सुविधाओं को ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य मानता रहा उसके परिवेश में सुखवाद का पल्लवन हुआ। 'यावज्जीवेत सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'—जब तक जीना है सुख से जीओ और ऋण लेकर भी घी पीओ। इस दृष्टिकोण को पाश्चात्य दर्शनों ने भी स्वीकार कर लिया और वे अपने ढंग से सुखवाद का प्रतिपादन करने लगे।

जो कर्म या विचार व्यक्ति को सुख न दे सके, जिसके द्वारा मनुष्य को कष्ट या दुःख की अनुभूति हो वह नैतिक कैसे हो सकता है? यह चिन्तन स्वाभाविक जैसा है। भारतीय आचार का उद्देश्य है मोक्ष। मोक्ष का लक्ष्य है—सब दुःखों से मुक्ति। दुःख मुक्ति के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति अपने पुरुषार्थ का परिपाक दुःख रूप में पाता रहे, वह उसे अभीष्ट कैसे हो सकता है? जो अभीष्ट नहीं है, वह सुखद नहीं है। यदि वह सुखद होता तो उसके प्रति मनुष्य की सहज अभीप्सा

रहती। जो कम सुखद नहीं है, काम्य नहीं है वह क्षम या नैतिक कम हो सकता है? यह एक विचार है।

दूसरी विचारधारा के अनुसार यदि हम सुख या तप्ति को नतिकता का आधार मान लेंगे तो अवक्तव्य जसा कुछ रहेगा ही नहीं। क्योंकि सुखानुभूति के साथ नैतिकता का अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है। एक कम किसी व्यक्ति को सुखद होता है और वही दूसरे के लिए दुखद बन जाता है। जिस प्रवत्ति से आज सुख की अनुभूति होती है वही कालान्तर में दुखानुभूति में निमित्त बन सकती है। किसी देश में कोई काय आह्लादकारक होता है वही दूसरे देश में पीडा का साधक बन सकता है। इसलिए सुखानुभूति के साथ सावकालिक या सावभौमिक कोई अनुबन्ध नहीं है जो उसे नितान्त वाछनीय या नैतिक मूल्य माना जा सके।

प्रामाणिक व्यवहार आत्मबोध का हेतु है पर हो सकता है किसी व्यक्ति को अप्रामाणिक व्यवहार में सुख मिले। रिश्वत लेना किसी को धोखा देना, चोरी करना आदि कम नैतिक नहीं हैं, किन्तु जो व्यक्ति ऐसा करते हैं, उन्हें ऐसा करने में ही तप्ति का अनुभव होता है। एक चोर चोरी करने के लिए घर से निकलता है और वह किसी कारण से चोरी नहीं कर पाता है तो उसकी बचैनी बढ जाती है। उसके लिए वह रात व्यतीत होनी कठिन हो जाती है।

जिस प्रकार अपने इष्ट का ध्यान या जप करने वाला व्यक्ति जब तक वह कम पूरा नहीं कर लेता है सुख से सो नहीं सकता इसी प्रकार एक दुव्यसनी व्यक्ति जब तक अपने व्यसनों का पोषण नहीं देता है शान्ति से नहीं बठ सकता। चोर के लिए चोरी सुख का साधन है। शराबी व्यक्ति का सुख शराब में निहित है। जुआरी का सुखद ससार जुआ है। इस प्रकार जो व्यक्ति जिस प्रवृत्ति से पराधीन हो जाता है उसे उसी में सुखानुभूति होती है।

उक्त सन्दर्भों में यदि हम तृप्ति या सुख को नतिकता का आधार मानेंगे तो फिर नैतिकता को परिभाषित करना जरूरी नहीं है। क्योंकि जिसके लिए जो सुखद होगा उसके लिए वही कम नैतिक बन जायेगा। ऐसी नैतिकता किसी भी विचारशील व्यक्ति को मान्य नहीं हो सकती जो हिंसा, चोरी जस अनतिक कर्मों को प्रोत्साहन देती है।

यदि सुखवाद को ही नैतिकता का आधार मानना हो तो उसे इन शब्दों में कहा जा सकता है कि वीतराग की तप्ति या सुख नतिकता है। वीतराग और द्वेष की शृंखला को सदा सदा के लिए तोडकर अनैतिक प्रवत्ति का द्वार आवत्त कर लेते हैं। उनकी अनुभूति उनके जीवन में कभी विरोधाभास उपस्थित नहीं करती। इस दष्टि से सामान्य सुख या तप्ति का स्थान वीतराग के सुख को दिया जा सकता है।

अपने अभिमत की प्रस्तुति मैं करूं तो नतिकता का आधार बन सकता है—

समता, समतानिष्ठ करुणा और प्रामाणिकता। दूसरे व्यक्ति का अनिष्ट करने की भावना का अभाव अपने स्वार्थों की पृष्ठभूमि मे पनपने वाले क्रूरतामूलक मनोभावो का अभाव और हर व्यक्ति के प्रति समत्वपूर्ण दृष्टिकोण का निर्माण ही नैतिक मूल्यो को पल्लवित करने के लिए ठोस धरातल बन सकता है।

नतिकता पर सापेक्ष है। इसलिए वह एक व्यवहार है। नैतिक व्यक्ति प्रामाणिक व्यवहार करता है तो उसे तप्ति और सुख की अनुभूति हो सकती है। अनैतिक या अप्रामाणिक व्यवहार से वह दु खी होता है। इसलिए निष्कष यह निकलता है कि समता या प्रामाणिकता नतिकता का आधार है तथा तृप्ति और सुख उसकी परिणति है।

प्रश्न—पाश्चात्य दार्शनिक बथम नतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित मानता है। वह व्यक्तिगत सुखवाद की अपेक्षा सामूहिक सुखवाद को महत्त्व देता है। उसकी दृष्टि मे नतिकता वह कला है जो अधिक-से-अधिक व्यक्तियो को अधिक से अधिक सुखोपलब्धि का निर्देश देती है। इस अभिमत के साथ आपकी सहमति कहा तक है?

उत्तर—अधिक व्यक्तियो का हित सम्पादन करने के लिए कम व्यक्तियो के हितो की उपेक्षा का सिद्धान्त तक विद्या या गणित के क्षेत्र मे मान्य हो सकता है किन्तु धम और नैतिकता मे दष्टि स इन्हें अतिरिक्त महत्त्व नही दिया जा सकता। धम अन्तरात्मा की वस्तु है इसलिए वह तर्कातीत और सख्यातीत है। यहा व्यावहारिक तराजू काम नही आ सकता। व्यावहारिक तराजू का पलडा अधिक सख्या से भारी हो सकता है, पर धम का पलडा सख्या बहुलता से नही झुकता। धार्मिक दृष्टि से यह प्रश्न सख्यापरक न होकर कम की प्रकृतिपरक होना चाहिए। अधिक व्यक्तियो को सुख उपलब्ध कराने की बात मोहक अवश्य है, पर उपलब्धि से साधनो को नजरअन्दाज कर निणय लेना भ्रामक हो जाता है। सख्यावाद के प्रश्न पर गाधीजी कहा करते थे कि बहुमत की बात नास्तिकता की बात है। राजनीति के क्षेत्र मे यह चल सकती है क्योकि वहा इसके अतिरिक्त दूसरे मानदड अभी उपलब्ध नही हैं। किन्तु धम के क्षेत्र म इन व्यावहारिक सीमाओ से ऊपर उठकर चिन्तन होता है।

बैथम के अनुसार मनुष्य उसी कम की इच्छा करता है, जो सुखद होता है। किन्तु गहराई से सोचा जाए तो ज्ञात होता है अनेक दु खद परिस्थितिया भी आदत बनने के बाद सुखद लगने लगती हैं। इसलिए सुख या तृप्ति को धम या नतिकता के साथ जोडने से तथा अनेक व्यक्तियो को सुखोपलब्धि कराने के पीछे व्यक्ति के कम की प्रेरणा और उसकी परिणति पर ध्यान देना जरूरी है। मेरे अभिमत से नतिकता उस कला का नाम है जो हर व्यक्ति को प्रामाणिक जीवन जीने की दिशा दिखलाती है।

राजनीति और राष्ट्रीय चरित्र

प्रश्न—आचार का सम्बन्ध व्यक्ति की आंतरिक वृत्तियों और पारिपार्श्विक परिस्थितियों से है। आपकी दृष्टि से राजनीतिक परिस्थितियों का भी उस पर कोई प्रभाव पड़ता है?

उत्तर—*यह सच है कि आचार व्यक्तिगत विचार और प्रवृत्ति से सम्बन्धित है।* व्यक्ति की संकल्प शक्ति प्रबल हो तो वह कठोर से कठोर आचार का सहज भाव से पालन कर लेता है। दुर्बल इच्छा शक्ति वाले व्यक्ति चलते-चलते स्खलित हो जाते हैं और आचार के प्रशस्त राजमार्ग को छोड़कर इधर-उधर भटक जाते हैं। आचार सम्बन्धी वैयक्तिकता होने पर भी सामाजिक व्यक्ति समाज के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली दो बातें हैं—सत्ता और सम्पदा। ये दोनों ही जिस प्रकार सामाजिक जीवन को प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार धर्म और नैतिकता पर भी अपना प्रभाव डालती हैं। आचार के ह्रास और विकास में भी राजनैतिक स्थितियों का प्रभाव रहता है। जिस देश का राजनैतिक वातावरण स्वस्थ होता है वहां नैतिक मूल्यों को विकसित होने का अवसर सहज उपलब्ध होता है। जिस देश की नैतिक चेतना स्वस्थ है वहां राजनैतिक वातावरण को शुद्ध रहने का मौका मिलता है। नैतिक मूल्यों और राजनैतिक परिस्थितियों के वलय योग से लोकजीवन उन्नत होता है। यह वैसा ही वलय है जैसा वलय संवित्ति और विषय वितृष्णा का है। यथा—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा-तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि ॥१॥
यथा-यथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि ।
तथा-तथा न समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥२॥

जैसे-जैसे ज्ञान चेतना में उत्तम तत्त्वों का समागम होता है वैसे-वैसे सुलभ विषय भी अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। जैसे-जैसे सुलभ विषय अरुचिकर अनुभूत होते हैं वैसे-वैसे ज्ञान चेतना में उत्तम तत्त्वों का अवतरण होता रहता है।

तत्त्व ज्ञान और विषयों के प्रति वितृष्णा—ये दोनों परस्पर एक-दूसरे की

स्थिति को पोषण देने वाले हैं, उसी प्रकार राजनैतिक परिस्थितियां और व्यक्ति की आचार निष्ठा परस्पर एक दूसरे को बल दे सकते हैं। राजनीति का मुख्य आकर्षण है सत्ता। सत्ता के साथ पनपने वाले स्वार्थ, क्रूरता, छीनाझपटी, शोषण, प्रवचना आदि ऐसी स्थितियां हैं जो नैतिक चिन्तन को विकृत करती हैं। जिस देश में सत्ता और सम्पदा की शक्ति पर धर्म का नियन्त्रण है, उस देश में नैतिक मूल्यों को व्यापक रूप में विकसित होने का अवकाश मिलता है। नैतिक मूल्यों से देश का गौरव बढ़ता है और जन जीवन आतंक मुक्त रहता है। उक्त सभी स्थितियों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि किसी भी राष्ट्र की आचार-परम्परा उसके राजनैतिक प्रभाव से सर्वथा दूर नहीं रह सकती।

प्रश्न—भारतवर्ष की राजनीति में अनेक उतार चढ़ाव आते रहे हैं। सैकड़ों वर्षों तक भारत पराधीन रहा। यहां बाहरी आक्रमणों का सिलसिला भी लम्बे समय तक चलता रहा। विदेशी आक्रमण और शासन से भारत राष्ट्र के मूलभूत आचार में ह्रास या परिवर्तन जैसा कुछ हुआ या उसकी शृंखला अविच्छिन्न चलती आ रही है?

उत्तर—कोई भी विकासशील या विकसित राष्ट्र पराधीनता के शिकंजे में बन्दी रहना नहीं चाहता। इसका अन्यान्य कारणों के साथ सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि स्वतन्त्र राष्ट्र अपने स्वतन्त्र चिंतन से नैतिक मूल्यों को जिस रूप में विकसित कर सकता है वह परतन्त्रता में सम्भव नहीं है।

हर राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता और राष्ट्रीय एकता को अखंडित देखना चाहता है। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब आक्रामक मनोभाव और दूसरे राष्ट्र पर शासन करने की अभीप्सा को दूसरा मोड़ दिया जा सके।

भारत पर जो कुछ घटित हुआ, उसका साक्षी इतिहास है। इतिहास के आलोक में भारत की सांस्कृतिक और धार्मिक चेतना का अध्ययन किया जाये तो विदेशी दासता से पूर्व और वर्तमान की स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर परिलक्षित होता है। प्राचीन भारत की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में विदेशी यात्रियों ने जो कुछ लिखा है, वह कितना सुखद और गौरवमय है?

आक्रमण प्रत्याक्रमण की लम्बी शृंखला ने भारत को जर्जरित कर दिया और उसके बाद विदेशी दासता ने लोक-चेतना को दबाने का भरसक प्रयत्न किया। फलस्वरूप नैतिक मूल्यों में खोखलापन आता गया। कुछ भारतीय लोग भी इस स्थिति के लिए उत्तरदायी बन सकते हैं पर उनके सामने वैसी स्थिति का निर्माण पराधीनता के कारण ही हुआ, ऐसा माना जा सकता है।

प्रश्न—किसी राष्ट्र पर विदेशी शासन थोपने वाले या आक्रमण करने वाले राष्ट्र क्या यह अनुभव नहीं करते कि इस वृत्ति से राष्ट्रीय चरित्र का ह्रास

होता है ?

उत्तर—राष्ट्रीय चरित्र ही नही, राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो पर भी आक्रमण और विदेशी शासन का बुरा प्रभाव होता है। महगाई बेरोजगारी आदि बाते सामान्य जन जीवन को सत्रस्त कर देती हैं। इस तथ्य को हर चिन्तनशील व्यक्ति समझता है पर स्वार्थलिप्सा और सत्ता विस्तार का व्यामोह ऐसी वृत्तियो को निमित्त कर देते हैं।

किसी भी राष्ट्र म रहने वाले लोगो को भरपेट रोटी, समुचित वस्त्र, मकान, शिक्षा और चिकित्सा की अपेक्षाएं रहती ही हैं। आर्थिक असतुलन के कारण उक्त अपेक्षाओ की पूर्ति नही होती तब व्यक्ति अपने उन्नत चरित्र की बात को गौण कर अकरणीय कर्मों म प्रवृत्त हो जाता है। कुछ लोगो को गलत काम करने की हाबी भी होती है। उससे भी चरित्र के अपक्षय की दिशाए खुलती हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो अपनी समस्याओ के सन्दर्भ म चरित्र की बात को आगे रखते है, किन्तु उनकी दूषित वृत्तियो से राष्ट्रीय चरित्र पर जो प्रतिकूल प्रभाव होता है, उसकी उन्हे चिन्ता नही होती।

भारत का आचार मूलक दृष्टिकोण जन जीवन म उतनी व्यापकता स आज व्यवहार्य नही है जितना अपेक्षित है। यही कारण है जो भारत दूसरे देशो के लिए चरित्र प्रशिक्षण और आदर्श रूप स सम्मान्य था, उसका वह रूप आज चिंतनीय है। वह युग भारत क इतिहास का स्वर्णिम युग था जब यहा से आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यो का निर्यात होता था। आज भारतीय अधिकारी भारत की प्रतिभाओं के पलायन स चिन्तित है किन्तु आध्यात्मिक मूल्यो के ह्रास की स्थिति उसस भी अधिक चिन्ता का विषय है। भारतीय आचार का पुनर्मूल्याकन कर राष्ट्रीय चेतना के अभ्युदय म उसे यागभूत बनाया जाये तो आक्रमणो और विदेशी दासता के समय हुए ह्रास की क्षतिपूर्ति की जा सकती है।

नैतिक मूल्य : कितने शाश्वत कितने सामयिक

प्रश्न—हर देश में उसकी आचार परम्परा निश्चित होती है। प्रचारक और उपदेशक व्यक्ति उस परम्परागत आचार संहिता को आधार मानकर काम करते हैं। ऐसी स्थिति में क्या मानव जीवन में आचार विषयक रूढ़ता नहीं आ जायेगी? स्वतन्त्र विचार चिन्तन में किसी प्रकार का अवरोध नहीं आयगा तथा स्वाभाविक जीवन पर कोई दुष्प्रभाव तो नहीं पड़ेगा?

उत्तर—बुराई एक शाश्वत वस्तु है, पर उसके प्रकार बदलते रहते हैं। आज जो बुराइयाँ हैं, सम्भव है वे अतीत में नहीं थीं। आज जिन प्रवृत्तियों को बुरा माना जाता है, भविष्य में उनको बुरा ही माना जाये, यह जरूरी नहीं है। बुराई के प्रकार शाश्वत नहीं हैं। इसी प्रकार आचार-संहिता शाश्वत न होकर सामयिक अधिक होती है। जिस युग में जिस प्रवृत्ति को बुरा माना जाता है प्रहार उसी पर होता है। बुराई और अच्छाई का मानदण्ड है सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में उस प्रवृत्ति की उपयोगिता और दुरुपयोगिता। आचार संहिता के माध्यम से किसी भी प्रवृत्ति का प्रतिकार करने की अपेक्षा तब होती है जब वह बुराई स्थापित हो। जिस प्रवृत्ति को समाज में बुराई के रूप में मान्यता नहीं मिलती, उसको बुराई कहने का मनोभाव भी जागृत नहीं होता।

विवाह संस्था भारत और कुछ राष्ट्रों की अपनी परम्परा है इसलिए इस परम्परा के उपजीवी व्यक्ति पर स्त्री के साथ सम्बन्ध स्थापित करने को अनैतिक कर्म मानते हैं। किन्तु किसी युग में विवाह संस्था का रूप बदल जाये तो इससे सम्बन्धित मानदण्ड भी बदल जायेंगे।

प्राचीन काल में कुछ सामाजिक व्यवस्थाओं में स्त्री को एक से अधिक पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखने का अधिकार था। द्रौपदी पाँच पाण्डवों का वरण करने पर भी सती रूप में प्रतिष्ठित थी। यह परम्परा तत्कालीन पाञ्चाल देश की हो सकती है अथवा वर्तमान में भी क्षेत्र विशेष या जाति विशेष में प्रचलित हो सकती है। क्षेत्र, काल या जाति विशेष में प्रचलित परम्परा के अनुरूप बहुपति प्रथा को नैतिक मान्यता मिल सकती है किन्तु सार्वभौम और सार्वकालिक दृष्टि

से नैतिकता का स्वरूप कुछ भिन्न है।

इस प्रकार सामयिक बुराइयों के संदर्भ में कोई एक निश्चित आचार संहिता बहुत लम्बे समय तक चल नहीं पाती, इसलिए आधार विषयक दृढ़ता का प्रश्न स्वयं समाहित हो जाता है।

प्रश्न—सामयिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में बदलती हुई आचार-संहिताओं ने वैयक्तिक और सामाजिक दृढ़ता को तोड़ा है। किन्तु धार्मिक स्तर पर कुछ ऐसी बातें चलती हैं जिनका मूल्य अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। क्या ये बद्धमूल मानदंड व्यक्ति को दृढ़ नहीं बना देंगे?

उत्तर—आचार संहिता की निर्मिति के पीछे मुख्य रूप से दो उद्देश्य होते हैं—सामाजिक और धार्मिक। सामाजिक उद्देश्य में समाजहित को प्रधानता मिलती है और धार्मिक उद्देश्य में आत्मतत्त्व प्रमुख रहता है। धर्म का आधार है राग-द्वेष का अभाव। जिस वृत्ति और प्रवृत्ति से राग तथा द्वेष क्षीण होते हैं, उसे धार्मिक माना जाता है। धर्म का दृष्टिकोण व्यापक होता है। वह व्यक्ति, क्षेत्र और परिस्थितियों की सीमा से ऊपर उठकर जागरण की दिशा दिखाता है। इस सन्दर्भ में नैतिक मूल्यों को भी इसी दृष्टि से परिभाषित करना होगा।

धर्म या अध्यात्म से अनुबंधित नैतिकता सामाजिक परिस्थितियों के साथ परिवर्तनीय नहीं होती। क्योंकि इसका आधार है व्यक्ति का अप्रमाद। जो प्रवृत्ति मनुष्य का प्रमाद बढ़ाती है, उसकी जागरूकता कम करती है, चेतना को आवृत करती है और जीवन के प्रवाह को गलत दिशा में मोड़ती है, वह नैतिकता नहीं हो सकती।

नैतिकता की इस परिभाषा में भी प्रश्नचिह्न उपस्थित किया जा सकता है। जैसे मद्यपान कुछ देशों या वर्गों में निषिद्ध है किन्तु कुछ राष्ट्र उसे अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकृति दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में मदिरापान को अनैतिक कैसे कहा जा सकता है? प्रश्न असंगत नहीं है इसलिए इसे अनुत्तरित छोड़ने की भी कोई बात नहीं है। मेरे अभिमत से मद्यपान प्रमाद है। मद्यपान से प्रमाद बढ़ता है यह त्रैकालिक नियम है। सीमित मात्रा और शीत प्रधान क्षेत्र में भी मदिरा के सेवन से प्रमाद बढ़ता है। प्रारम्भ में उस प्रमाद की अभिव्यक्ति भले ही न हो, पर चेतना में सूक्ष्म विकृति की उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता। जिस पदार्थ के सेवन से चेतना विकृत हो उसे अप्रमाद या जागरूकता का निमित्त कैसे माना जा सकता है?

मदिरा की भांति तामसिक खाद्य पदार्थ भी त्याज्य हैं। क्योंकि खाद्य वस्तु मनुष्य के मन पर अपना निश्चित प्रभाव छोड़ती है। एक पदार्थ खाने से मन प्रसन्न रहता है, शरीर हल्का रहता है और विचारों में सात्त्विकता रहती है। दूसरा पदार्थ उपभुक्त होने के बाद मन को विकृत करता है, शरीर की स्फूर्ति का हरण कर

सता है और विचारों में कुछ इस प्रकार की उथल पुथल मचा देता है कि उसकी तामसिकता स्वयं व्यक्त हो जाती है।

तार्किक परम्परा में आस्थाशील लोगों को छोड़कर धर्म के क्षेत्र में आगे बढे हुए सभी विचारकों ने मद्यपान को त्याज्य बताया है। ऐसी ही कुछ अन्य प्रवृत्तियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि नैतिकता की मौलिक धारणाएं शाश्वत हैं, इसलिए उस स्तर की आचार-संहिता भी त्रैकालिक होती है। किन्तु सामयिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में नैतिक मूल्य बदलते रहे हैं अत न तो रूढता या अवरोध जैसी कोई स्थिति उत्पन्न होती है और न स्वाभाविकता पर कोई दुष्प्रभाव ही पड़ता है।

प्रश्न—ज्ञान और विज्ञान के साथ नैतिक मूल्यों का भी विकास होता है, इस सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है?

उत्तर—ज्ञान विज्ञान के विकास से नैतिक मूल्य विकसित ही होते हैं इस प्रतिबद्धता के साथ मेरी सहमति नहीं है। विज्ञान नैतिक मूल्यों के विकास में बाधा है इस विचार में भी मेरा विश्वास नहीं है। मैं इस तथ्य को सापेक्ष दृष्टि से देखता हू। कोई नया तथ्य सामने में आये और नैतिकता की प्रस्तुति उसी रूप में हो, यह नहीं होना चाहिए। कल तक जिस कर्म को अनैतिक माना गया आज वह नैतिक हो सकता है और आज जिसे नैतिक माना जाता है कल वह अनैतिक हो सकता है।

शस्त्र-निर्माण, उनके वितरण और विनिमय को प्राचीन समय में किसी ने अनैतिक नहीं माना। भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान के आलोक में उस कर्म का परीक्षण किया और उसे अनैतिक घोषित किया, हजारों वर्षों तक यह तथ्य विचार-भेद का विषय बना रहा, किन्तु वर्तमान परिस्थितियां प्रमाणित करती हैं कि घातक शस्त्रों का निर्माण, उनका आदान प्रदान और प्रयोग अनैतिक है। इसी पहलू पर रूस, अमेरिका आदि राष्ट्रों में परस्पर संधि वार्ता हो रही है। आज सभी राष्ट्र यह अनुभव कर रहे हैं कि आणविक अस्त्र शस्त्र मानव जाति के लिए घातक हैं। जब तक किसी भी राष्ट्र में अस्त्र शस्त्रों का निर्माण होता रहेगा, शस्त्र निर्माण की परम्परा समाप्त नहीं होगी। भय, आशंका, सुरक्षा आदि ऐसे मनोभाव हैं जो मनुष्य जाति की निश्चिन्तता और सुखेप्सा में बाधक हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी धारणाओं और अनुभवों का विकास नैतिक मूल्यों के विकास में भी सहायक हो सकता है। पर यह तभी हो सकता है जब मनुष्य स्वार्थ-बुद्धि से मुक्त होकर तटस्थ भाव से मूल्य निर्धारण की दिशा में प्रयत्न करता है।

व्यसन-मुक्ति में जैन धर्म का योगदान

प्रश्न—भारतीय आचार विषयक मूल्यांकन में व्यसन परिहार का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अधिकांश धर्मों में नीति सम्बन्धी ग्रन्थों में सात दुर्व्यसनों को त्याज्य बताया गया है। क्या जैन ग्रन्थों में भी इस दृष्टि से कोई समाधान विश्लेषण उपलब्ध है?

उत्तर—जैन दर्शन अध्यात्म प्रधान दर्शन है। सत्य की खोज और मैत्री भावना का विस्तार—इन दो माध्यमों से जैन दर्शन ने मानिक तत्त्व प्रकाश में आए। सत्य की खोज का मूल्य वैयक्तिक परिवेश में है और मैत्री भावना का मूल्य समूह चेतना के स्तर पर है। जो व्यक्ति इन दोनों को आत्मसात् कर आगे बढ़ता है उसके लिए अतिरिक्त रूप से आचार विषयक मूल्यांकन की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि कोई भी सत्य का खोजी ऐसा काम नहीं कर सकता जिससे उसकी खोज में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित हो। सत्य की खोज वही व्यक्ति कर सकता है जो सत्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाता है। जो सत्य के प्रति समर्पित हो गया, वह अनाचरणीय की अभिलाषा भी नहीं करता, उसका आचरण तो बहुत दूर की बात है। इस दृष्टि से जैन आगमों में आचार पक्ष की पुष्टि के लिए पर्याप्त रूप में सात दुर्व्यसनों का उल्लेख नहीं मिलता है।

जैन आगम चार अनुयोगों में विभक्त है। उनमें एक अनुयोग है—'चरणकरणानुयोग'। इस अनुयोग के अन्तर्गत आचार विषयक उच्चतम मूल्यों का अधिग्रहण हुआ है। उस ऊंचाई तक पहुंचने में अक्षम व्यक्तियों के लिए यथाशक्य आचार की अनुपालना का निर्देश है। उस निर्देश में कहीं मुख्य रूप से और कहीं प्रासंगिक रूप से सातों ही दुर्व्यसनों की हेयता का मूल्य प्रतिष्ठित होता है। वे दुर्व्यसन हैं—

> जूय मज्ज मंस वेसा पारद्धि चोर परयार।
> दुग्गइ गमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि॥

जुआ, मद्यपान, मांस भक्षण, वेश्या-गमन, शिकार, चोरी और परस्त्री गमन—ये दुर्गति गमन में हेतुभूत पाप हैं।

चोरी के सम्बन्ध मे 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र म विस्तत विवेचन प्राप्त है। शिकार विषयक चर्चा 'उत्तराध्ययन' म उपलब्ध है। मद्यपान और मास भक्षण के बारे मे—'सूत्रकृताग' का प्रसग उल्लेखनीय है। वेश्या गमन, परस्त्री गमन और जुआ—इन तीन दुर्व्यसनो तथा अन्य सभी का उल्लेख श्रावक धर्म की आचार-सहिता म हुआ है। इस प्रकार उक्त साता ही दुर्व्यसन विकीर्ण रूप स आगमकाल म ही निषिद्ध रहे हैं।

आगमकाल से भाष्यकाल तक पहुचते पहुचत वर्गीकृत रूप मे दुर्व्यसनो का उल्लख हो गया। यद्यपि वृहत्कल्प भाष्य आदि कुछ भाष्यो म उनका स्वरूप वतमान म प्रचलित स्वरूप से कुछ-कुछ भिन्न भी मिलता है।

उत्तरवर्ती जैन आचार्यों ने ता दुर्व्यसन-परिहार के लिए एक आदोलन ही प्रारम्भ कर दिया। उन्होने सवप्रथम श्रावक समाज को व्रती जीवन जीने का आह्वान किया, जिसकी व्यवस्थित आचार सहिता उन्हे भगवान् महावीर की परम्परा से प्राप्त थी। श्रावक के बारह व्रता की आचार-सहिता एक समृद्ध आचार-सहिता है। इसम धार्मिक अनुष्ठाना के साथ सामाजिक और नागरिक जीवन मे परिव्याप्त बुराइया का स्पष्ट सकेत देकर उनसे उपरत होने की बात कही गयी है। जैन आगमो के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि आगमकाल मे गृहस्थ श्रावक बारह व्रता की सम्यग् आराधना करत थे।

श्रावको की जीवन चर्या का विस्तत विवेचन उपासक दशा सूत्र' मे मिलता है। इसम किसी श्रावक के नवकार मत्र की माला फेरने, जप करने या किसी छिटपुट प्रत्याख्यान करने का उल्लेख नही है किन्तु जीवन को समग्रता स प्रभावित करने वाली विशिष्ट आचार-सहिता उल्लिखित हुई है, जो बारह व्रता के रूप म प्रसिद्ध है। जन आचाय इसी आचार सहिता को आधार मानकर श्रावक समाज का पथ-दशन करते थे। कालान्तर म जब बारह व्रतो की साधना कठिन प्रतीत होने लगी तो व्यसन परिहार की बात सामन आयी। तत्कालीन आचार्यों ने श्रावक सघ को सम्बोधित कर कहा—व्रत धार्मिक जीवन की रीढ है। व्रतो के बिना धार्मिक विकास सभव नही है। यदि बारह व्रता की परिपूर्ण अनुपालना म कोई व्यक्ति स्वय का अक्षम अनुभव कर ता वह अपनी क्षमता क अनुसार पाच, सात या दस व्रतो का स्वीकार करे। इस स्थिति म भी कोई व्यक्ति दुबलता क भार स आक्रान्त हो ता वह कम से-कम दुर्व्यसना को त्यागकर अपन श्रावकत्व को सुरक्षित रखे।'

जैन समाज के सस्कारा म दुर्व्यसना के प्रति हेयता का भाव यहा तक विकसित हुआ कि एक समय यह जैनत्व की पहचान बन गयी। जन कौन? जो सात दुर्व्यसना से बचता है, वह जन है। जैनत्व की यह व्यावहारिक परिभाषा जैन समाज मे ऐसी दुष्प्रवृत्तियो को नियन्त्रित रखने मे सफल हुई है। वतमान म भी

दुर्व्यसनों से जितना बचाव हो रहा है, उसमें आचार विषयक धारणाएं काम कर रही हैं।

प्रश्न—दुर्व्यसनों का परित्याग जैनत्व के लक्षण रूप में प्रचलित हो गया। उसके बाद जैन धर्म के प्रतिनिधि आचार्यों या मुनियों ने ऐसे कुछ प्रयोग भी किये जिनसे जन-जीवन में दुर्व्यसनों से निष्कासन हुआ हो और आचार की विभिन्न धाराएं उपयुक्त रूप से बही हों?

उत्तर—जैन धर्म के आचार्य और मुनि अपनी निजी साधना के साथ लोक जीवन के उदात्तीकरण हेतु सदा प्रयत्नशील रहे हैं। उन्होंने जिस समय जिस तत्त्व को जन जीवन में लाना चाहा, उसके लिए मनोवैज्ञानिक प्रयोग भी किये हैं। दुर्व्यसन छुड़ाने की दृष्टि से उन्होंने दो पद्धतियां काम में लीं—चित्र-पद्धति और कथा पद्धति। प्रथम पद्धति के अन्तर्गत चोरी, शिकार, मद्यपान आदि बुराइयों को करने वाले व्यक्तियों को चित्रों के माध्यम से प्रस्तुति दी गयी है तथा साथ ही बुराइयों के दुष्परिणामों का भोग करते समय उन लोगों की शारीरिक स्थिति और मन स्थिति को चित्रित कर उस उस कर्म के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने का प्रयास किया है।

ग्रामीण लोगों और बच्चों को समझाने की दृष्टि से तो इन चित्रों का बहुत अच्छा उपयोग हुआ है। चित्र चौपाई का निर्माण विशेष रूप से उक्त दुर्व्यसनों को लक्ष्य करके ही किया है। वर्तमान में जिस प्रकार फिल्म, स्लाइड्स आदि माध्यमों को प्रचार और मनोरंजन का साधन माना जाता है, उसी प्रकार बुराई का प्रतिकार करने में भी चित्रों का अपना महत्त्व रहा है।

दूसरी पद्धति में कथाओं और सत्य घटनाओं के माध्यम से बुराई के दुष्परिणामों की अवगति देकर व्यक्ति को सजग करने का प्रयत्न किया गया। सात दुर्व्यसनों से सम्बन्धित प्राचीन और अर्वाचीन अनेक घटनाएं प्रचलित हैं जिनका संकेत इस पद्य में मिलता है—

प्रथम पाडवा भूप खेल जुओ सब खोयो।
मास खाय बकराय पाय विपदा बहु रोयो।
अनजान मधुपान-जोग जादो-घर दज्झे।
चारुदत्त दुख सह्या कि वेश्या व्यसन अलज्झे।
हत ब्रह्मदत्त आखट स्यू त्यू शिवभूति अदत्त चित।
पर रमण राच रावण गये, सातू सेवत कौन गत?

पाडवों ने जुआ खेलकर अपना सब कुछ खो दिया। मांस भक्षण के व्यसन से बकराज को आपदाओं से जूझना पड़ा। मदिरा ने यादव कुल का विनाश कर दिया। चारुदत्त वेश्या के ससर्ग में आकर दु खी हुआ। ब्रह्मदत्त शिकार के दुर्व्यसन में फसकर विपदाओं को झेलता रहा। चोरी के कारण शिवभूति को कष्ट उठाना

पडा और रावण पर स्त्री का हरण कर पराजित हुआ। इस प्रकार एक-एक दुर्व्यसन से अनुबंधित व्यक्ति कष्ट-परम्परा से बंध गये। जो व्यक्ति अकेला ही सातो दुर्व्यसनो का वशवद हो जाता है, उसकी फिर क्या गति होती है, यह अनुभव किया जा सकता है।

कालूगणी जब जब देहातो मे रहते, चित्र और कथा—इन दोनो पद्धतियो से दुर्व्यसनों पर प्रहार करते। उनके उपदेशो से प्रभावित होकर सैकडा-सैकडो व्यक्ति व्यसन-मुक्त जीवन जीने का सकल्प करते थे। एक एक व्यसन से सम्बन्धित दोहावलियो के माध्यम से भी जनमानस को बदलने का क्रम चलता था। ये सभी पद्धतियां वर्तमान मे भी व्यवहृत हो रही हैं तथा कुछ अन्य प्रयोगो के द्वारा भी व्यसन-मुक्ति अभियान को चलाया जा रहा है।

भारतीय आचार-शास्त्र की मौलिक मान्यताएं

प्रश्न— यूरोप के विख्यात दार्शनिक कांट ने पश्चिमीय आचार विज्ञान का आधारभूत मान्यताओं के सन्दर्भ में तीन बातों का उल्लेख किया है—

१ संकल्प का स्वातन्त्र्य
२ आत्मा का अमरत्व
३ ईश्वर का अस्तित्व

भारतीय आचार विज्ञान पश्चिम के आचार विज्ञान की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक और व्यापक है। आपकी दृष्टि में इसकी मौलिक मान्यताएं क्या हैं?

उत्तर—भारतीय आचार विज्ञान आत्मवाद पर आधारित है। आत्मा है, वह कर्ता और भोक्ता है। कर्मों से आबद्ध आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है। कर्ममुक्त होते ही वह परमात्मा बन जाती है। जब तक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती, जन्म-मरण की परम्परा चलती रहती है। इस दृष्टि से आत्मा पुनर्जन्म लेती है। व्यक्ति अपने पूर्वजन्म के सम्बन्ध में जानने का इच्छुक रहता है। उसकी यह जिज्ञासा जाति-स्मृतिज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञानी और प्रत्यक्ष ज्ञानी के पास श्रुत व्यक्ति के द्वारा समाहित होती है। इस समाधान से वह अपने प्रति सजग होता है और आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में उसका विश्वास सुदृढ़ होता रहता है और इसी विश्वास के आधार पर आचार विज्ञान की प्रस्थापना होती है।

आत्मा के स्वरूप विश्लेषण में सभी दार्शनिक एकमत नहीं हैं, किन्तु अस्तित्व का जहां तक प्रश्न है नास्तिक दर्शन भी किसी-न किसी रूप में उसे अपनी सहमति देता है। इसलिए भारतीय आचार का पहला आधार है—आत्मा का अस्तित्व।

आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने के बाद हर आत्मा को अपने अस्तित्व का स्वतंत्र अधिकार देने के लिए भारतीय आचार का दूसरा आधार बनता है—समता का सिद्धान्त। समता को अहिंसा के पर्यायवाची शब्द के रूप में भी समझा जाता है और अहिंसा की उच्चतम स्थिति के रूप में भी। अहिंसा को दूसरा

आधार बनाने का हेतु है उसकी आत्म सापेक्षता। आत्मा न हो तो अहिंसा मात्र व्यवहार की वस्तु बनकर रह जायगी। अहिंसा आत्मौपम्य की भूमिका पर अवस्थित मौलिक तत्त्व है। नैतिक मूल्यों के निर्धारण में इसका बहुत बडा योग है। यदि आत्मा के संदर्भ में बडे छोटे की परिकल्पना को जन्मगत या स्वभावगत मानकर यों ही छोड दिया जाय तो नैतिकता कहा जाकर टिकेगी? समता की पृष्ठभूमि पर ही आचार का प्रासाद खडा हो सकता है।

तीसरी बात है—सम्बन्ध सौष्ठव। सामाजिक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि समाज के साथ उसके सम्बन्ध अच्छे रहे। सम्बन्धों की मधुरता एक ओर व्यक्ति को वाछनीय वातावरण देती है तो दूसरी ओर उदात्त आचार के लिए भूमिका तैयार करती है। परस्परता का यह सूत्र जितना व्यावहारिक है उतना ही आन्तरिक भी है। क्योंकि किसी के साथ अच्छे सम्बन्ध न होने से उस परिवेश में आचरण भी उदात्त नही रह सकते। इसलिए मेरे अभिमत से भारतीय आचार विज्ञान के मौलिक तत्त्व हैं—

१ आत्मा का अस्तित्व
२ समता का सिद्धान्त
३ सम्बन्ध-सौष्ठव

प्रश्न— हमारे सामने आचार विज्ञान की जो धारणाए हैं, वे पारम्परिक हैं। परम्पराओं के मूल स्रोत पर दृष्टिपात किया जाये तो भारतीय आचार विज्ञान का जन्मदाता कौन हो सकता है?

उत्तर—सुदूर अतीत में झाकने से परम्पराए धमिल-सी प्रतीत होने लगती हैं। क्योंकि ऐतिहासिक काल से परे जो कुछ घटित हुआ है, उसका सम्यक् आकलन कैसे किया जाये? इस स्थिति में आचार विज्ञान के जन्मदाता रूप में किसी एक व्यक्ति का नामोल्लेख करना कठिन है। भारतवर्ष के जितने आत्मवादी या आस्तिक दर्शन हैं, उन सबने अपने-अपने ढंग से आचार प्रतिपादन किया। उसके बारे में जानकारी करने का सबल स्रोत है साहित्य। आज हम जो साहित्यिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें वेद सबसे अधिक प्राचीन है। वेदों में जहा एक ओर समाज-व्यवस्था का चिन्तन है वहा आचार संहिता उपलब्ध है। किन्तु आचार के पुरस्कर्ता वेद ही हैं, यह कहना कठिन है।

वैदिक काल में या उससे भी पहले श्रमण परम्परा प्रचलित थी, यह तथ्य अनुश्रुति से ज्ञात होता है। उस परम्परा का अपना दर्शन था, यह तथ्य निर्विवाद है। किन्तु तत्कालीन दर्शनों का किस सीमा तक स्वतंत्र महत्त्व था और कहा जाकर परस्पर एक दूसरे का विलय हुआ, यह अभी तक शोध का विषय है।

'आचार प्रथमो धर्म'—आचार पहला धर्म है, यह स्वर यत्र-तत्र सुनाई देता था, पर इसमें भी सबकी सहमति नही थी। विचार भिन्नता के कारण कुछ

व्यक्ति केवल आचार को सर्वोपरि महत्त्व देते थ जबकि ज्ञानवाद की धारा मे आचार को प्राथमिकता नही दी गयी। क्रियावादी लोग केवल क्रिया (आचार) को ही प्रधानता देते थे। दार्शनिक ग्रन्था म इस विषय को लेकर बहुत लम्बी चर्चा हुई है। आचारवादी व्यक्ति अपने मत की पुष्टि म हेतु देते हुए कहते हैं—

गच्छत पिपीलिकायाति योजनाना शतान्यपि।
अगच्छन वैनतयोऽपि पदमेक न गच्छति॥

गरुड शीघ्रगामी पक्षी है। यदि वह नही चले तो एक कदम भी नही चल सकता और मन्दगति चीटी भी निरन्तर चलती रहे तो सकडो योजना की दूरी पार कर देती है।

वे लोग अपने पक्ष को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि मोदक का ज्ञान करने मात्र से पेट नही भरता। किसी व्यक्ति के पास कितना ही ज्ञान क्यो न हो आचरण बिना वह निरर्थक है। इसी प्रकार ज्ञानवादी दार्शनिक आचार पर टिप्पणी करते हुए ज्ञान की गरिमा का व्याख्यान करते हैं।

जैन दर्शन समन्वयवादी दर्शन है। वह ज्ञान और आचार इन दोनो धाराओ म समानान्तर बहता हुआ दोनो के बीच सामजस्य स्थापित करता है। जैन दर्शन म आचार को अपना मूल्य प्राप्त है पर सम्यग् ज्ञान और सम्यग दर्शन से शून्य आचार का मूल्य कम हो जाता है। ज्ञान और आचार दोनो को मान्यता देने पर भी जैन दर्शन ने ज्ञान को प्राथमिकता दी है। क्योकि ज्ञान के अभाव मे हेय और आदेय का निर्धारण नही हो सकता। ज्ञान शून्य आचार अवाछनीय है। ज्ञान बल के द्वारा आचार का निर्धारण कर उसका स्वीकरण करने वाला व्यक्ति अपने सुपुष्ट ज्ञान की फलश्रुति के रूप मे आचार का पालन करता है।

'हय नाण कियाहीण हया अन्नाणओ किया'

उक्त पद्य म क्रियाहीन ज्ञान को विफल बताया है इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति की क्रिया को भी निष्फल बताया है। ज्ञान और क्रिया के सयोग से सफलता मिलती है, इस तथ्य को एक उदाहरण से स्पष्ट समझा जा सकता है—

एक अधा और एक पंगु किसी जगल म बैठ थे। सहसा जगल मे आग लग गयी। दोनो व्यक्ति घबराये। अधा आग को देख नही सकता था अत वह अपनी ओर बढ़ती हुई आग की आशका से आतकित था। पंगु आग की लपटें देख रहा था, पर उसमे चलने का सामर्थ्य नही था, इसलिए वह उन्हीं लपटो मे अपनी-लीला समाप्त होने की कल्पना मात्र से काप रहा था।

अधे व्यक्ति ने पगु से कहा, 'तुम मेरे कधो पर बैठकर मुझ मार्ग दिखाओ, मैं तुम्हें इस साय-साय करती हुई आग से बाहर ले चलता हू।' पगु इसके लिए

तैयार था। दोनो व्यक्ति परस्पर एक दूसरे के सहयोग से सुरक्षित स्थान पर पहुच गये। यदि वे ऐसा नही करते तो दोनो को भस्मसात् होना पडता।

अधे और पगु के सयोग की भाति ज्ञान और क्रिया के समुचित सयोग से ही इष्ट फल की उपलब्धि हो सकती है इसलिए स्वरूप निर्धारण के लिए ज्ञान और आचरण के लिए क्रिया, यह समन्वित पथ ही अधिक सम्मत प्रतीत होता है। किसी व्यक्ति विशेष को आचार-शास्त्र का जन्मदाता बताकर मैं आचार-विज्ञान की व्यापक परम्परा को सकीर्ण दायरे मे बाधना नहीं चाहता।

आचार-विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रश्न—आचार विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है?

उत्तर—भारतीय दर्शनों में धर्म, आचार और नैतिकता एक-दूसरे से अविभक्त सत्य के रूप में मान्य रहे हैं। धर्म आस्था का मूलभूत केन्द्र रहा और आचार तथा नैतिकता उसके परिकर बनकर विकसित होते रहे। इसलिए आचार का इतिहास वहीं से शुरू होता है, जहां से धर्म का इतिहास शुरू होता है। धर्मशून्य नैतिकता पर यहां के मनीषियों ने बल नहीं दिया। भारत में जितने आस्तिक दर्शन हैं वे सब धार्मिक हैं। धार्मिक विश्वासों में मतभेद होने पर भी व्यापक रूप में धर्म के साथ उनकी सहमति है। नास्तिक दर्शन या चार्वाक धर्म को स्वीकृति नहीं देता तो नैतिकता को भी स्वतन्त्र रूप में मान्य नहीं करता। 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत्' जैसी अनुभूति से नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन ही हुआ है। समाज व्यवस्था के आधार पर उसने नैतिकता को मान्यता दी पर वह प्रतिष्ठित नहीं हो सकी।

भारतीय अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और समाजशास्त्र भी धर्म के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। धर्म तत्त्व की प्रमुखता का स्वीकार करते हुए कामशास्त्र ने अपनी मान्यता दी है कि 'स्थविरो धर्ममोक्षौ'—धर्म और मोक्ष स्थविर हैं ज्येष्ठ हैं।

अर्थशास्त्र भी धर्म निरपेक्ष नहीं है। सोमदेव के नीतिवाक्यामृत को पढ़ने से भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि यह ग्रन्थ अर्थशास्त्र का प्रतिनिधि है या धर्मशास्त्र का। इस दृष्टि से आचार विज्ञान का इतिहास धर्म के इतिहास से अलग नहीं हो सकता।

प्रश्न—भारतवर्ष में धर्म की अनेक धाराएं प्रवाहित हुईं। उनमें मौलिक मतभेद क्या है?

उत्तर—यहां धर्म का विकास दो धाराओं में हुआ—श्रमण और वैदिक। श्रमण धारा में मोक्ष को स्वीकृति दी गयी है और वैदिक धारा स्वर्ग को प्रधान मानकर चली है। मोक्ष प्रधान और स्वर्ग प्रधान धार्मिक मान्यता के आधार पर समग्र आचार का निर्धारण हुआ है। श्रमण धारा में मुख्यतया इस बात पर

बल दिया गया है कि मोक्ष कैसे हो ? प्राणी दु ख विमुक्ति की साधना कैसे करे ? इस बिंदु को केन्द्र मानकर आचार विषयक धारणाओ का स्थिरीकरण हुआ। वैदिक धारा स्वर्ग के आकर्षण से बधी हुई रही।

धर्म के परिपार्श्व म दो प्रकार की धारणाए चलती रही हैं। पहली धारणा के अनुसार धर्म का सिद्धात ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है इसलिए वह अपरिवर्तनीय है। दूसरी धारणा के अनुसार धर्म देश काल-सापेक्ष है। सामयिक परिस्थितिया म परिवर्तन के साथ धर्म की धारणाओ मे भी परिवर्तन होना जरूरी है। इस धारणा ने समय-समय पर भिन्न भिन्न आचार सहिताओ का सर्जन कराया और ये सहिताए ही आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र के रूप म व्यवहार्य हुइ। इस प्रकार धर्म के व्यापक और मौलिक सिद्धाता की छत्रछाया मे नैतिकता का विकास प्रारम्भ हो गया।

कालक्रम की दृष्टि से नैतिक मूल्या के प्रस्थापना काल को ईस्वी पूर्व एक हजार वर्ष तक ले जाया जा सकता है। आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व का यह समय उपनिषद् काल या भगवान् पार्श्व के जन्म के आसपास तक चला जाता है। इसी समय भारतीय आचरशास्त्र की ऐतिहासिक नींव पडी। भगवान् महावीर और बुद्ध के काल म इसका परिमार्जित रूप सामने आया। फलत एक सामाजिक व्यक्ति के लिए, गृहस्थ जीवन के लिए आचार की परिष्कृत सहिता तैयार हो गयी।

वर्णाश्रम सबधी आचार व्यवस्था का विकास धर्मशास्त्र और स्मृतिया के काल से जुडता है। यह समय ईस्वी पूर्व २०० ३०० वर्ष पूर्व का होता है। इस प्रकार ईस्वी पूर्व एक हजार वर्ष से ईस्वी सन तक आते आते आचार विज्ञान का एक व्यवस्थित और विकसित रूप जन जीवन को प्रभावित करने लग गया।

उसके बाद यदा-कदा छोटे छोटे सामयिक परिवर्तन होत रहे, पर उनम कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ लोगा न उसको अपरिवर्तनीय बनाया है और कुछ व्यक्ति परिवर्तन के पक्षधर बन रहे। फलस्वरूप उनम परस्पर सघर्ष चलते रहे पर कोई बहुत बडा काम नहीं हुआ।

प्रश्न—वदिक और श्रमण इन दोनो धाराओ के आचार निर्धारण का आधार त्रिवर्ग और चतुर्वर्ग रहा, क्या यह कहा जा सकता है ?

उत्तर—वैदिक वाङमय म त्रिवर्ग का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी वेदकाल मे धर्म और काम को प्रधान मानकर प्रवृत्ति की जाती थी। स्थानाग सूत्र के अनुसार त्रिवर्ग लौकिक व्यवसाय के तीन प्रकार के रूप मे प्रचलित था। लौकिक व्यवसाय के सदर्भ म समागत धर्म शब्द मोक्ष साधक धर्म का नहीं किंतु लोकाचार या सामाजिक परम्पराओ का ही वाहक रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। स्मृति काल म मनु ने त्रिवर्ग को श्रेयस्कर मानकर उसे सामाजिक मान्यता दे दी।

जैन दर्शन प्रारम्भ से ही धर्म और मोक्ष को मानता रहा है। इस दृष्टि से ये दो ही पुरुषार्थ हैं। किंतु सामाजिक व्यक्ति अर्थ और काम से भी निरपेक्ष नहीं रह सकता, इसलिए उसने इन दोनों को भी स्वीकार किया। निर्वाणवाद के उत्कर्षकाल में त्रिवर्ग के साथ मोक्ष तत्त्व को जोड़कर चतुर्विध पुरुषार्थ की स्थापना की गयी।

त्रिवर्ग और चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना वेदकाल और आगमकाल से उत्तरवर्ती है इसलिए इनको आचार निर्धारण का आधार ये ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन्होंने अपने उदयकाल में जन-जीवन को अवश्य प्रभावित किया। क्योंकि अर्थ और काम समाज धारणा के अनिवार्य अंग थे। सामाजिक व्यक्ति इनकी उपेक्षा करके समाज व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित नहीं कर सकता था।

समाज-व्यवस्था से निरपेक्ष मुमुक्षु व्यक्ति धर्म और मोक्ष को अपना लक्ष्य मानकर चला इसलिए उसने अर्थ और काम को आध्यात्मिक मान्यता नहीं दी। समाज-सापेक्ष जन-जीवन में अर्थ और काम की प्रधानता रही तथा धर्म और मोक्ष की चर्चा प्रासंगिक रूप से ही हुई। उसी प्रकार निर्वाण को ही परम लक्ष्य मानने वाले दार्शनिकों ने धर्म और मोक्ष को प्राथमिकता देकर अर्थ और काम को गौण रूप में देखा। इसलिए आचार-संबंधी धारणाओं के स्थिरीकरण में त्रिवर्ग और चतुर्विध पुरुषार्थ का भी योग रहा है। अर्थ और काम सामाजिक जीवन के आलम्बन बने तथा जीवन में अध्यात्म के नये आयाम खोलने में धर्म और मोक्ष को आधार माना गया।

आचार का आधार—वर्तमान या भविष्य

प्रश्न—भारतीय जन-जीवन आचार प्रधान है। इसमें किसी-न-किसी रूप में आचार के प्रतिबिम्ब उभरते रहे हैं। मेरी जिज्ञासा यह है कि जिस आचार के प्रति जनता में आकर्षण है उसका संबंध केवल पारलौकिक ही है या वर्तमान जीवन के साथ भी उसका कोई संबंध है?

उत्तर—धर्म, आचार, नैतिकता या अध्यात्म के संबंध में जन साधारण की एक धारणा है—धर्म करो, परलोक सुधर जायगा। इस जन्म में धर्म की आराधना नहीं की तो परलोक में क्या होगा? किन्तु गहराई में जाने से पता चलता है कि आज तक जितने धर्म प्रवर्तक अथवा परमार्थ दृष्टि वाले व्यक्ति हुए हैं, उन्होंने इस लोक और परलोक—दोनों के कल्याण हेतु धर्म का प्रतिपादन किया। भगवान महावीर ने धार्मिक व्यक्तियों के वर्तन का उल्लेख करते हुए कहा—'तेहिं आराहिया दुवे लोए।' उन्होंने दोनों लोकों की आराधना की। इस तथ्य के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म या आचार का संबंध न केवल वर्तमान से है और न केवल भविष्य में है किन्तु उसमें दोनों काल तथा जन्म उपकृत होते हैं।

केवल इस लोक को सुधारने की बात नश्वर हो सकती है पर धार्मिक नहीं। क्योंकि वर्तमान में लाभ का प्रश्न व्यवस्था के साथ जुड़ता है। व्यवस्थाएं ठीक हैं तो वर्तमान के क्षण संक्लेशपूर्ण नहीं होते व्यक्ति के। जिन सुविधाओं की अपेक्षा होती है वे प्राप्त हो जाती हैं और वह अपनी जीवन यात्रा में बाह्य परिवेश में किसी प्रकार के अवरोध का अनुभव नहीं करता। इसी प्रकार केवल भविष्य-सुधार की बात सतरंग सपना की भांति आकर्षक हो सकती है, पर वह भी धार्मिक नहीं हो सकती। क्योंकि जो प्रवृत्ति वर्तमान में अनिश्चितकर है वह भविष्य में फलदायिनी कैसे हो सकती है? अतः भारतीय आचार विधान का संबंध 'देहली दीपक न्याय' के अनुसार भीतर और बाहर, इहलोक और परलोक दोनों से है।

प्रश्न—भारतीय दर्शन का एक अंग है चार्वाक दर्शन। यह दर्शन आचार का

प्रतिपादन करता है। अपने प्रतिपादन का आधार प्रस्तुत करते हुए उसने कहा—'धर्म नाचरेत् प्राज्ञ पण्डितः'—धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह केवल भविष्य से अनुबंधित है। चार्वाक दर्शन की यह मान्यता क्या आचार की पारलौकिक सार्थकता की पुष्टि नहीं करती है?

उत्तर—चार्वाक दर्शन ने जिस तर्क के आधार पर धर्म का निरसन किया उसका आधार यह है कि वर्तमान लाभ को छोड़कर भविष्य की कामना करना बुद्धिमत्ता नहीं है। संभव है कुछ कथकथित धार्मिक लोग कमकांड करते हैं, जिनसे वर्तमान में किसी प्रकार की फल प्राप्ति की प्रतीति नहीं होती। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'—प्रयोजन के बिना मूढ़ व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए वे लोग अपने क्रियाकांड को उस अदृश्य काल बिंदु पर ले जाकर केंद्रित करते हैं, जो परलोक के नाम से पहचाना जाता है। ऐसी धारणाओं के प्रति चार्वाक का यह तर्क उपस्थित हो सकता है, किन्तु कोई भी अध्यात्मवादी धर्म भावी सपनों के आधार पर चल नहीं सकता। अध्यात्मवादी धर्म के अनुसार धर्म से यदि वर्तमान क्षण अनुगृहीत नहीं होता है, तो भविष्य में लाभ हो ही नहीं सकता। स्वर्ग और मोक्ष को मैं नकारता नहीं हूं किन्तु जो व्यक्ति नरक के भय से अथवा स्वर्ग और मोक्ष के प्रलोभन से धर्माचरण करता है वह सही माने में धार्मिक हो ही नहीं सकता। 'मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तम'—उत्कृष्ट मुनित्व का साधक वह है जो मोक्ष और संसार दोनों के प्रति निःस्पृह रहता है। प्रश्न हो सकता है कि आचार विधान की समूची प्रक्रिया की मूलभूत प्रेरणा तो मोक्ष ही है, फिर मोक्ष निरपेक्ष होकर आचार का पालन कैसे किया जा सकता है।

मोक्ष हर धार्मिक व्यक्ति की मंजिल है पर उसे परलोक के ही साथ जोड़ने से कठिनाई उपस्थित होती है। क्योंकि 'इहैव मोक्षः सुविहितानाम्'—सुविहित आचार-सम्पन्न व्यक्ति के लिए यह वर्तमान का क्षण ही मोक्ष है। यदि इस क्षण में उसका मोक्ष नहीं होता है तो क्या वह सम्पूर्ण मोक्ष एक साथ घटित हो जाता है? यदि ऐसा नहीं होता है तो फिर वर्तमान के हर क्षण में होने वाले मोक्ष को कैसे नकारा जा सकता है?

प्रश्न—आपके अभिमत से आचार का सम्बन्ध इस लोक और परलोक दोनों से है। परलोक परोक्ष है इसलिए उसमें होने वाले लाभ भी परोक्ष हैं। वर्तमान जीवन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने वाला लाभ क्या हो सकता है?

उत्तर—आचार का व्यावहारिक फलित है नैतिकता। नैतिकता का सबसे बड़ा लाभ है अभय। अप्रामाणिक व्यक्ति भयभीत रहता है, जबकि प्रामाणिकता भय का अतिक्रमण कर व्यक्ति को सर्वथा अभय बना देती है। नैतिकता का दूसरा बड़ा लाभ है मानसिक शांति। मन की अशांति सब अशांतियों का मूल है। इसे

दूर करने के लिए व्यक्ति नशीली औषधियों का प्रयोग करता है। लेकिन बाहरी प्रयोग से जो शांति आती है वह क्षणिक होने के साथ कृत्रिम होती है। भीतर से जो शांति उद्भूत होती है, वह अध्यात्म के प्रयोग से आती है, इसलिए वह बाह्य विक्षेपों से टूट भी नहीं सकती। समत्व का विकास, सौहार्द का विकास, संयम का विकास आदि विविध रूपों में अनुशीलित आचार का प्रत्यक्ष लाभ दृष्टिगोचर होता है।

भगवान् बुद्ध ने कहा—'एहिपस्सिक'—आओ, देखो, ध्यान करो, तत्काल लाभ मिलेगा। तत्काल लाभ की अनुभूति कराने वाला धर्म ही नगद धर्म या जीवित धर्म हो सकता है। इस प्रकार लगभग सभी धार्मिक धर्म का वर्तमान फल बताते ही हैं और उनके साथ भावी परिणतियां भी बताते हैं क्योंकि वर्तमान के शुभ संस्कार भविष्य की शुभ प्रतिक्रिया से शून्य नहीं हो सकते। उक्त संदर्भों से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि समाज व्यवस्था की दृष्टि से आचार का लाभ वर्तमान तक सीमित रहता है। किन्तु अध्यात्म की धारा सतत प्रवाही है। वह वर्तमान और भविष्य दोनों को अभिषिक्त करती हुई व्यक्ति को लाभान्वित करती है।

प्रश्न—नैतिक आचरण बाहरी दबाव से नहीं आता, फिर चाहे वह राजनैतिक हो, सामाजिक हो या धार्मिक। अपने अन्तर् विवेक द्वारा ही व्यक्ति नैतिकता के उच्चतम स्तर पर पहुंच सकता है। अन्तःकरण से उद्बुद्ध होने वाली नैतिक सूझ के लिए आंदोलनों का भी कोई औचित्य है?

उत्तर—नैतिकता का मूलभूत आधार आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक प्रवृत्ति के लिए बाह्य आंदोलनों के आगे प्रश्नचिह्न उपस्थित करना युक्ति-संगत है, क्योंकि आंदोलन मात्र बाहरी प्रेरणा जैसा प्रतीत होता है। किन्तु मेरे अभिमत से आंदोलनों का कोई एक निर्धारित स्वरूप नहीं है। आंदोलन आत्म प्रेरित भी होते हैं और पर-प्रेरित भी। इस प्रकार आंदोलन हिंसक या हिंसा को प्रोत्साहन देने वाले भी होते हैं और अहिंसक भी। मूलतः आंदोलन का लक्ष्य होता है जन मानस को प्रेरित करना, सुप्त चेतना का जागरण करना। यद्यपि सब आंदोलन हिंसा या अहिंसा प्रेरित ही नहीं होते, फिर भी आंदोलन शब्द के साथ एक भ्रम जुड़ा हुआ है जो उसे बाह्य प्रेरणा की उत्पत्ति और हिंसा की उसकी निष्पत्ति के रूप में स्वीकृति देता है। किंतु नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए जो आंदोलन चलते हैं वे विशुद्ध अहिंसा के धरातल पर खड़े होते हैं। आध्यात्मिक आधार वाली नैतिकता को बल देने के लिए अणुव्रत जैसे आंदोलन चलते हैं वे मात्र जागरण की प्रेरणा के लिए होते हैं पर उनमें हिंसा, बाध्यता या आरोपण जैसी कोई स्थिति नहीं होती, इसलिए ऐसे आंदोलनों के पुरावर्ती उनके औचित्य संबंधी प्रश्नचिह्न स्वयं उत्तरित हो जाते हैं।

नैतिकता : स्वभाव या विभाव

प्रश्न—पश्चिमीय आचारशास्त्र के व्याख्याता शेफ्ट सबरी ने ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में नैतिक मूल्यों का विश्लेषण किया। उनका अभिमत है कि व्यक्ति व्यक्ति में नैतिकता की भावना उसी रूप में उपस्थित है जिस प्रकार उसके अन्तःकरण में सौन्दर्य की भावना होती है। उनकी दृष्टि में शुभ और सुन्दर एक है। इस सम्बन्ध में आपकी क्या राय है?

उत्तर—अस्तित्व बोध आत्मा का सहज स्वभाव है। यह एक ऐसा दीप है, जो निरन्तर जलता रहता है। इससे ऐसी ज्योति उद्भूत होती रहती है, जो कभी बुझती नहीं। इसकी परम्परा अविच्छिन्न चलती है। यह आत्मा का सहज परिणमन है। सिद्धान्त की भाषा में यह पारिणामिक भाव है। यह स्वभाव से शुद्ध है इसलिए इसके परिवेश में शुभ या नैतिकता की उपस्थिति सहज रूप से हो जाती है। क्योंकि जो शुद्ध है वह अशुद्धता को कभी पसंद नहीं कर सकता। इस दृष्टि से हर व्यक्ति में अन्तर्निहित नैतिकता की भावना को नकारने का कोई कारण नहीं है।

हर व्यक्ति में निरन्तर नैतिकता की भावना रहती है, यह एक नैतिक मूल्य प्रस्थापक की धारणा है। मैं इससे भी आगे देखता हूं। मेरे अभिमत से प्रत्येक व्यक्ति में अध्यात्म की चेतना होती है। अध्यात्म वह अखंड और अनन्त प्रकाश है जो कभी टुकड़ों में विभाजित नहीं हो सकता। फिर भी उसको व्यावहारिक रूप में पकड़ने के लिए प्रतीकों का आलम्बन लिया जाता है। नैतिकता भी अध्यात्म का एक प्रतीक है, एक अंग है। अध्यात्म के संस्कारों की स्फुरणा में व्यक्ति सहजतया अनैतिक हो ही कैसे सकता है?

प्रश्न—आपने शेफ्ट सबरी के सिद्धांत के साथ अपनी सहमति व्यक्त की और मनुष्य मात्र में अध्यात्म या नैतिकता की उपस्थिति को स्वीकार किया। अब प्रश्न यह है कि व्यक्ति में नैतिकता स्वाभाविक है तो फिर वह अनैतिक क्यों बनता है?

उत्तर—व्यक्ति के अनैतिक होने में मैं प्रमुख रूप से दो निमित्तों को प्रस्तुत

करना है—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक निमित्त है—कार्मिक स्पन्दन और बाह्य निमित्त है—सामाजिक परिस्थितियां। कर्म का उदय होने से व्यक्ति के मन में इच्छा और आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति को बढ़ावा मिलता है—बाह्य वातावरण से। दूसरे व्यक्ति के पास अधिक वैभव देखकर उसके मन में यह भाव पैदा होता है कि अमुक के पास इतनी साधन सामग्री है, इतना ऐश्वर्य है तो मेरे पास क्या नहीं है? यह मनोभाव स्पर्धा को जागृत करता है और व्यक्ति अनैतिक कर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

उक्त सन्दर्भ में यह तथ्य फलित होता है कि अनैतिकता का जनक समाज है। समाज न हो तो स्पर्धा नहीं होती और स्पर्धा के अभाव में अनैतिकता को जन्म देने वाली मनोवृत्ति नहीं बन सकती। इन बाह्य निमित्त के समाप्त होने पर भीतरी स्पन्दन भी निष्क्रिय हो जाता है।

मूलतः व्यक्ति शुद्ध होता है और वह शुद्धि की ओर ही निरन्तर प्रयाण करता है किन्तु कार्मिक स्पन्दन तथा बाह्य वातावरण और परिस्थितियां उस पर अशुद्धता का आरोपण कर देती हैं। इससे ज्ञात होता है कि व्यक्ति उदय और क्षयोपशम—इन दो के संघर्ष में रहता है। उसकी विशुद्धि बाह्य निमित्तों और कार्मिक स्पन्दनों से आवरित होती है तब वह अनैतिक बनता है।

प्रश्न—व्यक्ति की अनैतिक मनोवृत्ति को बदलने का उपाय क्या हो सकता है?

उत्तर—नैतिकता और अनैतिकता की इस चर्चा का सम्बन्ध प्रमाद और अप्रमाद से है। अनैतिकता का मूल प्रमाद है। प्रमाद की सघनता में कर्म का उदय व्यक्ति पर हावी हो जाता है और वह करणीय अकरणीय का विवेक खो बैठता है। अप्रमाद के उपदेश का अर्थ यही है कि व्यक्ति पल-पल सावधान रहे, अपनी चेतना पर प्रमाद को हावी न होने दे।

पमायं कम्ममाहंसु अप्पमायं तहावरं।'

प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है। जिस क्षण प्रमाद का प्रभाव तीव्र होता है, क्षयोपशम आवृत हो जाता है। इस आवरण को तोड़ने के लिए सतत पुरुषार्थशील अर्थात् अप्रमत्त रहने की अपेक्षा है। 'जिन खोजा तिन पाइयां'—जिसने निरन्तर खोज की उसने सत्य को पा लिया। इस प्रसंग में मुझे एक कहानी याद आ रही है—

प्राचीन समय की बात है। राजा शहर से बाहर कहीं जा रहा था। उसने देखा एक व्यक्ति किसी स्थान को खोद रहा है। उसका शरीर पसीने से तरबतर हो गया। फिर भी वह गहरी लगन से खोदता जा रहा है। राजा ने पूछा—तुम यहां क्या खोदते हो? इससे तुम्हें क्या मिला? उसने एक चमकता हुआ सोने का आभूषण दिखाते हुए कहा—राजन्! मुझे यह बाजूबन्द मिला है। यह बात

मधुकर राजा की आखो मे चमक आ गई। उसने अपनी मत्री-परिषद् को कुछ विशेष स्थानो मे खुदाई करने का निर्देश दिया। खुदाई शुरू हुई। कहीं पानी निकला, कही तेल निकला, कही सोने की खान निकली और कहीं हीरा की खान। खनिज उद्योग के विकास का सारा श्रेय गहराई से खोदने की क्रिया को प्राप्त है।

अध्यात्म के क्षेत्र मे ध्यान-साधना का मूल्यवान स्थान है। ध्यान की पद्धति भी व्यक्ति को भीतर जान और वहा जमे हुए सस्कारो को कुरेदने का निर्देश देती है। यह खोदने और खोजने की वृत्ति निरन्तर बनी रहे। इसीलिए भगवान् महावीर न कहा—'समय गोयम ! मा पमायए।'—गौतम ! क्षण मात्र भी प्रमाद मत करो। यह केवल उपदेश की बात ही नही है, दार्शनिक तथ्य है।

इजिन निरन्तर चलता है तो बिजली मिलती रहती है और फैक्टरी चालू रहती है। इजिन के बद होते ही बिजली बन्द हो जाती है और फैक्टरी की सारी प्रवृत्तियो मे अवरोध आ जाता है। इसी प्रकार शुद्धि के लिए निरन्तर पुरुषार्थ होता रहे तो अप्रामाणिकता टिक ही नही सकती। जिस समय व्यक्ति पुरुषार्थ को छोड प्रमत्त बन जाता है वह अनैतिकता की ओर गति करने लगता है। अनैतिक मनोवृत्ति को बदलने के लिए व्यक्ति को अप्रमाद अर्थात् सतत जागरूकता का पथ पकडना होगा। इसी माध्यम से वह आत्मोन्मुख बनकर कार्मिक स्पन्दनों और बाह्य परिस्थितियो से अप्रभावित रह सकता है।

यान्त्रिक विकास और नैतिकता

प्रश्न—कुछ विचारकों का अभिमत है कि आर्थिक प्रगति नैतिकता को विकसित करती है। कुछ विचारकों की दृष्टि से आर्थिक प्रगति अत्याचार और अनैतिकता को प्रोत्साहन देती है। इस संदर्भ में महात्मा गांधी ने अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है—जब यन्त्र आ जाते हैं तो नैतिकता चली जाती है। अपने कथ्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे कहा कि लोहे की मशीनों का युग मनुष्य के हृदय को भी लोहा बना देता है। इस विषय में आपका अभिमत क्या है?

उत्तर—किसी भी तथ्य पर चिन्तन करने के लिए मैं सापेक्ष दृष्टि का उपयोग करना पसन्द करता हूं। आर्थिक और राजनैतिक विकास मनुष्य की नैतिक चेतना को विकसित करने में कारण बन सकता है। कारण दो प्रकार का होता है—उपादान और निमित्त। नैतिकता का उपादान कारण मनुष्य है। मनुष्य का चिन्तन और व्यवहार ही नैतिकता या अनैतिकता का उत्स है। किन्तु नैतिकता के उत्कर्ष या अपकर्ष की सारी संभावनाएं मनुष्य में ही नहीं हैं। कुछ निमित्त कारण भी इसमें अपना प्रभाव डालते हैं। उन निमित्त कारणों में आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का भी अपना योग रहता है।

एक दृष्टि से जीवन का सारा तन्त्र अर्थतन्त्र पर निर्भर है। जिस व्यक्ति को जीवन-यापन के साधन ही सुलभ नहीं हैं, वह नैतिकता और अनैतिकता का चिन्तन किस धुरी पर खड़ा होकर करेगा? कोई कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है जो किसी भी परिस्थिति में नैतिक मूल्यों की अवहेलना नहीं करता। किन्तु सामान्यतः जीवन-यापन की समस्या को समाहित करके ही नैतिक दृष्टि से चिन्तन किया जाता है। इस स्थिति में आर्थिक और राजनैतिक प्रगति को नैतिक प्रगति में सहायक माना जा सकता है। किन्तु प्रश्न का दूसरा हिस्सा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह सच है कि औद्योगिक उन्नति और यन्त्रों का आविष्कार आर्थिक प्रगति में बहुत बड़ा निमित्त है पर उससे मनुष्य की मनोवृत्ति में जिस स्वार्थ का उद्भव होता है, वह नैतिक मूल्यों का विघटक है।

नैतिकता का विकास मनुष्य को प्रधान मानकर चलने से ही हो सकता है।

क्योंकि नैतिकता मनुष्य समाज में मनुष्य के द्वारा आचरित तथ्य है। औद्योगिक प्रगति में यन्त्रों का योगदान है। यन्त्र युग में मनुष्य गौण हो जाता है और यन्त्र प्रधान हो जाते हैं। यन्त्रों की प्रधानता मनुष्य को निर्वीर्य बना देती है। सैकड़ों व्यक्तियों द्वारा निष्पन्न होने वाला श्रम एक यन्त्र के द्वारा सम्पादित होने से सम्पूर्ण मानव-जाति प्रभावित होती है।

यान्त्रिकीकरण से पहले मनुष्य को श्रम अधिक करना होता था। अधिक श्रम का विभाजन अधिक मनुष्यों में होता। उससे उन्हें अपनी जीविका उपलब्ध करने में सुगमता रहती। यन्त्रों पर आधिपत्य कुछ व्यक्तियों का होता है, इसलिए उनसे अर्जित अर्थ भी कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाता है। धन का केन्द्रीकरण होने से एक स्थान पर उसका अतिरिक्त संग्रह होता है और दूसरे स्थान पर अर्थ का अभाव हो जाता है। वहां मनुष्य की प्रधानता न होने से नैतिकता की बात गौण हो जाती है। सम्पन्न व्यक्ति आकांक्षा की पूर्ति के लिए अनैतिकता करते हैं और विपन्न व्यक्ति अभावग्रस्त होते हैं। उनके पास रोटी जुटाने के लिए भी साधन पर्याप्त नहीं होते। अतः उनका अनैतिकता की ओर झुकाव होना बहुत साधारण बात है।

गांधीजी ने यान्त्रिक सभ्यता को नैतिकता विहीन बताया, इस तथ्य में उनके अनुभव का योग नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। उन्होंने यन्त्र-युग में होने वाली मनुष्य की उपेक्षा को ध्यान में रखकर ही यह बात कही होगी। निश्चय की भाषा में कहा जा सकता है—आर्थिक प्रगति और यान्त्रिक विकास नैतिकता के विकास और ह्रास दोनों में निमित्त बन सकते हैं।

प्रश्न—यान्त्रिक सभ्यता का नैतिकता पर प्रभाव पड़ता है, यह बात समझ में नहीं आती। क्योंकि यन्त्र तो जड़ हैं। उनका नियोजक मनुष्य है। मनुष्य स्वयं मनुष्य जाति को उपेक्षित कर यन्त्रों को महत्त्व क्यों देगा?

उत्तर—यह बात सही है कि यन्त्र जड़ है। वे नैतिक या अनैतिक कुछ नहीं होते। किन्तु उनके पीछे जो सभ्यता और संस्कार पलते हैं, वे मानव मन को प्रभावित करते हैं। अर्थ जीवन का साध्य नहीं, साधन है। जो साधन मनुष्य को निम्न बना कर स्वयं अग्रणी बन जाते हैं वे नैतिकता के मूल्य को भी कम कर देते हैं।

लोक-जीवन में आज जितनी समस्याएं उभरकर सामने आ रही हैं उन सबके मूल में यह साध्य-साधन का विपर्यास ही काम कर रहा है। सत्ता और सम्पदा राष्ट्र-सेवा तथा जीविका का साधन है। जब मनुष्य सत्ता को हस्तगत कर राष्ट्र सेवा की बात विस्मृत कर देता है और सम्पदा से जीवन-यापन की बात गौण कर उसे सर्वाधिक मूल्य दे देता है तब साधन साध्य की महत्ता प्राप्त कर लेते हैं। अनैतिकता का जन्म यहीं से होता है। मनुष्य की यह भूल अपने पैरों पर अपने हाथ से कुल्हाड़ी का प्रहार करने जैसी है। जिस अर्थ को वह अपने सुखी जीवन का माध्यम

बनाता है, वही उसकी शांति में बाधक बन जाता है।

मनुष्य यन्त्र को महत्त्व देता है अपनी सुविधा के लिए, किन्तु यान्त्रिक सभ्यता जब उस पर हावी हो जाती है, तब वह करणीय और अकरणीय का विवेक खो देता है। जिस विवेक के सहारे वह नैतिक मूल्यों की यात्रा करता है उसके अभाव में वह यात्रा स्थगित हो जाती है और अनैतिकता के संस्कार पुष्ट होने लगते हैं।

प्रश्न—कोई व्यक्ति परिस्थितिवश अनैतिक कर्म करता है। वह डाका डालता है, चोरी करता है या कुछ करता है। वह दोष उन परिस्थितियों का है या उस व्यक्ति का है?

उत्तर—अनैतिकता के पीछे केवल परिस्थितियों की ही प्रेरणा नहीं और भी बहुत कुछ है। विपन्न वर्ग के व्यक्ति जीवन की सामान्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए गलत काम करते हैं। उनकी कोई ऐसी बौद्धिक भूख नहीं होती, जिसको पूरा करने के लिए उन्हें अनैतिक कर्म करना पड़े। सम्पन्न राष्ट्रों में बड़े बड़े व्यक्ति हर बात में अनैतिक व्यवहार भले ही न करें, मिलावट या छिटपुट चोरी जैसी घटनाएं घटित न होने पर बड़ी-बड़ी घटनाओं को वहां भी नहीं रोका जा सका है।

सम्पन्न राष्ट्रों में सम्पन्न लोगों द्वारा की जाने वाली अनैतिक प्रवृत्तियों के पीछे उनकी महत्त्वाकांक्षा बहुत बड़ा निमित्त बनती है। कुछ व्यक्ति हॉबी के कारण ऐसे कामों में प्रवृत्त होते हैं। जैन इतिहास में प्रभव चोर (जो आगे चलकर जिन शासन में प्रभावक आचार्य हुए) की घटना मिलती है। प्रभव राजकुमार था। वह किसी परिस्थिति से प्रताड़ित होकर चोरी नहीं करता था। चोरी उसकी हॉबी थी। कुछ व्यक्ति गलत संस्कारों के जागरण से अनैतिक कर्म करते हैं। सम्पर्क और साहचर्य भी गलत रास्ते पर ले जाने में निमित्त बनते हैं। कुछ व्यक्ति प्रतिशोध की प्रेरणा से प्रेरित होकर नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करते हैं और कुछ व्यक्ति परिस्थिति से विवश होकर अपने मन को अनैतिकता में नियोजित करते हैं। इस प्रकार केवल व्यक्ति या केवल परिस्थिति को ही दोषी न ठहराकर बहुमुखी कारण शृंखला पर ध्यान देना जरूरी है।

अट्टा विसता अदुवा पमत्ता—आचारांग के इस सूक्त में अभाव और अतिभाव दोनों को बुराई में निमित्त माना गया है। अभाव से व्यक्ति आर्त होता है और अतिभाव से प्रमादी होता है। आज अभाव से संघर्ष करने वालों के लिए 'अन्त्योदय' नाम से नयी योजना आयी है और अतिभाव की समस्या का समाधान है अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रह। किसी भी योजना की क्रियान्विति हो, मनुष्य अनैतिकता से नैतिकता की ओर गति करे, यह हर युग की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

नैतिकता : कितनी आदर्श, कितनी यथार्थ

प्रश्न—जर्मनी का प्रसिद्ध तत्त्ववादी विचारक 'काण्ट' नैतिकता को निरपेक्ष आदर्श मानता है। उसके विचार से नैतिकता का विश्व व्यापी नियम है, जो हर देश और हर काल में समान रूप से व्यवहार्य होता है। किसी भी स्थिति में इसमें विरोधाभास उपस्थित नहीं हो सकता। एक ओर हम कहते हैं कि हर राष्ट्र या वर्ग की नैतिकता अपनी अपनी है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और परिस्थिति सापेक्ष है। क्या इस मान्यता के साथ काण्ट के विचारों में विरोध खड़ा नहीं होता है?

उत्तर—अध्यात्म चेतना की भांति नैतिक चेतना भी एक निरपेक्ष आदर्श है। क्योंकि नैतिकता अध्यात्म का अंग है। अध्यात्म की उत्कृष्ट फलश्रुति है समता। समत्व की अनुभूति आत्मा के ऊर्ध्वारोहण की स्थिति में होती है। इस अनुभूति में स्व और पर की संकीर्ण सीमाएं टूट जाती हैं इसलिए इसकी सार्वभौम और सार्वकालिक आदर्शरूपता को नकारा नहीं जा सकता। नैतिकता भी निरपेक्ष आदर्श के रूप में मान्य है किन्तु इसमें जो भिन्नता की प्रतीति होती है उसका आधार है व्यवहार। नैतिक और अनैतिक चेतना की अपनी निश्चित परिभाषा है पर वह अमूर्त है। उसका मूर्त रूप है मनुष्य का नैतिक और अनैतिक व्यवहार। अनैतिक व्यवहार एक देश में एक प्रकार के होते हैं और दूसरे देश में भिन्न प्रकार के हो सकते हैं।

वृक्ष की जड़ एक होती है पर उससे अनेक शाखाएं प्रशाखाएं निकल जाती हैं। मानव शरीर में बीमारी की जड़ एक होती है पर वह निमित्त कारणों के भेद से भिन्न रूप में अभिव्यक्त होती है। सर्दी का निमित्त मिलता है तो प्रतिश्याय हो जाता है। गर्मी का निमित्त मिलने से लू लग जाती है और किसी अन्य निमित्त से दूसरी-दूसरी बीमारियां हो जाती हैं।

शरीर में दर्द होता है वह एक ही प्रकार का है पर स्थान भेद से भिन्न भिन्न नामों से उसका उपचार किया जाता है। घुटनों का दर्द, सिर-दर्द, पेट दर्द, दांत-दर्द, कान दर्द आदि शरीरस्थ विकृति की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं।

पीठ मे फोडा होता है तो उसे अदीठ कहते हैं। बगल के फोडे को खखोलाई, पेट के फोडे को अल्सर और इसी प्रकार बीमारियो के न जाने कितने प्रकार हमारे सामने हैं।

अनैतिक चेतना भी कार्य भेद से नाम भेद पा लेती है। एक देश म एक प्रकार की अनैतिकता होती है, उसे मिटाने के लिए एक प्रकार के सकल्प सुझाए जाते हैं। दूसरे देश म भिन्न प्रकार की अनैतिकता को मिटाने के लिए दूसरे प्रकार के सकल्प कारगर होते हैं। इस दृष्टि से काण्ट के विचारो मे असगति उपस्थित नही हो सकती। क्योकि हर निरपेक्ष तथ्य सापेक्ष रहकर ही अपनी निरपेक्षता प्रमाणित करता है। देश, काल और परिस्थिति सापेक्ष नैतिकता का अर्थ उसके व्यावहारिक क्रियान्वयन स है। मूलत नैतिक चेतना म इससे कोई अन्तर नही आता।

प्रश्न—पश्चिमीय आचार विज्ञान के आलोचक डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा ने काण्ट के सिद्धान्त की समालोचना करते हुए लिखा है कि नैतिकता का निरपेक्ष आदर्श अमूर्त होता है। व्यवहार के धरातल पर अमूर्त आदर्श चलना सभव नही है। इस दृष्टि से क्या यह मान लिया जाय कि नैतिकता के आदर्श मात्र आदर्श हैं, व्यवहार की भूमिका पर उनका कोई मूल्य नही है?

उत्तर—हर अमूर्त तत्त्व व्यवहार के धरातल पर आकर मूर्त हो जाता है। हमारी चेतना अमूर्त है, उसका कोई विभाग नही होता। किन्तु व्यवहार के साथ सम्पृक्त होते ही उसका मूर्तीकरण हो जाता है। शरीर चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम है। वह मूर्त है। उसके सयोग से चेतना भी कथचित् मूर्त हो जाती है। निरपेक्षता की स्थिति म नैतिकता भी अमूर्त तत्त्व है। सत्य, अहिंसा, सौहार्द, मानवीय एकता म विश्वास आदि ऐसे तत्त्व है जिनका कोई रूप नही है, आकार नही है। ये मानवीय चेतना के शुभ सकल्प हैं। काण्ट ने इनको निरपेक्ष नैतिक नियमो के रूप मे स्वीकृति दी है। इस निरपेक्षता के पीछे जो अपेक्षा रही हुई है, उसे ध्यान म रखने से ही इनको सार्वकालिक और सार्वभौमिक मूल्य दिया जा सकता है।

नैतिकता के आदर्श मात्र आदर्श ही होते तो जीवन-विकास मे उनका कोई योगदान नही हो सकता। आदर्श व्यवहार के धरातल पर अवतरित होकर ही उपयोगी हो सकते हैं। मेरे अभिमत से अव्यावहारिक आदर्श नैतिक मूल्यो की परिधि मे आ ही नही सकते।

प्रश्न—नैतिक मूल्यो की प्रस्थापना का उद्देश्य सामाजिक उपयोगिता ही है या उससे व्यक्ति को आत्मतोष भी मिलता है?

उत्तर—उपयोगिता और आत्मतोष परस्पर अनुबंधित नही है। जो तत्त्व उपयोगी होता है वह आत्मतोषकारक हो भी सकता है और नही भी। इसी

प्रकार जिस प्रवृत्ति से मनुष्य को आत्मतोष की अनुभूति होती है, उसके साथ उपयोगिता का अविनाभावी सम्बन्ध नही है। जीर्ण ज्वर को उतारने के लिए 'कटुक चिरायता' दिया जाता है। औषधि की कड़वाहट जीभ के लिए अभीष्ट नही है, पर उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

मनुष्य अपने चिरपालित संस्कार की प्रेरणा से शराब पीता है, चोरी करता है, प्रतिशोध भावना से शत्रु की हत्या करता है और मन में सन्तोष की अनुभूति करता है किन्तु सामाजिक स्तर पर इन वृत्तियों की उपयोगिता को प्रमाणित नही किया जा सकता। इससे यह स्पष्ट होता है कि उपयोगिता और आत्मतोष में ऐसा कोई गठबन्धन नही है कि एक की उपस्थिति में दूसरे का अस्तित्व रहे ही।

नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में भी उपयोगिता के साथ आत्मतोष की अनिवार्यता को स्वीकृति नही दी जा सकती। क्योंकि नैतिक मूल्यों की उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं, पर उससे आत्मतोष की अनुभूति वे ही कर सकते हैं, जो ऊंचा जीवन जीने के लिए उत्सुक हैं तथा जिनके मन में पवित्रता और प्रामाणिकता के प्रति आकर्षण है।

जो व्यक्ति विलासी जीवन जीना चाहते हैं, अपनी आकांक्षाओं को असीमित विस्तार देते रहते हैं और कृत्रिम अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए दौड़ धूप करते हैं, वे सैद्धान्तिक स्तर पर नैतिक मूल्यों का महत्त्व स्वीकार कर सकते हैं किन्तु उनकी व्यावहारिक चेतना उन मूल्यों को आत्मसात नही कर पाती इसलिए वहां आत्मतोष की बात गौण हो जाती है।

आत्मतोष थोपा नही जाता, स्वयं स्फूर्त होता है। इसकी स्फुरणा के लिए लोकजीवन में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था जागृत करने की अपेक्षा है। आस्था के साथ आत्मतोष का अनुबन्ध हो सकता है। नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना का मूलभूत उद्देश्य कुछ भी रहा हो, पर आत्मतोष के अभाव में वे लोक-व्यापी नही हो सकते। इसलिए उनके प्रति आस्था जागृत कर उनकी उपयोगिता और आत्मतोष दोनों की समन्विति करना ही मानव संस्कृति के लिए अधिक अनुकूल है।

नैतिकता का अनुबंध

प्रश्न—कुछ विद्वानो के अभिमत से आचार का संबंध जीवन के साथ है। जीवन के लिए जो शुभ और सुखद है वही नैतिक है। इस संदर्भ मे हर्बट स्पेंसर आदि यह स्वीकार करते हैं कि जीवन बनाए रखने मे जो तत्त्व उपयोगी है, अथवा जो जीवन को बनाये रखने के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, अस्तित्व की सुरक्षा करते हैं, वे सब नैतिक हैं। इस संबंध मे आपका दृष्टिकोण क्या है?

उत्तर—आचारशास्त्र का निर्माण मानव समाज म परस्पर सौहार्द स्थापित करने के लिए तथा व्यवस्थाओ के सम्यक् नियोजन हेतु किया जाता है। इसलिए जीवन और उससे भी आगे मनुष्य जीवन के साथ आचार के संबंध की बात को नकारने की अपेक्षा नही है। जहा तक शुभ का प्रश्न है, वह भी नैतिकता के अनुकूल तत्त्व है। शुभ आचरण नैतिकता की कसौटी है। किसी भी व्यक्ति के शुभ आचरण स समाज म और व्यक्ति के जीवन म भी अनुकूल परिस्थितियो का निर्माण होता है। अनुकूलता मे समाज का हित सधता है और व्यक्ति का भी हित सधता है। शुभ आचरण धर्म या अध्यात्म का प्रासंगिक फल है। इसलिए शुभ के साथ आचार का अनुबंध जोडने म सैद्धांतिक या व्यावहारिक कठिनाई नही है।

कठिनाई वहा उपस्थित होती है, जहा सुख को आचार के साथ अनुबंधित किया जाता है। यह समूची सुखवादी विचारधारा जो कि आचारशास्त्रियो द्वारा स्थापित और प्रसारित है, नैतिक मूल्यो की कसौटी नही हो सकती।

सुखवादी विचारधारा प्राचीन काल म भी थी और वर्तमान मे भी है। सुख मनुष्य के लिए वांछनीय है, यह सही है। पर जो सुखद है वह शुभ भी है यह तथ्य विवादास्पद है। व्यक्ति के बहुत से आचरण ऐसे हो सकते है, जिनके द्वारा उसे सुखानुभूति तो हो सकती है, किंतु वे आचरण नैतिकता की परिधि म नही आ सकते।

एक व्यक्ति दूसरे पर आक्रमण कर सुख की अनुभूति करता है। एक व्यक्ति अपने मित्र को बचाने के लिए असत्य भाषण कर परम सन्तोष का अनुभव करता है। प्रतिशोध की भावना स अपने तथाकथित प्रतिपक्षी को आपदाओ मे फसाने

वाला व्यक्ति सुखानुभूति करता है। कुछ लोगों को दूसरों को तकलीफ देने में ही प्रसन्नता का अनुभव होता है। किसी युग में भैंसा, हाथियों और मेढ़ों को मनोरंजन की दृष्टि से ही लड़ाया जाता था। बच्चे मेढक को उठाकर पटकते हैं अथवा उस पर पत्थर फेंककर खुश होते हैं। सुखानुभूति और प्रशस्ति के ये भिन्न भिन्न मापदंड सूचित करते हैं कि 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना'— मनुष्य की रुचि भिन्न भिन्न होती है। एक व्यक्ति जिसे गलत मानता है, दूसरा उसी को प्रशस्त मान लेता है। इन आत्म स्थापित मंतव्यों के आधार पर सुख को नैतिकता की कसौटी रूप में स्वीकृति नहीं दी जा सकती।

सुख यदि नैतिकता के लिए कपोपल बन जाता है तो फिर नैतिक कर्तव्य नाम की कोई चीज रह ही नहीं पायेगी। सुख को नैतिकता का लक्षण मानने से अतिव्याप्त और अव्याप्त दोष सामने आ जाते हैं। न्याय ग्रंथों में लक्षण उसे कहा गया है जो व्यवच्छेद होता है। जो धर्म वस्तु को दूसरी वस्तुओं से पृथक कर सकता है वही उसका लक्षण बन सकता है, जैसे जीव का लक्षण है चैतन्य। चैतन्य ऐसा लक्षण है जो न जीव को छोड़कर कहीं जाता है और न जीव ही उसके बिना अपने अस्तित्व को रख पाता है। इसलिए यह सही लक्षण है। जो लक्षण अव्याप्त और अतिव्याप्त होते हैं वे लक्षण नहीं, लक्षणाभास होते हैं।

व्यक्ति युद्ध करता है। युद्ध में शत्रु को कष्ट देने से सुख की अनुभूति होती है पर वह कर्म नैतिक नहीं हो सकता। इसी प्रकार नैतिक कर्तव्य के निर्वाह हेतु व्यक्ति को बहुत अधिक दुःख भी झेलना पड़ता है। एक नैतिक व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में रिश्वत नहीं देता, फलतः उसे मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत एक व्यक्ति अनैतिक आचरण कर मुसीबतों से बच जाता है। विषम परिस्थिति में रिश्वत देकर थोड़े में छुट्टी पा लेता है। इन सब तथ्यों के आधार पर यह बात स्पष्ट होती है कि जो सुखद है वह नैतिक है, यह व्याप्ति नहीं बन सकती। सुख के साथ नैतिकता की व्याप्ति अनैकान्तिक है। कुछ सुखद स्थितियां नैतिकता को पुष्ट कर सकती हैं पर प्रत्येक सुख के साथ नैतिकता का अनुबंध नहीं हो सकता।

अब रही बात जीवन को बनाये रखने की या अस्तित्व सुरक्षा की। अस्तित्व सुरक्षा के प्रश्न को नैतिकता मान लिया जाये तो फिर नैतिक मूल्यों का संदर्भ ही रूपान्तरित हो जायेगा। प्राचीन काल में आपद् धर्म का सिद्धांत प्रचलित था। 'आपत्तिकाले दोषो नास्ति'—आपद् काल वही होता है जहां जीवन खतरे में हो जाता है। उस समय यदि कुछ भी करने में दोष न हो तो फिर नैतिकता का कोई स्थायी मानदंड हो ही नहीं सकता।

जीवन को ही सर्वाधिक मूल्य देने वाले व्यक्ति उसको बनाये रखने के लिए हर प्रवृत्ति को विहित मान लेते हैं पर यह सर्वसम्मत नियम नहीं है। नैतिकता

वह स्थिति है जो केवल मानवीय मूल्यों की ही नहीं, धृति की भी कसौटी है। कसौटी के समय जो नियम लागू नहीं होता, वह सामान्य स्थिति में कैसे हो सकता है? नैतिक मूल्यों की कसौटी के रूप में मानव जाति के तीन वर्ग स्थापित किये जा सकते हैं—

१ धृति प्रधान

इस वर्ग में वे व्यक्ति आते हैं जो आपद धर्म की बात को सर्वथा अस्वीकार कर चलते हैं, वे किसी भी स्थिति में अविहित कर्म से सहमत नहीं होते। इन व्यक्तियों की धृति असाधारण होती है।

२ मध्यम धृति

दूसरे वर्ग के व्यक्तियों की दृष्टि सम्यग् होती है। वे करणीय और अकरणीय की भेद रेखा को समझते हैं। पर आपत्काल में अशक्यता या विवशता मानकर वैसा कर्म करते हैं जिसे वे निर्दोष नहीं समझते। इन व्यक्तियों की धृति मध्यम कोटि की होती है।

३ धृति-शून्य

इस श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो न तो धृति का मूल्य समझते हैं और न उनकी प्रज्ञा निर्मल होती है। उनकी धारणा के अनुसार आपत्काल में सब कुछ विहित होता है।

उक्त तीनों वर्गों में प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों का आचार भी शुद्ध होता है और उनकी दृष्टि भी विशुद्ध होती है। दूसरी श्रेणी के व्यक्ति कदाचित आचार से स्खलित हो जाते हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण निर्मल और सही होता है। तीसरी श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो आचार से भी स्खलित हैं और उनका दृष्टिकोण भी मिथ्या है। वे कर्म दोष के साथ दृष्टि-दोष से भी दूषित होते हैं। वे गलत काम करके उसे निर्दोष स्थापित करते हैं।

प्राचीन काल में नैतिक और अनैतिक शब्दों के स्थान पर विहित और अविहित शब्दों का प्रयोग होता था। अस्तित्व की सुरक्षा के लिए अविहित को विहित मानना सुखवादी दृष्टिकोण हो सकता है पर नैतिक मूल्यों के संदर्भ में वह उचित प्रतीत नहीं होता। नैतिकता का अनुबन्ध शुभ के साथ हो सकता है, सुख के साथ उसका ऐकान्तिक अनुबन्ध नहीं है।

नैतिक मूल्य : एक सापेक्ष दृष्टि

प्रश्न—कुछ विद्वानों का यह अभिमत है कि नैतिक नियम गणित के नियमों की भांति सुनिश्चित न होकर अनिश्चित और अस्थायी हैं। इस अभिमत के साथ आपकी सहमति कहां तक है?

उत्तर—नैतिकता के सम्बन्ध में यह एक भ्रान्ति है कि वह परिवर्तनशील है। जिस अर्थ में अणुव्रत नैतिकता की व्याख्या करता है, वहां नैतिकता का मूल आधार है प्रामाणिकता। प्रामाणिकता गणित के नियमों की भांति निश्चित है, स्थायी है। इसमें कभी किसी प्रकार के परिवर्तन की संभावना नहीं है। जो व्यक्ति इसे अनिश्चित और अस्थायी बताते हैं, उनकी दृष्टि में अध्यात्ममूलक नैतिकता का स्वरूप अज्ञात है। वे मात्र राजनीति के नियमों को नैतिकता के रूप में लेते हैं। राजनीति के नियम आवश्यकतावश बनाये जाते हैं और आवश्यकता न रहने पर बदल दिए जाते हैं। ये नियम केवल उपयोगितामूलक होते हैं। समाज और राष्ट्र के हित में उपयोगिता को मान्य कर उस स्थिति को नैतिक परिवेश देने से नैतिकता के अनिश्चित होने की बात सामने आती है। राजनीति के बदलते हुए संदर्भों को लक्षित कर राजर्षि भर्तृहरि अपने 'नीतिशतक' में एक व्याख्या देते हैं—

'सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च,
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुर नित्य धनागमा च,
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।'

एक वारवधू की भांति राजनीति के अनेक रूप हैं। कभी वह सत्य पर बल देती है तो कभी असत्य के पक्ष को प्रबल बना देती है। कभी वह कठोर शब्दों के प्रयोग का औचित्य प्रमाणित करती है और कभी प्रियभाषिता का महत्त्व बताती है। किसी समय वह हिंसा और क्रूरता की उपयोगिता सिद्ध करती है तो किसी समय दयालुता और करुणा का यशोगान करने लगती है। कभी वह स्वार्थपरता को प्रोत्साहन देती है और कभी उदारता को। किसी समय वह पानी की तरह पैसा बहा देती है और किसी समय अर्थ-आगमन के नये नये स्रोत खोल लेती है।

राजनीति की बहुरूपता को नैतिकता मे आरोपित कर उसे अनिश्चित और अस्थायी बताना एक दृष्टि से नैतिकता के सही स्वरूप को न समझने का परिणाम है।

प्रश्न—पिछली किसी चर्चा मे आपने नैतिकता को शाश्वत और सामयिक—इन दो प्रकारो मे विभाजित किया था। सामयिक का मतलब तो अस्थायी और अनिश्चित ही होता है, फिर उसे अनिश्चित मानने मे क्यों कठिनाई है ?

उत्तर—नैतिकता शब्द का प्रयोग जहा हम केवल धर्माचरण के अर्थ मे करते हैं, वहा उसके सार्वभौम और सार्वकालिक होने मे कोई बाधा नही है। यदि हम इसका उपयोग समाज और राष्ट्र के हित के अर्थ मे करें तो इसके स्थायित्व में बाधा उपस्थित होती है। प्रश्न मे कठिनाई के अभाव का जो सकेत दिया गया है, नैतिकता के आधार को न समझने से हुआ है। मूल बात यह है कि भारतवर्ष मे प्राचीन समय म नैतिकता शब्द बहुत प्रचलित नही था। इस शब्द का प्रयोग प्रमुखतया पश्चिम के आधार पर हुआ है। पाश्चात्य लोग नैतिकता और अध्यात्म को बाटते हैं। वे स्प्रिच्युल वैल्यु (Spiritual Value) और मोरल वल्यु (Moral Value) इस प्रकार का विभाजन कर नैतिकता को धर्म से दूसरी भूमिका पर ले जाते है।

भारतीय दर्शन मे नैतिकता के स्थान पर धर्म का प्रयोग है। यहा आचार-सहिताओ का निर्धारण धार्मिक मूल्यो के आधार पर ही हुआ है। फिर भी वर्तमान म धर्म की अपेक्षा नैतिकता के प्रति लोगो का झुकाव अधिक है। इसका एकमात्र कारण है धर्म के साथ सम्प्रदायो का गठबधन। नैतिकता के साथ सम्प्रदायवाद जैसी कोई कठिनाई नही है इसलिए लोकजीवन म उसके प्रति आकर्षण है और वह शीघ्र ही बुद्धिगम्य हो जाती है।

अब प्रश्न रहा नैतिकता के सामयिक या परिवर्तनशील होने का। मैं समझता कि यह परिवर्तनशीलता देश-कालकृत है। जिस समय, जिस क्षेत्र म बुराई का जो रूप होता है उसी के आधार पर आचार सहिता का निर्धारण होता है। बुराई का स्वरूप बदलता है तो नियमो का स्वरूप भी बदल जाता है। पर इससे नैतिकता का आधार नही बदलता। जो बदलते है व नियम हैं। जैसे किसी समय अधिक रिश्वत लेने की बुराई प्रचलित होती है तो उसके प्रतिपक्षी नियम का निर्धारण होता है। जिस समय वह बुराई समाप्त हो जाती है और दूसरे रूप म उसका अस्तित्व सामने आता है तब उस नियम को उपेक्षित कर दूसरा नियम प्रस्तुत किया जाता है। इस दृष्टि से हम नैतिकता को सामयिक या अनिश्चित कह सकते हैं, पर उसके शाश्वत आधार को नकारा नही जा सकता।

प्रश्न—एक व्यक्ति अस्तित्व-सुरक्षा के लिए सघर्ष करता है और उसे नैतिक मानकर करता है। दूसरा व्यक्ति आदर्श के लिए अपने प्राण त्याग देता है और इस

आत्म बलिदान की घटना को परम नैतिक मानता है। ऐसी स्थिति में नैतिक मूल्य आपस में टकराते हैं। यदि हम नैतिक आदर्शों के स्थायित्व की बात को पकड़कर बैठ जायेंगे तो उस टकराव का क्या समाधान होगा ?

उत्तर—अस्तित्व-सुरक्षा और प्राण-त्याग के साथ नैतिक मूल्यों को अनुयोजित करने से नैतिकता का कोई स्थिर मानदण्ड हमारे सामने नहीं रहता। नैतिकता की परिभाषा किसी व्यक्ति की अपनी धारणाओं और सुविधाओं के आधार पर निश्चित नहीं हो सकती। नैतिक मूल्य व्यक्ति, देश और समय निरपेक्ष होते हैं। यदि हम एक-एक व्यक्ति के अपने स्वार्थ हेतु स्थापित मानदण्ड के आधार पर नैतिकता को परिभाषित करेंगे तो अनैतिक जैसा रहेगा ही क्या ? एक चोर और एक डाकू भी अपने सामने उपस्थित परिस्थितियों की बाध्यता से चोरी करने और डाका डालने में प्रवृत्त होता है। तोड़-फोड़मूलक हिंसात्मक गतिविधियों में भाग लेने वालों की अपनी समस्याएं हैं। और भी ऐसी अनेक प्रवृत्तियां हैं जो निरपेक्ष नैतिक मूल्यों की कोटि में नहीं आती, किन्तु उनके साथ व्यक्ति या समाज के अस्तित्व की सुरक्षा का प्रश्न जुड़ा हुआ है।

डार्विन ने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए संघर्ष को मान्यता दी है। प्रो० एलेग्जेण्डर ने नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना में उपस्थित संघर्ष को स्वीकार करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति नये मूल्यों से प्रेरित होकर जीवन के नये मार्ग पर चलना चाहते हैं उनके सामने अनेक प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित हो सकती हैं। संभव है उन्हें अपने आदर्शों की सुरक्षा के लिए जीवन का बलिदान भी करना पड़े, किंतु कालान्तर में वे आदर्श समाज को प्रभावित कर लेते हैं।

डार्विन और एलेग्जेण्डर दोनों संघर्ष की बात स्वीकार करते हैं, फिर भी दोनों का आधार भिन्न है। एक का आधार है अस्तित्व की सुरक्षा और दूसरे का आधार है आदर्श की सुरक्षा। आधार का भेद होने से नैतिक मूल्यों के निर्धारण में होने वाले टकराव को टाला नहीं जा सकता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि टकराव नैतिक आदर्शों के स्थायित्व के प्रश्न पर होता है। इस टकराव का हेतु है अध्यात्ममूलक नैतिकता को निरपेक्ष आदर्श मानकर उसे उपेक्षित करना तथा सापेक्ष आदर्शों को अतिरिक्त मूल्य देना। निरपेक्ष और सापेक्ष, जो आदर्श जिस रूप में हैं, उन्हें उसी रूप में मान्य करने से टकराव की स्थिति उत्पन्न ही नहीं होती।

सत्य की प्रतिपत्ति के माध्यम

प्रश्न—अमरीकी वैज्ञानिक डॉ० चार्ल्स डी लीक का अभिमत है कि परम्परागत आचार विज्ञान रूढ़िवादी आदर्शवाद है। विज्ञान के क्षेत्र में उस अनुभव का मूल्य नहीं होता जिसका निरीक्षण न हो सके अथवा जिस पर प्रयोग न हो सके। नैतिक मूल्य तत्त्वात्मक धारणाएं हैं इसलिए वे विज्ञान के विषय नहीं हैं। सत्य, शिव और सुन्दर के निरपेक्ष तथा शाश्वत मूल्यों को वैज्ञानिक व्याख्यात्मक विधि से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से मूल्यों की धारणा अवैज्ञानिक है। डॉ० लीक के इन विचारों पर आपकी क्या टिप्पणी है?

उत्तर—डॉ० लीक के उक्त अभिमत से सहमत होने में कोई कठिनाई नहीं है। क्योंकि अवैज्ञानिक होने का अर्थ अवास्तविक नहीं है। जिस दिन विज्ञान के पास नैतिकता के पीछे रहे हुए मनोभाव को पकड़ने के साधन विकसित होंगे, उस दिन इसकी वैज्ञानिकता सिद्ध होगी, पहले नहीं हो सकती। यह स्वीकृति विज्ञान जगत् की विनम्रता है। इससे वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। परिपूर्ण सत्य की व्याख्या हो नहीं सकती। सत्य की प्रतिपत्ति के दो माध्यम हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। व्यवहार नय स्थूल सत्य को अभिव्यक्ति देता है तथा सूक्ष्म या पूर्ण सत्य का अनुभवगम्य कहकर छोड़ देता है। निश्चय नय के अनुसार हर वस्तु के अनन्त पर्याय होते हैं। एक शब्द के द्वारा एक पर्याय को अभिव्यक्ति मिल सकती है। इस दृष्टि से मूल्यों की जो भी व्याख्या की जाती है, वह अधूरी रहती है। वस्तु के अनन्त धर्म निरपेक्ष होते हैं। उन धर्मों का जब कथन किया जाता है तब सापेक्ष दृष्टि से प्रतिपादन करना पड़ता है। इसी सत्य का उद्घाटन स्याद्वाद करता है कि किसी भी वस्तु के अनन्त धर्मों को एक साथ अभिव्यक्ति देने का सामर्थ्य शब्दों में नहीं है।

वैज्ञानिक पद्धति के मानदण्ड त्रिकालाबाधित होते हैं। जो तथ्य सार्वभौम और सार्वकालिक होता है, उसे वैज्ञानिक अपनी मान्यता देते हैं। सत्य भी देशकालाबाधित होने से ही पूर्ण वैज्ञानिक हो सकता है। जैसे हाइड्रोजन और ऑक्सीजन किसी भी क्षेत्र में कोई भी व्यक्ति मिलाए उससे पानी ही निष्पन्न

होगा। इसी प्रकार जीवन को भावित करने वाले सत्य का प्रयोग कहीं पर किसी भी समय कोई भी करे उससे निष्कर्ष एक ही निकलता है। किन्तु हमारे सामने कठिनाई यह है कि हम सत्य को उसकी व्याख्या के माध्यम से पकड़ते हैं और व्याख्याएं सदा अपूर्ण होती हैं। अपूर्ण होने के कारण मूल्यात्मक धारणाओं को अवैज्ञानिक कहा जा सकता है पर अवैज्ञानिक होने पर भी उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि निरपेक्ष सत्य को पाने का प्रारम्भिक आधार मूल्यों की सापेक्ष व्याख्या ही है।

प्रश्न—नैतिक मूल्यों का उद्देश्य समाज-सुधार है? राष्ट्रीय चरित्र का उन्नयन है? व्यक्तिगत सुख है? या इन सबसे आगे आत्मानुभूति की दिशा में आगे बढ़ना है?

उत्तर—अणुव्रत के माध्यम से जिन नैतिक मूल्यों की व्याख्या की जा रही है उनका मूलभूत उद्देश्य है व्यक्ति के चरित्र की निर्मलता। समाज-सुधार और राष्ट्र सुधार की बात उसके साथ जुड़ी हुई है क्योंकि समाज और राष्ट्र से भिन्न व्यक्ति का अस्तित्व क्या होगा? व्यक्ति का विकास समाज के सन्दर्भ में होता है और समाज का घटक व्यक्ति स्वयं है। व्यक्ति की निर्मलता समाज और राष्ट्र के चरित्र की पवित्रता का हेतु है। व्यक्ति का चरित्र निर्मल नहीं है तो समाज-सुधार और राष्ट्रीय चरित्र उन्नयन की बात मात्र कल्पना बनकर रह जाती है।

नैतिकता का प्रश्न चरित्र शुद्धि के साथ अनुबंधित है और चरित्र शुद्धि आत्म शुद्धि का प्रशस्त पथ है। आत्मानुभूति की बात भी इससे भिन्न नहीं रह सकती, क्योंकि अध्यात्म से प्रेरित समाजाभिमुखी व्यवहार नैतिकता है और अध्यात्म से प्रेरित स्वाभिमुखी व्यवहार आत्मानुभूति है। समाज और राष्ट्र के सन्दर्भ में धर्म या अध्यात्म को जोड़ने से व्यक्ति का जीवन सहज ही उन उन स्थितियों से प्रभावित हो जाता है। अतः हमें यह बात स्वीकार करनी होगी कि नैतिकता व्यष्टि और समष्टि—दोनों पर अपना विशेष प्रभाव छोड़ती है।

प्रश्न—कुछ व्यक्ति प्रशंसा पारितोषिक आदि प्रलोभनों से आकर नैतिक दायित्व के प्रति जागरूक होते हैं और नैतिक मूल्यों के उल्लंघन से प्राप्त होने वाले दंड अथवा सामाजिक अवमानना के भय से अनैतिक कर्मों से बचते हैं। नैतिकता की दृष्टि से ऐसी परिस्थितियों का क्या मूल्य है?

उत्तर—नैतिकता के ये दोनों ही उद्देश्य मूलस्पर्शी नहीं हैं। ये उसके प्रासंगिक परिणाम हैं। जो व्यक्ति नैतिक नियमों का पालन करेगा, उसको प्रशंसा मिलेगी। वह दंड का भागी नहीं बनेगा और उसे सामाजिक अवमानना भी नहीं मिलेगी। फिर भी ये उसके प्रसंगज फल हैं। नैतिकता का मूलभूत उद्देश्य है चित्त की शुद्धि। अप्रामाणिकता से व्यक्ति के चित्त पर जो मल एकत्रित होता है, उसके बुरे संस्कार और अधिक पुष्ट होते हैं। बुरे संस्कारों के कारण व्यक्ति को उन

समय इतना अनुभव नही होता कि वह कोई बुरा काम कर रहा है किन्तु जब वह मल सचित होता जाता है और इतना घनीभूत हो जाता है कि व्यक्ति उसे अनुभव किये बिना नही रह पाता। उस स्थिति मे उसको घोर अनुताप का अनुभव होता है और कभी-कभी तो उस पर पागलपन छा जाता है।

जिस व्यक्ति ने सबसे पहले अणुबम का निर्माण किया था, प्रारम्भ मे वह अपनी सफलता पर खुश रहा होगा। किन्तु जापान में जब उस बम का प्रयोग हुआ और हिरोशिमा म ध्वस की लहर दौड गयी, उस समय वह वैज्ञानिक बौखला गया। इस ध्वस का निमित्त मैं हू सारी हत्याओ का दोष मेरे सिर पर है, इस सवेदना ने उसको बहुत अधिक अशान्त बना दिया।

सम्राट् अशोक ने भयकर युद्ध लडा। जब उसकी आखें खुली तो एक एक कर सारी द्रावक स्थितिया उनके सामने आ गयी। विजय के उन क्षणो मे वे अत्यन्त खिन्न हो गये।

बडे-बडे पापी, चोर, डाकू आदि एक समय पाप के लिए समर्पित रहते हैं, किंतु उनके जीवन मे ऐसे भी क्षण आते हैं जब उन्हें पाप से घृणा हो जाती है। एक बिन्दु पर पहुचने के बाद उनका हृदय बदलता है और उनकी चेतना के केन्द्र मे विस्फोट हो जाता है। प्रथम ऋषि वाल्मीकि आदि के अनेक निदर्शन हमारे सामने हैं, जो अपने जीवन के पूर्व और अन्तिम भाग मे सर्वथा परिवर्तित-से प्रतीत होते हैं।

इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि व्यक्ति चित्त पर मल जमते-जमते चरम सीमा तक पहुच जाता है, तब उसम स्वाभाविक रूप से एक विस्फोट होता है, जो मल की जमी हुई परतो को उतारकर व्यक्ति का अपने भीतर झाकने के लिए प्रेरित करता है।

प्रशसा, पुरस्कार, दड, अवमानना आदि भी व्यक्ति के नैतिक होने मे निमित्त बनते हैं, पर ये समग्र जीवन को रूपान्तरित नही कर सकते। इसलिए इनको मुख्य उद्देश्य नही माना जा सकता। नैतिक आदर्शों को अपनाते समय किसी भी परिस्थिति मे मूल उद्देश्य की विस्मृति न हो, यह आवश्यक है। इसलिए मैं एक बार फिर स्पष्ट करना चाहता हू कि अणुव्रत के मच से हम जिस नैतिकता की चर्चा करते हैं, वह अध्यात्म-सवलित नैतिकता है। इसका सम्बन्ध चैतसिक निर्मलता और व्यवहारो की पवित्रता से है। दूसरे कारण निमित्तमात्र बन सकते हैं, पर व नैतिकता के उपादान नही हो सकते।

भारतीय दर्शनों मे मोक्ष सबधी धारणाए

प्रश्न—भारतीय दशन मे जीवन का चरम लक्ष्य या परम श्रेयस मोक्ष का माना गया है। इसकी उपलब्धि के लिए नतिक मूल्यो की क्या अपेक्षा है? नैतिक मूल्यो की धारणाए सामाजिक अपेक्षा और मानवीय कत्तव्य से अनुबन्धित रहती हैं जबकि मुमुक्षु व्यक्ति को असामाजिक और अव्यावहारिक बनना होता है।

उत्तर—मोक्ष साधना का इच्छुक व्यक्ति भी समाज मे जीता है। समाज म जीने वाले हर व्यक्ति के लिए सामाजिक होना जरूरी है। सामाजिक व्यक्ति का व्यवहार उसकी सामाजिकता की कसौटी बनता है। अन्य व्यक्तियो के लिए सद व्यवहार की नियामकता नही होती, पर एक मुमुक्षु व्यक्ति के लिए उसकी अपरिहार्यता है। अन्य लोगो को नैतिक नियम अलग स स्वीकार करने पडते हैं, जबकि मोक्षार्थी को वे स्वत प्राप्त है।

मोक्ष-साधक व्यक्ति अपने जीवन मे नैतिक मूल्यो को प्रतिष्ठा देता है, वह सामाजिकता की दृष्टि से नही देता। वह जिस आदश को सामने रखकर चलता है, उसका जो स्वप्न है, उससे नैतिकता सहज फलित होती है। नतिक मूल्यो का अनुसरण करने के लिए उसे अनिरिक्त रूप से प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं रहती, क्योकि उसकी कोई भी प्रवृत्ति नतिकता की परिधि का अतिक्रमण नहीं करती।

अनैतिकता का मुख्य स्रोत है—क्रूरता। इसका दूसरा स्रोत है—प्रबल आसक्ति या अविरति। जो व्यक्ति मुमुक्षु होगा उसे सबस पहले क्रूरता का परिहार करना ही होगा। क्रूर व्यक्ति कभी मोक्ष को साध नही सकता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की आकाक्षाए प्रबल हैं जो परिग्रह के अजन और सचयन म आसक्त रहता है वह भी मोक्ष के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। क्रूरता और आसक्ति के छूट जाने से मनुष्य के जीवन म सहज रूपान्तरण घटित होता है। उसके बाद सामाजिक परिवेश म जीने पर भी वह अनतिकता से ऊपर उठ जाता है और अपनी मजिल को उपलब्ध कर लेता है।

प्रश्न— क्रूरता और आसक्ति की भांति कुछ और भी तत्त्व हैं, जो मोक्ष मे बाधक है। समाज मे रहने वाला व्यक्ति उनसे मुक्त नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे मुमुक्षु व्यक्ति के सामने अवरोध खडा नही होगा क्या ?

उत्तर—मोक्ष के साधक दो प्रकार के होते हैं—व्यक्तिगत साधना करने वाले और सामूहिक साधना करने वाले। जो व्यक्ति नितान्त वैयक्तिक होते हैं, वे जगलो, कन्दराओ या पहाडो मे चले जाते है और एकाकी जीवन जीते है। वे न तो समाज से कोई अपेक्षा रखते हैं और न उसके सम्बन्ध मे कुछ सोचते ही है। एसे व्यक्तियो के लिए नैतिकता और अनैतिकता का कोई प्रश्न ही नही उठता। क्योकि नैतिकता की व्याख्या समाज के सदर्भ मे होती है। अकेला व्यक्ति अध्यात्म का साधक होता है। व्यवहार की अपेक्षा वही होती है जहा एकत्व से द्वित्व की सृष्टि हो जाती है। जहा द्वैत है वहा अध्यात्म की उन्नत धारणाओ को व्यवहार की भूमिका पर अवतरित करना होता है। व्यवहार के धरातल पर सामाजिक व्यक्ति को कई काम भी करने पडते हैं, जो मोक्ष के साधक नही होते। पर अनिवार्यता की स्थिति मे उनको टालना कठिन हो जाता है। जैसे हिंसा आदि कुछ ऐसी बाते हैं जो अपरिहार्य हैं। किन्तु अपरिहार्य होने मात्र से इन्हे मोक्ष मे साधक नही माना जा सकता। एक दृष्टि से ये मोक्ष के अवरोध हैं पर अवरोधो को भी तो धीरे धीरे पार किया जा सकता है।

जहा परम वैराग्य की स्थिति उपस्थित हो जाती है, वहा व्यक्ति सब अवरोधो को एक साथ पार करने के लिए छलाग भर सकता है। किन्तु ऐसी क्षमता हर व्यक्ति मे नही होती। इसलिए सामाजिक प्राणी क्रमिक विकास का पथ अपनाता है। वह एक एक सोपान पर चढता हुआ आगे बढता है। ऐसा मुमुक्षु व्यक्ति अवरोध उपस्थित होने पर विचलित नही होता किंतु उन्हे अपने मार्ग से हटाकर मजिल तक पहुच जाता है।

जो मुमुक्षु व्यक्ति व्रती जीवन की यात्रा पर निकल पडते हैं उनके लिए अलग रूप से अनैतिकता को छोडने की अपेक्षा नही रहती। क्योकि जो व्यक्ति अहिंसा या मैत्री का सिद्धात स्वीकार कर चलता है, वह किसी के भी प्रति क्रूर कैसे हो सकता है ? जिसका विवेक इतना जागृत हो गया है कि वह पशु पर भी अधिक भार लादना नही चाहता, वह एक मनुष्य का गला कैसे काट सकता है ? प्राणिमात्र के साथ आत्मौपम्य बुद्धि का विकास करने वाला अपने भाई को धोखा कैसे दे सकता है ? जिस व्यक्ति ने सत्य का व्रत स्वीकार कर लिया है, वह किसी भी परिस्थिति मे अप्रामाणिक कैसे हो सकता है ? जिस व्यक्ति ने अभय को साध लिया है वह किसी दूसरे की अधिकृत वस्तु का अपहरण कैसे करेगा ? इन सब प्रश्नचिह्नो का विराम एक ही है कि व्रतो की भूमिका पर खडा व्यक्ति नैतिक मूल्यो का अतिक्रमण कर ही नहीं सकता। इसलिए नैतिक बनने की बात उन लोगो के लिए अपेक्षित

है जो व्रती या महाव्रती नहीं हैं।

प्रश्न—व्रती व्यक्ति की क्या पहचान है? क्या गीता की स्थितप्रज्ञता के साथ व्रतों का कोई सम्बन्ध है?

उत्तर—व्रती व्यक्ति को परिभाषित करते हुए बताया गया है— निःशल्यो व्रती'—जो शल्य रहित होता है, वह व्रती हो सकता है। शल्य तीन प्रकार का होता है—मायाशल्य निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य। मायावी व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकता। इस तथ्य की अभिव्यक्ति देते हुए राजर्षि भर्तृहरि ने लिखा है—

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक् संयमः,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयः वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुः धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्व कारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥

—वैभव का भूषण है सौजन्य। वीरता का भूषण है वाक्संयम। ज्ञान का भूषण है शांति। बहुश्रुतता का भूषण है विनय और अर्थ का भूषण है उसका उचित पात्र में नियोजन। तपस्या का भूषण है अनुत्तेजना। सक्षम व्यक्ति का भूषण है क्षमा और धर्म का भूषण है निश्चलता। इन सबसे भी उत्कृष्ट भूषण है शील।

निःशल्य होने के लिए निश्छल होना बहुत जरूरी है। जब तक साधक माया से घिरा रहता है, उसकी साधना का परिणाम नहीं आ सकता। आध्यात्मिक उपलब्धियों का पात्र एकमात्र ऋजु व्यक्ति होता है।

निदान का अर्थ है भौतिक आकांक्षा पूर्ति के साथ अपनी साधना को जोड़ना। यह स्थिति तीव्र आसक्ति की प्रतीक है। आकांक्षा की प्रबलता भी व्रती जीवन के विकास में अवरोध है।

तीसरा शल्य है मिथ्यादर्शन। यह दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। इससे मुक्त हुए बिना तत्त्व चिंतन और क्रिया दोनों ही असम्यक् रहती हैं। असम्यक प्रवृत्ति का फल सम्यक हो नहीं सकता। इसलिए दृष्टिकोण का परिमार्जन भी अपेक्षित है।

जो व्यक्ति इन तीनों शल्यों से मुक्त होता है, वह व्रती होता है और स्थितप्रज्ञता की दिशा में प्रस्थान भी कर देता है। स्थितप्रज्ञता भी क्रमिक विकास की चरम परिणति है। जैन दर्शन का वीतराग गीता का स्थितप्रज्ञ है। व्रतों की आराधना करने वाला व्यक्ति इस स्थिति को विकसित करता हुआ पूर्णता की ओर गति कर सकता है।

प्रश्न—यह सच है कि भारतीय दर्शन का परम तत्त्व मोक्ष है पर मोक्ष के संबंध में भी सब दर्शनों की धारणाएं एक समान नहीं हैं। आप यह बताने की

अनुग्रह करें कि प्रमुख भारतीय दार्शनिकों की मोक्ष सबधी धारणा क्या है ?

उत्तर—मोक्ष सबधी धारणाओ की भिन्नता का कारण है मोक्ष के स्वरूप की भिन्नता। मोक्ष के स्वरूप को लेकर जो व्याख्याए की गयी हैं, उनमे भी बहुरूपता ह। अपनी अपनी तत्त्वनिरूपण की शली और परम्परा के अनुसार मोक्ष का जो स्वरूप विश्लेषित है, वह सक्षेप मे इस प्रकार है—

वदान्त दशन के अनुसार परम सत्ता मे विलीन होना ही मोक्ष है। इस दशन के अनुसार प्राणी की उत्पत्ति ईश्वर सापेक्ष नही है। वह ब्रह्म की माया है और उसी म विलीन हो जाती है और यह विलीनीकरण ही मोक्ष है।

नैयायिक दशन के अनुसार सब दु खो से मुक्त हो जाना मोक्ष है। मोक्ष दशा म मनुष्य बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा आदि सब विकृतियो से मुक्त हो जाता है।

साख्यदशन का मोक्ष प्रकृति के सबध विच्छेद से फलित होता है। सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है और इससे वियुक्त होते ही व्यक्ति मोक्ष को उपलब्ध हो जाता है।

बौद्धो का मोक्ष है— निर्वाण । निर्वाण की स्थिति मे वासना रूप सन्तति सवथा समाप्त हो जाती है। ज्ञान-क्षण-सन्तति का जो प्रवाह होता है, वह टूट जाता है। शाब्दिक दृष्टि से निर्वाण का अथ है बुझना, शून्य हो जाना।

जैन दशन मे आत्मा की स्वरूपोपलब्धि का नाम मोक्ष है। एक सीमाहीन काल से आत्मा कर्माणुओ से सश्लिष्ट रहती है। उस सश्लेष को तोडकर आत्मा पूण रूप से शुद्ध हो जाती है। उसके बाद जन्म मत्यु की परम्परा टूट जाती है और आत्मा का ज्योतिमय स्वरूप प्रकट हो जाता है।

इस प्रकार सभी आस्तिक दशनो मे मोक्ष की चर्चा है, पर परम्परा भेद के कारण उसकी व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार स की गयी है। स्वरूप भेद और व्याख्या भेद की उपस्थिति मे भारतीय दशनो का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष की साधना के लिए व्रती जीवन या नतिक जीवन की अनिवायता भी स्वत प्रमाणित है।

क्या नैतिकता अनिर्वचनीय है?

प्रश्न—नैतिक मूल्यों की व्याख्या में दार्शनिकों और साहित्यकारों में मतैक्य नहीं है। कान्ट शुभ संकल्प या निरपेक्ष शुभ मानकर उसे ही नैतिकता मानते हैं। सुखवादी दार्शनिक सुखमूलक प्रवृत्ति को शुभ मानते हैं और विकासवादी चिन्तक जीवन की सुरक्षा को शुभ रूप में स्वीकृति देते हैं। जबकि अंग्रेजी के विख्यात साहित्यकार शेक्सपियर के अनुसार संसार में शुभ या अशुभ कुछ नहीं है। शुभ अशुभ की कल्पना केवल एक दृष्टिकोण है। उक्त तथ्यों के आधार पर नैतिक मूल्य सम्बन्धी धारणाओं में परस्पर विरोध की प्रतीति होती है। इन सबके बारे में आपका क्या अभिमत है?

उत्तर—कान्ट के विचार का जहां तक प्रश्न है, उससे सहमत होने में कोई कठिनाई नहीं है। जैन दृष्टिकोण के अनुसार शुभ को परिभाषित किया जाए तो उसका फलित होता है—मनुष्य की जो प्रवृत्ति राग द्वेष रहित और समत्व युक्त है वह शुभ है। नैतिकता वही हो सकती है जो शुभ है। अन्यथा नैतिकता हो ही नहीं सकती। कान्ट का शुभ और जैन दर्शन का शुभयोग कई बिन्दुओं पर एक हो जाता है। इस दृष्टि से नैतिकता की व्याख्या में कोई विप्रतिपत्ति नहीं आती।

सुखमूलक दृष्टिकोण के सन्दर्भ में एक निर्णायक मानदण्ड स्थापित नहीं हो सकता। क्योंकि सुख के निमित्तों और अनुभूतियों में अभेद नहीं है। 'पुढो छंदा इह माणवा' मनुष्य के अभिप्राय पृथक् पृथक् होते हैं। एक व्यक्ति जिसको सुख मानता है, वही दूसरे के लिए दुःख बन जाती है। जिस निमित्त से एक व्यक्ति को सुखानुभूति होती है वही दूसरे के लिए कष्टकर हो जाती है। इसलिए सुखवादी मूल्यों को एकान्ततः नैतिक मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।

जीवन की सुरक्षा और नैतिकता में अविनाभावी सम्बन्ध नहीं हो सकता। सुरक्षा का भाव जिजीविषा से जुड़ा हुआ है। व्यक्ति जीना चाहता है इसलिए वह अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है। जीवित रहने के लिए

व्यक्ति युद्ध भी करता है तथा और भी ऐसी प्रवृत्तियाँ करता है, जिनके साथ नैतिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवन की एषणा के परिवेश में उन प्रवृत्तियों का मूल्य हो सकता है, पर उनसे नैतिकता का निर्वाह कर पाना कठिन ही नहीं, असंभव प्रतीत होता है।

विकासवादी मनोवृत्ति को भी विभज्यवादी दृष्टिकोण से परखना जरूरी है। क्योंकि जो व्यापारी अपना आर्थिक विकास करना चाहते हैं वे सबसे पहले नैतिकता को छोड़ते हैं। इसलिए विकास के साथ भी नैतिकता की अनिवार्यता नहीं है। यहां भी अनैकान्तिक दोषों की उपस्थिति रहती है। विकास के कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जहां नैतिकता की व्याप्ति होती है पर सभी क्षेत्रों में यह नियम लागू नहीं हो सकता।

शेक्सपियर के अभिमत को समझने से पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वह एक कवि है। इस सन्दर्भ में भी उसका कवि रूप ही उभरकर सामने आता है। कवि की कल्पना में नैतिकता या शुभ एक दृष्टिकोण तक सीमित रहता है। शुभ ही क्यों हर तथ्य एक दृष्टिकोण ही होता है। किन्तु इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि कोई भी दृष्टिकोण निश्चित आधार के बिना निर्मित नहीं हो सकता। नैतिकता का जो दृष्टिकोण है, उसकी पृष्ठभूमि में दर्शन की एक लम्बी धारा रही है। इसके अतिरिक्त अनैतिकता के परिणाम भी व्यक्ति को ही भुगतने पड़ते हैं। उस समय वह कितने संक्लेश और मानसिक दुःख का अनुभव करता है। इस अनुभव के आधार पर वह एक दृष्टिकोण निर्मित करता है कि दूसरे को सताना स्वयं को दुःखी बनाना है। इस तथ्य को प्रारम्भ में कोई समझे या नहीं, पर नैतिकता और अनैतिकता के परिणाम निश्चित हैं, इसलिए शुभ एक दृष्टिकोण मात्र ही नहीं है।

प्रश्न—अंग्रेजी दार्शनिक जी० ई० मोर की धारणा है कि शुभ अनिर्वचनीय है। वह परम मूल्य है इसलिए उसकी परिभाषा करना कठिन है। यदि यह तथ्य सही है तो हम नैतिकता को परिभाषित कैसे कर सकते हैं?

उत्तर—नैतिकता या शुभ को अनिर्वचनीय कहने का एकमात्र आधार है परिवर्तनशील नीति। नैतिकता का कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं है। व्यवहार की भूमिका पर वह बदलती रहती है। क्षेत्र, काल और परिस्थितियों के सन्दर्भ में नैतिक मूल्यों का स्वरूप बदलता रहता है, इस दृष्टि से उसे परिभाषा की परिधि में नहीं बांधा जा सकता। किन्तु नैतिकता का आधार कभी बदलता नहीं है। आधार शून्य नैतिकता व्यवहार्य बन ही नहीं सकती। इस स्थिति में नैतिकता को परिभाषित किया जा सकता है। वह परिभाषा इतनी व्यापक और स्थिर होती है कि किसी भी समय और परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकती है। वह परिभाषा है—राग-द्वेष शून्य आचरण। मनुष्य का वह व्यवहार जिसमें

राग द्वेष क्षीण और क्षीणतर होते जाते हैं, नैतिक मूल्य की अभिधा प्राप्त करता है।

प्रश्न—मैकेन्जी के अनुसार मूल्य के दो प्रकार हैं—निमित्त मूल्य और स्वलक्ष्य मूल्य। नैतिकता को किस मूल्य में अन्तर्निहित किया जा सकता है?

उत्तर—निमित्त मूल्य और स्वलक्ष्य मूल्य में से किसी भी मूल्य को एकान्ततः अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इनकी यात्रा का प्रारंभ एक साथ होता है। जैसे कोई दो यात्री एक ही स्टेशन से ट्रेन में चढ़ें, उसी प्रकार जीवन के सामान्य पक्ष को प्रभावित करने में दोनों प्रकार के मूल्य अपेक्षित रहते हैं। मध्यवर्ती स्टेशन पर एक यात्री उतर जाता है और दूसरा अपनी सुदूर मंजिल की प्रतीक्षा में यात्रा चालू रखता है। इसी प्रकार निमित्त मूल्य एक सीमा के बाद छूट जाते हैं और आत्मलक्षी मूल्य सहचारी बन रहते हैं।

नैतिकता जीवन का आध्यात्मिक आधार है। अध्यात्म से अनुबंधित कोई भी मूल्य होगा, वह आत्मलक्षी ही होगा। निमित्त मूल्य भी अध्यात्म को प्रभावित करते हैं किन्तु उनका प्रभाव कुछ विशेष परिस्थितियों में ही हो सकता है। हर परिस्थिति का निमित्त प्रभावित करे ही यह आवश्यक नहीं है।

मैकेन्जी के अनुसार निमित्त मूल्य वाली वस्तु वह होती है जो किसी अन्य उद्देश्य का साधन बनती है। जैसे भोजन का एक मूल्य है, पर यह सापेक्ष तत्त्व है। भोजन का मूल्य इसीलिए है कि वह मनुष्य के जीवित रहने का साधन है। इसी प्रकार परिश्रम का मूल्य है। क्योंकि वह आजीविका का साधन बनता है। भोजन और परिश्रम का मूल्य जीवन सापेक्ष है। यदि जीवन का कोई मूल्य न हो तो भोजन और परिश्रम भी मूल्यहीन हो जाते हैं। इस दृष्टि से निमित्त मूल्य गौण मूल्य है। किन्तु जो व्यक्ति नितान्त परिस्थितिवादी होते हैं, वे निमित्तों पर ही अधिक बल देते हैं।

जो व्यक्ति आत्मलक्षी होते हैं, उनके लिए निमित्त गौण हो जाते हैं। पर कुछ निमित्त ऐसे भी होते हैं जो नैतिक धरातल से अनुबंधित रहते हैं। जैसे मनुष्य के नैतिक बने रहने में उसके शुभ संकल्प निमित्त बनते हैं। निमित्त होने के बावजूद शुभ ही होता है। इसलिए उसे नैतिक मानने में कोई बाधा नहीं आती। यद्यपि काण्ट के अभिमत से शुभ संकल्प को साधन नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि यह एक ऐसा तत्त्व है जिसकी उपस्थिति प्रत्येक स्वलक्ष्य मूल्य में अनिवार्य है। कुछ व्यक्ति बुद्धि, प्रेम, सत्य, स्वतंत्रता आदि को स्वलक्ष्य मूल्य मानते हैं और कुछ लोग सत्यं शिवं सुन्दरम् को उक्त सीमा में परिगणित करते हैं। दृष्टिकोण की विभिन्नता अस्वाभाविक नहीं है, पर यह निश्चित है कि नैतिकता एक आध्यात्मिक मूल्य है और आध्यात्मिक मूल्य कभी गौण नहीं हो सकता, इसलिए वह स्वलक्ष्य मूल्य है।

नैतिक मूल्यों का मानदंड

प्रश्न—आचारशास्त्र के संदर्भ में प्रसिद्ध विचारक लेमाण्ट ने अपना मत प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार आचार दर्शन दो प्रकार का है—परम्परावादी और मानवतावादी। परम्परावादी नैतिक दर्शन वर्तमान के प्रति उदासीन रहता है और पारलौकिक एषणाओं को महत्त्व देता है। मानवतावादी दृष्टिकोण इस जीवन के प्रति आस्था व्यक्त करता है, इसलिए वह इसी जीवन के सुख-दुःख के सम्बन्ध में सोचता है और इसे ही सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। आपकी दृष्टि में इन दोनों अभिमतों में किसी एक का अधिक मूल्य है या दोनों का सापेक्ष मूल्य है?

उत्तर—किसी भी मूल्य को एकान्त दृष्टि से परखना उस मूल्य के साथ न्याय नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मा होती है। ऐसी स्थिति में उसके सभी धर्मों को ध्यान में रखकर ही उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। आचार दर्शन का परम्परावादी दृष्टिकोण धार्मिक परम्परा से अनुबंधित है। इसमें पूर्वजन्म और पुनर्जन्म दोनों को स्वीकार किया गया है इसलिए वर्तमान से भी अधिक मूल्य पारलौकिक मूल्यों को दिया जा सकता है। केवल परम्परा के आधार पर चलने से यथार्थ की उपेक्षा हो जाती है।

मानवतावादी आधुनिक चिन्तन वर्तमानपरक है, वह प्रत्यक्ष पर विश्वास करता है। प्रत्यक्ष में मनुष्य को श्रेष्ठ माना जाता है अतः मूल्य निर्धारण की दृष्टि से उसी को महत्त्व मिलता है। मनुष्य जाति की महत्ता स्थापित होने पर पारलौकिक दृष्टिकोण गौण हो जाता है और केवल वर्तमान सामने रहता है।

उक्त दोनों दृष्टिकोणों का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। फिर भी निरपेक्ष चिन्तन से सही मूल्यांकन नहीं हो सकता। इसलिए सापेक्ष दृष्टि का उपयोग होना आवश्यक है। आज सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में विशेष खोज हो रही है। वर्तमान के परामनोवैज्ञानिक जिस सत्य तक पहुंचे हैं और पहुंच रहे हैं, उससे जितनी धारणाएं स्पष्ट होंगी, पुरानी परम्पराएं बदलती जाएंगी।

मानवतावादी चिन्तक स्थूल शरीर के आधार पर निष्कर्ष निकालकर सिद्धांत

स्थापित करते हैं। सूक्ष्म शरीर सम्बन्धी धारणाओं से उन सिद्धान्तों में भी परिवर्तन की संभावना स्वयं उभर जाती है। जिस प्रकार मनोविज्ञान का विकास होने पर अवचेतन मन की खोज हुई और चेतन मन के आधार पर होने वाली अनेक धारणाएं बदल गयी, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के रहस्यों का उद्घाटन मानवतावादी दृष्टिकोण को भी नये आयाम दे सकता है।

इस सदर्भ में एक बात यह भी ज्ञातव्य है कि अपनी पहुंच से परे होने मात्र से पारलौकिक सत्ता का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शरीर शास्त्रीय शोध में शरीरस्थ ग्रंथियों के सम्बन्ध में नया सिद्धान्त सामने आया है। उसके अनुसार व्यक्ति में आनुवंशिक या वर्तमान के संस्कार ही सक्रिय नहीं होते, कुछ अज्ञात संस्कार भी काम करते हैं। वे किन्हीं अत्यन्त सूक्ष्म शक्तियों से प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अज्ञात होने पर भी पारलौकिक सत्ता को नकारा नहीं जा सकता। उसे स्वीकार करने से नैतिकता के सिद्धान्तों में भी अपने आप कुछ नया जुड़ ही जाता है।

इन सब दृष्टियों से विचार कर व्यक्ति को किसी एक ही बिन्दु पर रुकना नहीं चाहिए। दोनों विचार पद्धतियों को संयुक्त और समन्वित दृष्टि से देखने पर अच्छा परिणाम आ सकता है।

प्रश्न—मानवतावादी विचारकों में प्लेटो, अरस्तू, समाप्ट जानमार्टिनो, रसलवारनर फिटे, सी० वी० गर्नेट, इमान्एल लेविन आदि का नाम प्रमुख रूप से आता है। ये सभी मानवीय गुणों के विकास में नैतिकता की प्रस्थापना करते हैं। ऐसी स्थिति में क्या हम यह स्वीकार कर लें कि नैतिक मूल्यों का मानदण्ड मनुष्य ही है।

उत्तर—नैतिक और अनैतिक दोनों प्रकार के मूल्यों का मापक मनुष्य ही हो सकता है क्योंकि अच्छा और बुरा हर व्यवहार करने की क्षमता मनुष्य में ही होती है। क्षमताहीन प्राणी का कोई मूल्य नहीं होता। पशुओं में भी जिनकी क्षमता विकसित होती है वे अपना मूल्य बढ़ा लेते हैं। जासूसी कुत्तों का मूल्य पचास हजार रुपये तक हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वोपरि मूल्य बौद्धिक क्षमता का है मस्तिष्कीय क्षमता का है और वह मनुष्य में होती है। इसलिए उसी के आधार पर मूल्यांकन होता है।

सामान्यतः स्थावर जीवों की चेतना ऐन्द्रियिक या संवेदना के स्तर तक विकसित होती है। यह चेतना वनस्पति में कुछ विकसित होती है। पौधे को सताने वाले व्यक्ति की उपस्थिति का आभास होते ही उसमें प्रकम्पन होने लगता है। उसकी अभिव्यक्ति यन्त्रों से हो जाती है। यह स्थिति आकस्मिक होती है या वास्तविक इसकी जांच हेतु तीन चार व्यक्तियों को उस पौधे के समीप ले जाया गया। सामान्य व्यक्तियों की निकटता से कोई प्रकम्पन नहीं हुआ, पर उस

व्यक्ति के पहुचते ही पुन प्रकम्पन शुरू हो गए। इससे यह तथ्य प्रमाणित होता है कि सवेदना की शक्ति वनस्पति म अधिक है। बौद्धिकता के विकास मे सवेदनशक्ति क्षीण हो जाती है, यही कारण है कि सहज सवेदना मनुष्य म कम होती ह।

बौद्धिक विकास म निमित्त बनता है यूरिक एसिड नामक तत्व जो कि मस्तिष्क म होता है। सामा यत यह तत्व पशु म अधिक बनता है पर इसके साथ एन्जाइम (पाचक तत्व) की मात्रा अधिक होन से वह यूरिक एसिड को कम कर देता है और पशु की बौद्धिक क्षमता विकसित नही हो सकती। कमशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार भी पशुआ और अन्य प्राणिया की चेतना इतनी विकसित नही होती।

विकसित चेतन्य स सम्पन्न होने के कारण नतिक और अनैतिक दोनो प्रकार के मूल्या को प्रतिष्ठा दन वाला मनुष्य ही है। उसका क्षयोपशम, उसका विकास और उसकी शक्ति जहा विवेक और सयम से अनुबन्धित होती है वहा वह नतिक मूल्यो का मानदड बन जाती है और मूल्य विघटन का प्रयत्न कर वह अनैतिक हो जाता है। वस मूल प्रवत्तिया मनुष्य और पशु म समान होती है। फिर भी अपनी बौद्धिक क्षमता का दुरुपयोग कर वह अनतिकता अजित कर लेता है।

प्रश्न—डार्विन का क्रमविकासवाद मनुष्य के पूवजो को पशु और उससे भी छोट प्राणियो के रूप म स्वीकृति दता है। कोई भी प्राणी अपनी चेतना का विकास कर आगे बढता है तो विकास की यह क्षमता उसम प्रारभ से ही होनी चाहिए अन्यथा मनुष्य बनते ही उसम क्षमता कहा से आ जाती है ?

उत्तर—क्रमिक विकासवाद के अनुसार मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। एककोशीय अमीबा उसका मूल है फिर क्रमिक विकास होते होते मनुष्य जैसी स्थिति प्राप्त होती है। किन्तु जन धम इस जैविक विकास को न मानकर विविध योनियो का स्वीकार करता है। जीवोत्पत्ति का एक प्रकार है सम्मूर्छिम। इस योनि मे विभिन्न रूपा म परिवतन हो सकता है पर गभज जीवो मे एक प्राणी की दूसरे प्राणी क रूप मे परिणति सभव नही है। योनि के नानात्व से जातियो प्रजातियो म सकर की सभावना रहती है। वनस्पति और पशुओ की भाति मनुष्यो म भी सकर हो सकता है। फिर भी यह तथ्य मालूम होता है कि मनुष्य जाति का अस्तित्व स्वतन्त्र रूप से विकसित है। इस सन्दभ म डार्विन के क्रमविकासवाद का सिद्धान्त कुछ नयी शोध और नयी स्थापनाओ की अपेक्षा रखता है।

पाश्चात्य दर्शन और मूल्य-निर्धारण

प्रश्न—पाश्चात्य दार्शनिकों ने मूल्यों के सम्बन्ध में विस्तार से चिन्तन किया है। उन्होंने वर्गीकृत रूप से आठ प्रकार के मूल्य निर्धारित किए हैं—शारीरिक, आर्थिक, मनोरंजक, सामाजिक, चारित्रिक, सौन्दर्यात्मक, बौद्धिक और धार्मिक व ईश्वर विषयक। इनमें प्रथम तीन मूल्यों को शारीरिक माना गया है, मध्यवर्ती दो मूल्यों को सामाजिक मान्यता मिली है और अंतिम तीन को आध्यात्मिक रूप में देखा गया है। इस मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में आपका क्या अभिमत है?

उत्तर—मूल्यों के निर्धारण में मतभेद जैसी कोई बात नहीं है क्योंकि मनुष्य के जीवन में इन सभी मूल्यों का महत्त्व है। मनुष्य का जीवन एक लम्बा यात्रा पथ है। इसमें बहुत सी बातों का सापेक्ष मूल्य होता है। एकांगी दृष्टिकोण से चिन्तन करने पर उनका महत्त्व प्रमाणित नहीं भी हो सकता है। पर सापेक्षता अपने आपमें एक मूल्य है। जैन दर्शन के प्रति आस्थाशील व्यक्ति इस मूल्य को नकार ही नहीं सकता।

अब रहा प्रश्न मूल्यों के वर्गीकरण का। इसमें भी हम सापेक्ष दृष्टि को काम में लेना होगा। वैसे मनोरंजक मूल्यों को मानसिक मूल्य दिया जा सकता है पर मन भी तो शरीर सापेक्ष रहता है। इस स्थिति में मानसिक मूल्य शारीरिक मूल्य में अन्तर्निहित हो सकते हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों ने चारित्रिक मूल्यों को सामाजिक मूल्य के अन्तर्गत लिया है और सौन्दर्यात्मक मूल्यों को आध्यात्मिक माना है। बाह्य परिवेश में यह मानदंड कुछ विपरीत प्रतीति देता है किन्तु गहराई से देखा जाए तो यह भी उचित है। क्योंकि चरित्र का मूल्य समाज के संदर्भ में अधिक है। बहुत से चारित्रिक मूल्यों के मानदण्ड समाज सम्मत तत्त्व होते हैं। सौन्दर्यमूलक दृष्टिकोण को आध्यात्मिक मानने के पीछे भी यही चिन्तन रहा होगा। सुन्दर वही होता है जो अन्तर्मन को प्रभावित करे। वैसे भारतीय दर्शन में सौन्दर्य सम्बन्धी स्वतन्त्र मीमांसा उपलब्ध नहीं है फिर भी सापेक्ष दृष्टि से उसका अपना मूल्य है और मानवीय मन को प्रभावित करने में उसकी विशेष भूमिका रहती है।

प्रश्न—आपने अभी बताया कि भारतीय दर्शन मे सौन्दर्य सम्बन्धी स्वतन्त्र मीमासा नही है, पर, 'सत्य शिव, सुन्दर' की बात भी यत्र-तत्र सुनने को मिलती है। यह बात सही प्रतीत होती है कि यहा सौन्दय का आध्यात्मिक मूल्य नहीं है। क्योकि उस गहराई से सौन्दय की परख ही नही हुई। फिर भी समन्वित मूल्यो की चर्चा मे सौन्दय भी उपेक्षित नहीं रहा है। भारतीय दृष्टि से सत्य, शिव और सुन्दर को आप किस रूप मे परिभाषित करते हैं ?

उत्तर—पाश्चात्य जगत् मे सौन्दय का मूल्याकन जिस रूप मे हुआ है, उस रूप मे यह भारतीय दर्शन मे मीमासित नही हुआ। इसका अथ यह नही है कि भारतीय मानस सौन्दय से परिचित ही नही है। यहा सत्य, शिव और सौन्दय को इस प्रकार निरूपित किया गया है—

- वस्तु के यथाथवादी स्वरूप और तदनुरूप दृष्टिकोण का नाम सत्य है।
- वस्तु के कल्याणात्मक पक्ष की अभिधा शिव है।
- वस्तु की वह क्षमता, जो मानव मन को अपनी ओर आकृष्ट कर सके, सौन्दय कहलाती है।

उक्त परिभाषाओ मे सन्दभ भी दृष्टिकोण विशेष स अनुबन्धित हैं क्योकि शब्दमूलक व्याख्या सापेक्षता के बिना परिपूण हो नही सकती। जहा भी मनुष्य का भावनात्मक अवरोध शब्दो की सीमा स्वीकार करता है एक अपेक्षा को धारण कर लेता है।

प्रश्न—पश्चिम के प्रख्यात विचारक अरबन के अनुसार धम, धार्मिक परम्पराए और धार्मिक विश्वास मनुष्य के आर्थिक और सामाजिक जीवन के निमित्त मूल्य हैं। क्योंकि शरीर की सत्ता प्रत्यक्ष है और आत्मा ईश्वर आदि धारणाए परोक्ष हैं। जो प्रत्यक्ष है वह प्रधान है इसलिए परोक्षपरक मूल्य गौण होने के कारण मात्र निमित्त मूल्य होकर रह जाते हैं। इसके विपरीत भारतीय मनीषिया न आर्थिक और सामाजिक मूल्यो को निमित्त मूल्यो की परिधि म लिया है। इस विसवाद की स्थिति को आप क्या समाधान देते हैं ?

उत्तर—मानव जीवन के चार पक्ष हैं—धम, अथ, काम और मोक्ष। प्राचीन काल से ही चतुर्वर्ग के रूप मे इनकी चर्चा होती है। अब प्रश्न यह है कि इनम प्रधान कौन है ? महत्त्वपूण क्या है ? जो व्यक्ति आर्थिक दृष्टि स सोचता है, वह अथ का महत्त्व स्थापित करेगा। चाणक्य एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने समाज मे आर्थिक मूल्यो को प्रतिष्ठा देते हुए कहा—'अथ एव प्रधानमिति कौटिल्य'। इस व्याख्या म धम, काम और मोक्ष—सब अथ से पीछे रह जाते हैं। यहा केन्द्र मे अथ है और तत्त्व परिधि म आए हैं।

अथ को केन्द्र बिन्दु मानकर चलने का एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि आर्थिक स्थिति के आधार पर व्यक्ति का जीवन बनता है और बिगडता है।

जिस व्यक्ति का आर्थिक स्तर समुन्नत होता है, उसके सामने विकास के नये आयाम खुले रहते हैं। सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति—मनुष्य के सारे गुण अर्थ की छत्रछाया में ही पनप सकते हैं। साधन सम्पन्न व्यक्ति कुछ नहीं करता हुआ भी सर्वसाधारण की श्रेणी से ऊपर रहता है। पीठ पीछे उसकी बुराई करने वालों में भी अधिकांश व्यक्ति उसके सामने प्रशंसक बन जाते हैं। यह सब अर्थ की धुरी पर घूमने वाली व्यवस्था में घटित होता है।

धार्मिक पहलू को प्रधान मानकर चलने वाले व्यक्ति अर्थव्यवस्था को निमित्त मूल्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में अर्थ मात्र जीविका का साधन है। जीवन का साध्य न अर्थ हो सकता है और न काम। जिस समाज या वर्ग में अर्थ और काम को अतिरिक्त मूल्य मिलता है वहां धार्मिक परम्पराओं और विश्वासों को खंडित कर दिया जाता है। धर्म एक शाश्वत तत्त्व है। यह न तो कभी विघटित हो सकता है और न अपने महत्त्व को कम कर सकता है। जो व्यक्ति इसे निमित्त मूल्य की श्रेणी में लेते हैं उनकी विवशता उसी धर्म में होनी चाहिए, जो सामाजिक रूप में सम्मत रहा है। आध्यात्मिक मूल्य कभी निमित्त मूल्य हो ही नहीं सकता।

मूलतः सभी मूल्यों का उद्गम-स्रोत एक है पर उनकी अवधारणा भिन्न भिन्न सन्दर्भों में होती है। एक सामाजिक व्यक्ति अर्थ और काम से निरपेक्ष नहीं रह सकता। इसी प्रकार वह धर्म और मोक्ष की भी उपेक्षा नहीं कर पाता। उसके लिए सामाजिक और आध्यात्मिक तथ्यों का सापेक्ष मूल्य है। सापेक्षता की बात जिस समय जीवनगत हो जाती है, ये विरोधी प्रतीतियां स्वयं निरस्त हो जाती हैं।

प्रश्न—पश्चिमी नैतिकता का उच्चतम स्तर समाज-कल्याण का स्तर है तथा उसके उच्चतम मूल्य वे हैं जो समाज को आर्थिक, शारीरिक तथा मानसिक तृप्ति दे सकें। इस विचारधारा पर आपकी टिप्पणी क्या है?

उत्तर—समाज से भिन्न व्यक्ति का कोई अस्तित्व है, मैं इसे नहीं मानता। इससे भी आगे की बात सोचें तो समाज के माध्यम से ही व्यक्ति आगे बढ़ता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक व्यक्ति के सामने समाज कल्याण की बात ही मुख्य रहती है। पर धर्म के पथ में व्यक्ति प्रधान होता है। वहां अस्तित्व की प्रधानता रहती है। अस्तित्व की प्रथम रश्मि है व्यक्ति और उसका अग्रिम विस्तार है समाज। विस्तारवादी नीति की दृष्टि से व्यक्ति समाज का एक पुर्जा मात्र है। वहां उसका अपना अस्तित्व धुंधला रहता है और समाज एक ज्योतिपुंज के रूप में आविर्भूत होता है। समाज के सन्दर्भ में भी नैतिकता को स्वीकृत नहीं देने का कोई आधार नहीं है क्योंकि समाज को टिकाए रखने वाला तत्त्व ही नैतिकता है।

उक्त विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज और व्यक्ति परस्पर सापेक्ष हैं इसी प्रकार समाज-कल्याण और धर्म भी एक-दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष नहीं हैं। ये चिन्तन की दो धाराएं हैं, जो दो भिन्न भिन्न दर्शनों के आधार पर प्रवाहित हुई हैं। समाज-कल्याण का अपना मूल्य है और नैतिकता का अपना मूल्य है। हम इनका परस्पर मिश्रण नहीं करना चाहिए।

इच्छा-मंडल और व्यक्तित्व का निर्माण

प्रश्न—मनुष्य म नैतिक और अनैतिक दोना प्रकार की इच्छाए होती हैं। दोनों इच्छाए परस्पर विरोधी है। इनकी सहावस्थिति मे मनुष्य अपने नतिक बल का प्रबल बनाए रखने के लिए क्या करे?

उत्तर—इच्छा का सम्बन्ध शरीर की माग से भी होता है। वहा नतिकता और अनतिकता का बोध गौण हो जाता है और अपेक्षा प्रधान बन जाती है। आदमी भूखा है तो उसके मन म रोटी खाने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस इच्छा की पूर्ति रोटी खाने से ही हो सकती है। खाने की इच्छा और खाना, इन दोना मे नतिकता और अनतिकता कुछ भी नही है। भोजन कैसे उपलब्ध होता है? उसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति क्या-क्या करता है? यह सारी प्रक्रिया सामाजिक स्तर पर आकर नैतिक या अनैतिक बनती है। स्वाभाविक इच्छा मात्र इच्छा है। वह कभी अनैतिक नही होती। पानी सदा पानी होता है। गन्दे नाले मे आकर वह गन्दा पानी हो जाता है और साफ सुथरी नलिका से प्रवाहित होकर स्वच्छ बना रहता है। इसी प्रकार इच्छा पूर्ति के माध्यम सामाजिक मानदडो से अनुबन्धित होकर नतिक या अनैतिक बनते हैं। ये मानदड परिवेश के आधार पर भी भीमास्य हैं क्योकि इनकी कोई निरपेक्ष निर्धारणा नही है।

जहा समाज है वहा कुछ बन्धन भी होते हैं। कुछ बन्धन आध्यात्मिक भी होते हैं पर उन्हे बन्धन न कहकर विवेक कहा जाए तो अधिक उचित होगा। सामाजिक बन्धनो से प्रतिकूल जो इच्छा जागत होती है जिन जिन परिस्थितियो मे जो काय निषिद्ध हैं उन्हे करने की भावना उत्पन्न हो और उन्हे उसी रूप म सम्पादित कर लिया जाए तो वह प्रवृत्ति अनैतिक हो जाती है। इस तथ्य को सपेक्ष म इस प्रकार समझा जा सकता है कि सामाजिक वजनाओ का अतिक्रमण करने वाली प्रवृत्तियो से अनुबन्धित इच्छा अनतिक है तथा आध्यात्मिक विवेक के परिप्रेक्ष्य म व्यक्ति की असयत और उच्छृखल इच्छाए अनतिक होती हैं।

अब रहा प्रश्न नतिक इच्छा की प्रबलता का। सयत और शृखलित इच्छा नतिक इच्छा है। ऐसी इच्छा की जागृति और प्रबलता का पहला साधन है विवक

जागरण। विवेक जागरण से पहले नैतिकता और अनैतिकता का सम्यक् अवबोध भी आवश्यक है। ज्ञान और विवेक के योग से इच्छा शक्ति को प्रबलतम बनाया जा सकता है।

इसके लिए दूसरा उपाय है—परिणाम-दर्शन। व्यक्ति जो काम करता है, उसकी निष्पत्ति क्या होगी? यह बात पहले से ही ध्यान में आ जाये तो बहुत-सी अवांछनीय प्रवृत्तियों से मुक्ति मिल सकती है। बहुत बार ऐसा होता है कि कोई-कोई इच्छा वर्तमान में बहुत प्रिय लगती है, पर उसका परिणाम सुखद नहीं होता। खुजली का रोगी जिस समय अपना शरीर खुजलाता है, उसे असीम सुख मिलता है। पर उस खुजलाने के दुष्परिणाम से कोई भी समझदार व्यक्ति अपरिचित नहीं है। भगवान् महावीर ने इस सत्य को अभिव्यक्ति देते हुए कहा है—'आयकदंसी अहियं ति नच्चा'। आतंकदर्शी व्यक्ति संभावित अहित का ज्ञान कर वैसी प्रवृत्ति से अपना बचाव कर लेता है। वह सोचता है—'खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा'—क्षणिक सुख देने वाली यह प्रवृत्ति दीर्घकालिक दु:ख का हेतु है, इसलिए मुझे इसका व्यामोह नहीं करना चाहिए। इस प्रकार परिणाम-दर्शन की जागरणा से नैतिक इच्छा को बल मिल सकता है।

किसी भी इच्छा को पुष्ट करने का एक सशक्त माध्यम है 'अभ्यास'। ध्यान, संयम आदि आत्मोन्मुखी साधनों का सतत अभ्यास करने से इच्छा शक्ति पुष्ट होती है और व्यक्ति अपनी चाह के अनुरूप कार्य करने में सफल हो जाता है।

संयत व्यक्तियों के सान्निध्य से भी व्यक्ति अपनी नैतिक इच्छा को प्रबल बना सकता है। भारतीय दर्शन में सत्संग का जो मूल्य है, वह इसी तथ्य को लक्षित करता है। अनुकूल सम्पर्क में वैसा ही वातावरण मिलता है और वैसा ही चिन्तन-मनन होता है। इस प्रकार के और भी कुछ माध्यम हो सकते हैं, जो इच्छा शक्ति को प्रबल बनाने में निमित्त बनते हैं?

प्रश्न—कुछ व्यक्ति चाहते हैं कि हम अनैतिक कर्म न करें, फिर भी उन्हें विवश होकर वैसे कर्म करने पड़ते हैं। ऐसा क्यों होता है?

उत्तर—ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि नैतिक और अनैतिक इच्छा के मध्य निरंतर संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष का निमित्त परिस्थिति हो सकती है और समय भी हो सकता है। निमित्त कुछ भी हो, यह तब तक होता रहता है जब तक चाह पुष्ट नहीं हो पाती। पुष्ट चाह का निर्माण होने के बाद व्यक्ति परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता, किन्तु उसका मोड़ देता है।

इच्छा से विपरीत कर्म में प्रवृत्ति का एक निमित्त है, अवचेतन मन। नैतिक कर्म करने की इच्छा मनुष्य के चेतन मन में है। वह जब तक अवचेतन मन में संक्रान्त नहीं हो जाती, द्वन्द्व समाप्त नहीं होता। जहां चेतन और अवचेतन मन अथवा बाह्य और अन्तर्मन में एकत्व स्थापित हो जाता है, वहां प्रायः अनीप्सित

प्रवृत्ति नहीं होती। कदाचित करनी भी पड़े जो जल में कमल की भांति उस प्रवृत्ति के साथ कोई लगाव नहीं रहता।

चेतन मन की चाह को पुष्ट करने के लिए उसे अवचेतन मन तक पहुंचाना जरूरी है। उसके आध्यात्मिक साधन हैं ध्यान, कायोत्सर्ग आदि। इनके अभ्यास से सूक्ष्म स्तर पर परिवर्तन घटित होता है। पचास वर्ष तक लम्बे-लम्बे उपवास करने से वृत्तियों में जितना परिवर्तन नहीं होता, उतना एक वर्ष की ध्यान-साधना से हो सकता है। क्योंकि उपवास से स्थूल शरीर तपता है और ध्यान का प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर भी होता है। सूक्ष्म शरीर के स्तर पर जो घटित होता है वह चेतन और अवचेतन दोनों मनों को प्रभावित कर उनके मध्य होने वाले संघर्ष को समाप्त कर देता है।

प्रश्न—मैकेन्जी के अनुसार अच्छे या बुरे किसी भी कर्म के लिए व्यक्ति उत्तरदायी नहीं होता। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य में इच्छाओं के मंडल होते हैं। कुछ मंडलों के प्रभाव से अच्छे व्यवहार होते हैं और कुछ मंडल पाशविक प्रेरणा देते हैं। व्यक्ति के चरित्र एवं व्यक्तित्व के निर्माण में उसके स्थायी इच्छामंडल ही काम करते हैं। इस अभिमत के साथ आपका क्या दृष्टिकोण है?

उत्तर—इच्छामंडल मनुष्य का निर्माण करते हैं और इच्छामंडल का निर्माता स्वयं मनुष्य होता है। इसलिए एकान्ततः यह मानना उचित नहीं है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के निर्माण में सर्वथा पराधीन है। यह सही है कि व्यक्ति ने जैसे कर्म किये हैं उसे वैसा ही भोग करना पड़ता है। कर्म-फल भोगते समय नयी क्रिया होती है और उसका भी निश्चित परिणाम होता है। किन्तु इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि एक तत्त्व ऐसा भी है जो व्यक्ति के चैतन्य को सदा प्रज्वलित रखता है। वह है पारिणामिक भाव। केवल उदय भाव ही रहे तो व्यक्ति सर्वथा निष्क्रिय हो जाता है और वह उन बंधी-बंधाई कर्म-वर्गणाओं का भोग करता रहता है। इस प्रकार बंधा हुआ व्यक्ति अपना स्वतन्त्र कर्तृत्व रख ही नहीं सकता। मेरी दृष्टि से दो धाराएं समानान्तर चलती हैं। व्यक्ति कर्म को प्रभावित करता है और कर्मों का प्रभाव व्यक्ति पर होता है। पारिणामिक भाव और उदय भाव दोनों साथ-साथ चलते हैं। यदि इस तथ्य को स्वीकार न करें, तो 'अप्पा कत्ता विकत्ता य' आत्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व का सिद्धान्त स्थापित हो ही नहीं सकता।

प्रश्न—नैतिकता के सन्दर्भ में मानवीय अधिकार की समस्या भी जटिल हो जाती है। नैतिक दृष्टि से एक काम गलत होता है, पर वैधानिक दृष्टि से वह सम्मत होता है। जैसे ड्रेड स्काट नामक एक हब्शी दास था। वह अपने मालिक को छोड़कर भाग गया। कुछ लोगों ने उसको सहयोग दिया। मालिक ने उन पर अभियोग लगाया कि यह दास मेरी सम्पत्ति है, इसे स्वतन्त्र रखने के लिए प्रयत्न

शील व्यक्ति अवधानिक काम कर रहे हैं, इसलिए इन्हे दडित करना चाहिए। इस प्रकार के नैतिक और वधानिक सघर्ष की स्थिति म एक नैतिक व्यक्ति का क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—जिन लोगो का नैतिकता म गहरा विश्वास है व हर मूल्य पर सघर्ष झेलने के लिए तैयार रहेगे पर नैतिक मूल्यो का विघटित नहीं होने देंगे। जो *विधान दास प्रथा को मान्यता देता है वह मानवीय स्वतन्त्रता की हत्या करता* है। क्योकि वह मानव हित के प्रतिकूल है। ऐसे विधानो म सशोधन की अपेक्षा रहती है। अनुचित होने पर भी जिन विधानो म सशोधन नहीं होता वहा प्रतिरोधात्मक शक्ति का प्रयोग किया जाता है। गाधीजी ने नमक कानून के विरोध मे सत्याग्रह किया था। इसी प्रकार मानवीय हितो के प्रतिकूल विधानो के प्रतिपक्ष मे खडे होने वाले व्यक्तियो को सघर्षों से मुकाबला करना ही पडता है।

अणुव्रत सरकारी कानून से भी अधिक मूल्य देता है हृदय परिवर्तन के सिद्धात को। विधायक हो या सामान्य नागरिक अमानवीय वृत्तियो के प्रति उनके मन मे प्रकम्पन होगा तभी वे उनका प्रतिकार कर सकेंगे। जब मनुष्य मात्र की आत्मा मे समत्व बुद्धि विकसित हो जाती है तो वैसा कोई विधान टिक ही नहीं सकता। किसी परिस्थिति म ऐसा न हो तो फिर नैतिकता के प्रति आस्थाशील और समर्पित व्यक्ति सघर्ष को न्योता देकर भी अपनी नीति पर खडे रहते हैं।

मूल वृत्तिया और नैतिक मूल्य

प्रश्न—कुछ व्यक्ति निर्वाणवादी होते हैं और कुछ लोग मोक्ष मे विश्वास नही करते । जो मोक्ष को नहीं मानते और पुनर्जन्म तथा कर्मों के फलभोग को भी अपनी स्वीकृति नही देते उनकी विचारधारा मे नैतिक और अनैतिक मूल्य विशेष महत्त्व नही रखते । किन्तु जिनकी धारणा मे मोक्ष का अस्तित्व है और वही जिनका अन्तिम लक्ष्य है, उनकी मानसिक वृत्तिया, बौद्धिक धारणाए और रचनात्मक प्रवृत्तिया क्या स्वय ही नैतिक हो सकती हैं।

उत्तर—मोक्ष की मान्यता या अवधारणा केवल मान्यता के स्तर पर ही हो तो उसका फलित नैतिकता नही हो सकता । किन्तु व्यक्ति की अवधारणा इतनी पुष्ट हो जाये कि वह अनुभूति के स्तर पर उतर आए तो नैतिकता स्वत प्राप्त सस्कार बन जाती है । क्योंकि आचरण अनुभूति का प्रतिफलन है अथवा प्रगाढ अनुभूति का नाम ही आचरण है ।

जिस व्यक्ति के स्वीकृत सिद्धात और आचरण के मध्य श्रद्धा या अनुभूति की प्रगाढता का पुल निर्मित हो जाता है वह व्यक्ति निश्चित रूप से नैतिक हो जाता है । ओढी हुई अवधारणाओ के आधार पर नैतिकता की बात मात्र स्वप्न या कल्पना ही रहती है क्योकि उसमे अनुभूति तत्त्व सर्वथा गौण होता है ।

सबसे बडी समस्या यही है कि मनुष्य मान्यता के स्तर पर ही मोक्षवादी रहता है, उससे आगे बढने का प्रयत्न ही नहीं होता । इसलिए अच्छे सिद्धातों की जानकारी होती है, वह वाड्मात्र होकर रह जाती है । उसका कोई क्रमिक उपयोग नही होता । भगवान महावीर ने कहा कि केवल ज्ञान या केवल मान्यता ध्येय की पूर्ति के लिए पर्याप्त नही है । ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्विति मोक्षमार्ग है । केवल ज्ञानवाद, आस्थावाद या आचारवाद जीवन की एक दिशा है । यह एक दिशा जिस समय बहु-आयामी बन जाती है, ज्ञान के साथ आस्था और आचरण की जडें मजबूत हो जाती हैं, उसी स्थिति मे मोक्ष की अवधारणा व्यक्ति को नैतिक बना सकती है ।

प्रश्न—आपने अभी बताया कि मोक्ष तत्त्व की धारणा आत्मानुभूति के स्तर

पर होने से ही उसका फलित नैतिकता हो सकता है, अन्यथा नहीं। पर पाश्चात्य विचारक 'अरबन' के अनुसार सम्पूर्ण आत्मानुभूति की स्थिति दुर्लभ है। ऐसी स्थिति में क्या यह मान लिया जाये कि नैतिकता भी सुलभ नहीं है?

उत्तर—प्राथमिक धरातल पर सम्पूर्ण आत्मानुभूति की बात मैं भी नहीं करता। अनुभूति का क्रमिक विकास होता है। अनुभूति जितनी प्रबल होती है, आचरण उतना ही पुष्ट होता है। क्योंकि ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। नैतिक आचरण की पूर्णता का सम्बन्ध अनुभूति की पूर्णता के साथ ही है जब तक यह स्थिति अप्राप्य रहती है, चारित्रिक पूर्णता भी प्राप्त नहीं हो पाती।

प्रश्न—अनुभूति को परिपुष्ट करने का उपाय क्या है?

उत्तर—अनुभूति का सरलतम मार्ग है गंभीर चिन्तन, गंभीर मनन तथा चित्त की एकाग्रता। मनुष्य का चित्त चचल है। चचलता का निरोध होता है मन को किसी आलम्बन पर केन्द्रित करने से। भगवान् के सामने प्रश्न आया—भते! एक अग्र (आलम्बन) पर मन को स्थापित करने से जीव क्या प्राप्त करता है? भगवान् ने उत्तर दिया—एकाग्र मन की स्थापना से वह चित्त का निरोध करता है। मन का गहरा सन्निवेश ध्येय की निर्मिति मे होता है, तब ध्येय भी पुष्ट हो जाता है। जब तक ध्येय मे चित्त की सयोजना नहीं होती, समग्रता से स्मृति समन्वताहार नहीं होता तब तक ध्याता और ध्येय म तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता। तादात्म्य के बिना अनुभूति परिपुष्ट नहीं होती।

प्रश्न—मनुष्य की प्रवृत्तिया दो प्रकार की होती हैं—मूल और अर्जित। अर्जित वृत्तिया म परिशोधन की बात गम्य होती है, पर जो वृत्तियां मूल हैं, जैसे भोजन ढूढने की वृत्ति, काम की वृत्ति, सग्रह करने की वृत्ति, लडाकू वृत्ति आदि, इनको नैतिक कैसे बनाया जा सकता है?

उत्तर—मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियो की पूर्ति के साधन सशोधित होकर नैतिक धारणा प्राप्त कर लेते हैं। मूलत भूख, काम, सग्रह या लडाई की वृत्ति नैतिक-अनैतिक कुछ नहीं है। क्योंकि व्यक्ति की वृत्ति स्वगत होती है। जब तक स्वगत वृत्ति दूसरों से सम्बन्धित नहीं बन जाती, वह अनैतिक या नैतिक नहीं होती, यह तथ्य पहले स्पष्ट किया जा चुका है। मूलत इन वृत्तियो का सम्बन्ध व्यक्तिगत गुण-दोषो से है। भूख, काम आदि वृत्तिया भी क्रियान्वयन के सन्दर्भ मे नैतिकता और अनैतिकता से जुडती हैं।

भूख मूल प्रवृत्ति है। इसे मिटाने के लिए व्यक्ति अर्थार्जन करता है। अर्थ की उपलब्धि समाज-सम्मत पद्धति से भी हो सकती है और चोरी डकैती से भी हो सकती है। प्रथम पद्धति परिष्कृत है और दूसरी अपरिष्कृत। दूसरे के प्रति अन्याय करके अर्थार्जन नहीं करना, इस भावना से अनैतिकता का परिष्कार होता है। परिष्कार के लिए सयम की अपेक्षा है। जहा सयम का प्रवेश है, वहां नैतिकता

सहज रूप से सिद्ध होती है।

काम भी एक स्वाभाविक वृत्ति है। अनियन्त्रित काम भावना अनैतिकता को जन्म देती है। किन्तु वही जब अपनी विवाहित पत्नी में केन्द्रित हो जाता है तब यह वृत्ति-परिष्कार की दिशा हो जाती है। स्वदार-सन्तोष व्रत का मूल्य इसी सन्दर्भ में है।

मनुष्य के पूरे शरीर में विष व्याप्त हो जाता है तो किसी विष वैद्य से उसकी चिकित्सा करायी जाती है। वह शरीर में फैले हुए विष को एक बिन्दु पर केन्द्रित करता है, फिर उसे निकालकर समूचे शरीर को निर्विष बना देता है।

असीम काम वृत्ति को विवाह की सीमा में बांधने का अर्थ है व्यक्ति का समग्र जगत के प्रति निर्विषीकरण। उसके मन में काम का जो विष है वह एक बिन्दु पर केन्द्रित हो गया। इस केन्द्रीकरण के बाद व्यक्ति जब चाहे अकाम की दिशा में गति कर सकता है। काम भावना को कला और संस्कृति के क्षेत्र में रूपान्तरित करके भी उसमें संशोधन किया जा सकता है।

संग्रह की वृत्ति में भी अर्थ प्राप्ति के स्रोतों की शुद्धि पर ध्यान देकर परिष्कार किया जा सकता है। इसी प्रकार लड़ाकू वृत्ति का अपने भीतर देखने का दृष्टिकोण निर्मित कर परिष्कृत किया जाता है। दूसरों को देखने का अर्थ है—लड़ाई को प्रोत्साहन। अपने प्रति देखने से व्यक्ति अपनी दुर्बलताओं और अपने से विजातीय तत्त्वों को देख सकेगा। इस अन्तर्दर्शन में उसकी लड़ाकू वृत्ति का मोर्चा कहीं बाहर न होकर भीतर होगा। एक संस्कृत कवि के शब्दों में—

'अपराधिनि कोपश्चेत कोपे कोपं कथं न ते'

—यदि तुम अपने दुश्मन पर गुस्सा करते हो तो गुस्से पर ही गुस्सा क्यों नहीं करते? वही तो तुम्हारा सबसे प्रबल शत्रु है, अपराधी है।

इस प्रकार वृत्ति-परिष्कार की दिशा में आगे बढ़ता हुआ व्यक्ति किसी समय पूर्ण अहिंसक हो जाता है। इस स्थिति में पहुंचने के बाद न उसे संग्रह की अपेक्षा रहती है और न कामुकता ही शेष रहती है। क्योंकि एक अहिंसक के लिए अपरिग्रही होना नितान्त अपेक्षित है। अपरिग्रह के पूर्ण विकास की स्थिति सब कामनाओं और वासनाओं पर स्वयंभू विजय है।

प्रश्न—कुछ लोगों का अभिमत है कि सहानुभूति, आत्मख्यापन और आत्महीनता की वृत्तियां चारित्रिक मूल्यों का आधार हैं क्या आत्मख्यापन और आत्महीनता का भाव भी चारित्रिक हो सकता है?

उत्तर—चारित्रिक मूल्यों की स्थापना के पीछे अनेक उद्देश्य हैं। जिस प्रकार काव्य का सर्जन आनन्द और यश के लिए होता है उसी प्रकार आचरण की उच्चता भी यश के हेतु स्वीकृत की जाती है। कुछ व्यक्ति राष्ट्रीय और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए ऊंचा आचरण करते हैं और कुछ व्यक्ति केवल

आत्मख्यापन की दृष्टि से ही उस पथ पर चलते हैं। आत्मख्यापन प्रतिष्ठा के साथ साथ व्यावसायिक लाभ भी देता है, इसलिए भी कुछ व्यक्ति इस माध्यम को अपनाते हैं। अमुक कम्पनी या फर्म किसी गलत प्रवृत्ति को प्रोत्साहन इसलिए नहीं देती कि वैसा करने से उनकी प्रतिष्ठा मे कमी आ जाएगी। कुछ कम्पनिया तो अल्पकालीन घाटा बर्दाश्त करके भी अपना ख्यापन करती हैं, क्योंकि उससे उन्हें दीर्घकालिक लाभ की सभावनाए रहती हैं।

मुनि एक विशेष प्रकार की वेशभूषा रखता है। यह भी एक दृष्टि से आत्मख्यापन है। गणधर गौतम श्रमण केशी के एक प्रश्न को उत्तरित करते हुए कहते हैं—लोगो को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणो की परिकल्पना की गयी है। जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हू' ऐसा ध्यान आते रहना—इस लोक में वेश धारण के ये प्रयोजन हैं।

आत्महीनता की बात भी सापेक्ष दृष्टि से मूल्य पाती है। साहित्यकारो और भगवद्भक्तो ने इस मूल्य का आश्रय लिया है। 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' आदि पक्तिया इसी तथ्य की अभिव्यक्ति हैं। इस पद्धति को अहं विसर्जन की प्रक्रिया के रूप मे स्वीकृत किया गया है, इस दृष्टि से इसको चारित्रिक मूल्य का आधार माना जा सकता है। पर वास्तव मे सहानुभूति, आत्मख्यापन और आत्महीनता आदि सभी तत्त्व चारित्र के मूल आधार नही हैं, स्वयंजात आधार नहीं हैं क्योंकि इनके साथ कोई-न-कोई त्रुटि जुडी हुई है।

अर्थतंत्र और नैतिकता

प्रश्न—आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त और सामाजिक दृष्टि से सुरक्षित व्यक्ति आचारशास्त्र को व्यवहार की भूमिका पर उतारने में सुविधा अनुभव करता है। क्या भारतीय आचार-परम्परा या अणुव्रत के पास कोई ऐसी योजना है जो व्यक्ति को *निश्चिन्तता और सुरक्षा दे सके ?*

उत्तर—व्यक्ति को आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त बनाना और सुरक्षा देना *उन्नत समाज-व्यवस्था का प्रतीक* है। जिस समाज में व्यक्ति निश्चिन्त और सुरक्षित होते हैं वह बहुमुखी विकास कर सकता है, अन्यथा व्यक्ति की प्रतिभा और कार्यक्षमता उदरपूर्ति जैसे सामान्य कार्य में क्षीण हो जाती है। जिस राष्ट्र के नागरिक भोजन, आवास, चिकित्सा और शिक्षा की उचित सुविधा प्राप्त कर लेते हैं, वह राष्ट्र अध्यात्म और विज्ञान की नयी शोध के क्षेत्र में गतिशील हो सकता है।

व्यक्ति की चिन्ता और आशंका के मूलभूत बिन्दु हैं—जीविका, बीमारी, बुढ़ापा आदि। जीविका मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। बीमारी और वृद्धावस्था व्यक्ति को निरीह बना देती हैं। उस समय उसे किसी आलम्बन की अपेक्षा अनुभव होती है। इन सब *स्थितियों के समाधान की बहुत सारी जिम्मेदारियां सरकार के हाथ में हैं। सुरक्षा की व्यवस्था भी सरकारी व्यवस्थाओं* से अनुबंधित है। व्यवसाय के क्षेत्र में भी व्यक्ति कितना नैतिक रहता है, यह प्रश्न भी व्यावसायिक परिस्थितियों और कानूनों पर निर्भर है।

कोई भी आचार परम्परा, चाहे वह अणुव्रत की हो अथवा दूसरी, सत्तात्मक या अधिकारात्मक योजना नहीं दे सकती। उसके पास होती है नैतिक बने रहने की मनोभूमिका के निर्माण की योजना। इस योजना में सब प्रकार के भय और आशंकाओं को झेलने तथा उनका पार पाने की कल्पना है और है यथार्थ से जूझने की क्षमता। व्यक्ति के सामने जितनी समस्याएं आती हैं, उनका अन्तिम समाधान स्वयं उसी के पास होता है। बाहर के सारे समाधान अयथार्थ और अधूरे होते हैं। इस प्रकार की मनोभूमिका का निर्माण होने के बाद व्यक्ति एक सीमा तक

निश्चिन्त और सुरक्षित हो जाता है।

एक योजना अणुव्रत के मच से बनी थी, जिसकी क्रियान्विति अभी तक नही हो पायी है। इसके अनुसार अणुव्रत म आस्था रखने वाले व्यक्तियो का एक अपना समाज हो। सगठित समाज-रचना समस्या का सीधा समाधान है। यद्यपि सारी समस्याए अन्तिम रूप से समाहित हो जाए, यह रास्ता बहुत लम्बा है। फिर भी प्रारम्भिक रूप से यह एक अच्छी प्रक्रिया हो सकती है। अकेला व्यक्ति किसी भी समस्या का सामना करता है, यह बहुत कठिन परिस्थिति है। समाज मे शक्ति होती है और वह किसी भी नये वातावरण का निर्माण आसानी से करा सकता है। सामाजिक सगठन से मुकाबले की क्षमता बढ़ती है और एक सीमा तक सुविधा भी रहती है।

अणुव्रत सवाहक की एक योजना और थी जो अणुव्रत समाज रचना की पुष्टि के लिए ही थी। इसका सम्बन्ध उन कार्यकर्ताओ से है जो अपना जीवन नैतिक आन्दोलन को गतिशील बनाये रखने म लगाने के लिए तत्पर हो। वे अपने पारिवारिक दायित्व से मुक्त रहकर काम करें और उनकी समस्या का हल समाज करे। इस प्रकार की और भी दूसरी योजनाए अणुव्रत के मच से प्रस्तुत की जा सकती हैं, पर उनकी क्रियान्विति म समाज के पर्याप्त सहयोग की अपेक्षा को नकारा नही जा सकता।

प्रश्न—कुछ विचारको का दृष्टिकोण है कि जब तक मनुष्य की स्वार्थमूलक मनोवृत्ति समाप्त नही होती है, पारस्परिक सघर्ष और युद्ध की स्थितियो का अस्तित्व है, तब तक मानव नैतिक नही हो सकता। जिस स्थिति मे मनुष्य की नैतिकता सदिग्ध हो, उस स्थिति म नैतिक मूल्यो को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न ही क्यो हो ?

उत्तर—अधकार मे ही प्रकाश की अपेक्षा होती है। सहस्रांशु सूर्य तेज से दीप्त रहे और कोई व्यक्ति विद्युत के प्रकाश का उपयोग करे, यह उसकी समझदारी नही हो सकती। प्यास ही न हो तो पानी का क्या उपयोग है ? अर्थशास्त्र म उपयोगिता के नियम को स्पष्ट करते हुए समझाया गया है कि एक प्यासा व्यक्ति चार गिलास पानी पी लेता है। इन चारो गिलासो मे पहले गिलास का जो मूल्य है, वह शेष तीन का नही है। क्योकि एक गिलास पानी पीने के बाद प्यास उतनी तीव्र नही रहती। तीव्रता के अभाव मे उत्तरोत्तर हर गिलास की उपयोगिता कम हो जाती है और एक समय ऐसा भी आता है जब पानी से भरा हुआ गिलास भी अकिंचित्कर हो जाता है।

नैतिकता के बारे मे इसी उपयोगितावाद की दृष्टि से चिंतन करना जरूरी है। जिस समय स्वार्थी मनोभाव अधिक प्रबल हो, परस्पर सघर्ष की विकट स्थिति निर्मित हो, उस समय नैतिक मूल्यो का प्रसार जितना उपयोगी है, सामान्य स्थिति

मे वह उस रूप मे उपयोगी नही होता। क्योकि जिस समय मानवीय चेतना नैतिकता से सवलित हो, उसे नैतिक बनाने का उपदेश अकिंचित्कर है।

स्वार्थ और संघर्ष मनुष्य की मौलिक वृत्तिया हैं। ये वृत्तिया अधिक तीव्र होगी तो नैतिकता की अपेक्षा भी उतनी ही तीव्रता से होगी। प्रतिपक्ष के बिना किसी भी स्थिति का अतिरिक्त मूल्य नही हो सकता।

पिछले दशको मे अनैतिकता का प्रश्न तीव्र नही होता तो अणुव्रत आन्दोलन का अधिक मूल्य नही हो सकता था। हम किसी आन्दोलन का सचालन कर रहे हैं, ऐसा सोचकर अपना मनस्तोष अवश्य किया जा सकता था, पर वह युगीन आवश्यकता के रूप मे उभरकर सामने नही आ सकता था। इसलिए हमे इस बात पर कभी नही अटकना चाहिए कि स्वार्थ और संघर्ष के वातावरण मे नैतिकता की बात कौन सुनेगा?

प्रश्न—नैतिकता मनुष्य को अधिकार विसर्जन की बात ही बताती है या उसे अपने मूलभूत अधिकारो को प्राप्त करने तथा उन्हे सुरक्षित रखने का अधिकार भी देती है? पाश्चात्य दार्शनिक लाक के अनुसार व्यक्ति के स्वाभाविक अधिकार चार हैं, जैसे—

१ जीवित रहने का अधिकार।
२ स्वास्थ्य का अधिकार।
३ स्वतन्त्रता का अधिकार।
४ सम्पत्ति का अधिकार।

इसी क्रम मे टॉम पेन स्वतन्त्रता, सपत्ति, सुरक्षा और हिंसा के विरोध को मौलिक अधिकारो के रूप मे स्वीकार करता है। इस सबध मे आपका क्या अभिमत है?

उत्तर—व्यक्ति के मूलभूत अधिकारो के सम्बन्ध मे कही कोई विशेष विप्रतिपत्ति नही है। जीवन का अधिकार मनुष्य के अस्तित्व से सम्बन्धित है। जब उसे जीने का अधिकार मिला है तो स्वास्थ्य और स्वतन्त्रता का अधिकार भी उसके लिए जरूरी है। इन अधिकारों के साथ मैं नैतिकता का प्रश्न जोडना नही चाहता क्योकि ये मानवीय अधिकार हैं। अधिकार प्राप्त करके भी उसका दुरुपयोग न करना नैतिकता की परिधि मे अवश्य आ जाता है।

चिंतन और लेखन की स्वतन्त्रता जहा न हो, वहा व्यक्ति अपने मौलिक अधिकारो का उपयोग ही कैसे कर सकता है? साम्यवादी व्यवस्था मे पहले सपत्ति का अधिकार व्यक्ति को नही था। पर अब एक सीमा तक यह अधिकार भी दिया जा रहा है।

अधिकारो की यह सारी चर्चा व्यक्ति और समाज के समन्वित मूल्य को स्वीकार करने से ही पूरी हो सकती है। केवल समाज या केवल व्यक्ति को

अधिकार मिलने से संघर्ष की स्थिति अधिक जटिल हो सकती है। मैं व्यक्ति और समाज दोनों का सापेक्ष मूल्य देता हूं। जहां संगठनात्मक शक्ति का प्रश्न है वहां समाज मुख्य है। समाज का घटक व्यक्ति है। इस दृष्टि से व्यक्ति प्रधान है। व्यक्ति का शक्ति स्रोत समाज है और शक्ति का उद्गम-स्थल व्यक्ति है। इस प्रकार दोनों का स्वतन्त्र किंतु सापेक्ष मूल्य है।

एक ग्यारह (११) का अंक है और एक एक (१) का अंक है। ग्यारह का अपना मूल्य है और एक का अपना। एक दूसरे से निरपेक्ष इनका विशेष मूल्य नहीं होता। इसी गणितिक नियम को मैं व्यक्ति और समाज पर लागू करता हूं। जहां हम व्यक्ति को मूल्य देना हो वहां समाज के मध्य कोमा अर्धविराम आदि लगाकर एक में अनेक का अस्तित्व स्थापित किया जा सकता है। जहां समूह चेतना को विकसित करने की अपेक्षा हो वहां सारे अर्धविरामों को हटाकर एक संहति बना दी जाती है।

नैतिकता की दृष्टि से व्यक्ति और समाज का मूल्यांकन किया जाए तो वहां व्यक्ति अधिक मूल्यवान हो जाता है। क्योंकि नैतिकता को पनपाने वाला व्यक्ति ही होता है। व्यक्ति उदात्त है तो समाज की परिस्थितियां भी उदात्त हो जाएंगी और समाज की परिस्थितियां उदात्त हैं तो व्यक्ति को नैतिक बने रहने में सुविधा मिलती है। दूसरी ओर व्यक्ति जिन बीजों को पनपाना चाहता है उनका आधार समाज बनता है। इस रूपक को इस प्रकार भी माना जा सकता है कि समाज भूमि है और व्यक्ति बीज है। दोनों के समुचित योग से ही नैतिकता की पौध हरी भरी रह सकती है।

प्राचीन और अर्वाचीन मूल्यो का सगम

प्रश्न—पश्चिमीय आचार विज्ञान के अनुसार आदश सदैव अप्राप्य और अव्यवहाय रहता है। भारतीय दशन आदश को प्राप्य तथा वास्तविक रूप से अनुभूत किया जाने वाला तत्त्व मानता है। पश्चिम और पूव की इस विसगति को आप किस बिंदु पर निरस्त करते है ?

उत्तर—इस प्रश्न पर सापेक्ष दष्टि से विचार करना उचित है। आदश सहज प्राप्य और व्यवहाय ही हो तब तो जीवन की यह महत्त्वपूण यात्रा बहुत छोटी हो जाती है और जो तत्त्व सहज सुलभ हो वह एक दृष्टि से आदश हो भी नही सकता। बहुत प्रयत्न करन पर भी यदि आदश तक पहुच न हो तो सारा प्रयत्न व्यथ हो जाता है। इस स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि आदश सुप्राप्य भी है और दुष्प्राप्य भी है। वह व्यवहाय होने के साथ साथ कुछ बिंदुओ पर जीवन के समतल धरातल से अस्पष्ट भी रहता है।

पाश्चात्य दाशनिको का कथन आदश के अन्तिम बिंदु की उपलब्धि की दृष्टि से सही है क्योकि वे आगे की बात पर विश्वास नही करत और वतमान म आदश की समग्रता को सहज ही अधिगत नही कर पाते। उनके अभिमत से मजिल का प्रारम्भ उसकी सम्प्राप्ति का साक्ष्य नही बन सकता।

भारतीय दाशनिको का आदश है मोक्ष। मोक्ष की दिशा मे पदन्यास होने के बाद क्षण क्षण उसका अनुभव होना चाहिए। यदि वतमान क्षण मे मोक्ष की अनुभूति नही होती है तो अनागत मे सभावित मोक्ष का कोई आधार ही नही हो सकता। 'इहैव मोक्ष सुविहितानाम —सम्यक आचरण करने वालो के लिए इस जीवन मे ही मोक्ष है। इस कथन से भी यह तथ्य स्पष्ट होता है कि आदश अप्राप्य और अव्यवहाय नही है। उसकी दिशा मे निष्ठापूवक प्रयत्न करने से वह अपने आप जीवन मे अवतरित हो जाता है। इस प्रकार दोनो तथ्यो मे सामजस्य स्थापित कर पूर्व और पश्चिम की विसगति को दूर किया जा सकता है।

प्रश्न—नैतिक मूल्यो के सदभ मे आर्थिक सम्पन्नता का कोई महत्त्व है या नही ? कुछ व्यक्ति नतिक क्रियाशील मे हृष्ट-पुष्ट शरीर की अपेक्षा अनुभव करते

है। अर्थाभाव में व्यक्ति अपने शरीर को पूरा पोषण नहीं दे सकता और उसके बिना वह मानसिक दृष्टि से भी सन्तुलित नहीं रह सकता। क्या मानसिक सन्तुलन और स्वस्थ शरीर के अभाव में व्यक्ति नैतिक विकास कर सकता है?

उत्तर—इस प्रश्न के समाधान में उपादान और निमित्त—इन दोनों प्रकार के मूल्यों को समझना जरूरी है। नैतिकता का उपादान अर्थ और शरीर नहीं है। जो व्यक्ति अर्थ-सम्पन्न और स्वस्थ होते हैं वे नैतिक ही होते हैं ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। सम्पन्न और स्वस्थ व्यक्ति की मनोवृत्ति और आचरण में भी अनैतिकता को देखा जा सकता है। इस दृष्टि से नैतिकता, स्वस्थता और सम्पन्नता में कोई निश्चित व्याप्ति नहीं है। क्योंकि जहां निश्चित व्याप्ति होती है या जो जिसका उपादान होता है वह उसके बिना निष्पन्न नहीं हो सकता।

निमित्त मूल्य का जहां प्रश्न है अर्थ और स्वास्थ्य के महत्त्व का भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। आर्थिक सुविधाएं उपलब्ध हों और मनुष्य का नैतिक विकास प्रगाढ़ हो तो उसके लिए नैतिकता सहज सुलभ हो जाती है। जहां व्यक्ति के सामने रोटी और कपड़े की समस्या रहती हो, आवास और चिकित्सा की सुविधा अनुपलब्ध हो, वहां कोई-कोई व्यक्ति ही इतना दृढ़ संकल्पी हो सकता है। दृढ़ संकल्प के बिना किसी भी प्रवृत्ति में अनैतिकता का प्रवेश हो सकता है। इसलिए सामान्यतः समुन्नत आर्थिक स्थिति व्यक्ति में अनैतिक होने की विवशता को समाप्त कर देती है। किंतु जहां अर्थ प्राप्ति के स्थान भी अनैतिक होते हैं वहां कमजोर नींव वाले भवन की भांति नैतिकता का प्रासाद सुदृढ़ नहीं बन सकता।

आधुनिक शरीरविज्ञान के अनुसार नैतिकता के लिए स्वास्थ्य एक आवश्यक तत्त्व है। इसका कारण है नाड़ी संस्थान की दुर्बलता और सबलता। नाड़ी-संस्थान जितना अधिक दुर्बल होता है मानसिक विकृतियां उतनी ही बढ़ जाती हैं। नाड़ी संस्थान की प्रबलता होने से मनुष्य का मन भी प्रबल हो जाता है। प्रबल मन अपराधी मनोवृत्ति पर नियमन करने में सक्षम हो सकता है। दुर्बल मन में अपराधी भाव बढ़ते जाते हैं। अपराधियों का मनोविश्लेषण और शारीरिक परीक्षण करने से पता लगा है कि अनेक अपराध मानसिक वृत्तियों से नहीं, नाड़ी संस्थान की दुर्बलता से होते हैं। इसलिए नैतिकता के संदर्भ में निमित्त मूल्य के रूप में शारीरिक स्वस्थता का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रश्न—हर देश और समाज में अपराध होते हैं। अपराध का सम्बन्ध मन से भी अधिक नाड़ी-संस्थान से है। तब अपराध के सुधार के लिए इस ओर पर्याप्त ध्यान क्यों नहीं दिया जाता? अपराधी को जेल में ठूंसने की अपेक्षा उसका उचित डॉक्टरी परीक्षण कराकर अपराध के कारणों को मिटाने का प्रयत्न किया जाए तो क्या अपराध समस्या का हल नहीं हो सकता?

उत्तर—अपराधी को बीमार मानकर चलने से ही उसके प्रति ऐसा दृष्टिकोण

निर्मित हो सकता है। अपराधी के अपराध को मुख्यता देने से उसके प्रति घृणा और विद्वेष की भावना पनपती है। घृणा और विद्वेष की स्थिति में कोई भी व्यक्ति उसे अपनी सहानुभूति नहीं दे सकता। कुछ लोग इस प्रक्रिया को अपराधी के लिए प्रोत्साहन रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार समाज या वर्ग विशेष की सहानुभूति पाकर व्यक्ति का साहस बढ़ जाता है। पहले वह जिस काम को छिपकर करता था, बाद में प्रत्यक्ष रूप से करने लगता है। किसी भी अपराध के प्रति उसके मन में ग्लानि या भय जैसा भाव नहीं रहता।

इसके विपरीत मनोवैज्ञानिकों का अभिमत है कि हर अपराधी की मनोवैज्ञानिक जांच होनी चाहिए। अपराध करने की भावना उसकी मानसिक दुर्बलता से उत्पन्न होती है? या उसकी मनोवृत्ति अपराधी संस्कारों से अनुवासित हो गई है? कुछ लोग आदतन गलत काम करते हैं। कुछ व्यक्तियों को परिस्थितियां अपराध करने के लिए बाध्य करती हैं कुछ व्यक्ति दर्द की भावना से भी अपराधी बनते हैं और कुछ व्यक्ति असंतुलित ग्रन्थिस्राव से अपराध की दिशा में प्रवृत्त होते हैं।

पिछले कुछ वर्षों से अधिकारी लोग भी इस विचारधारा से प्रभावित हो रहे हैं। अब वे जेलों को कारावास नहीं किन्तु सुधार गृहों के रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं। बहुत स्थानों पर ऐसे प्रयोग हुए हैं। वहां अपराधियों को कठोर शारीरिक यन्त्रणा के स्थान पर अपेक्षित सुविधाएं दी जाती हैं। उन्हें उचित ढंग से जीवन जीने का प्रशिक्षण दिया जाता है और तदनुरूप काम भी सिखाया जाता है। जब कारागृहों में उनको रचनात्मक कार्य और तनावमुक्त वातावरण मिलता है तो वर्षों तक अपराधों की अंधेरी गलियों में भटकने वाले व्यक्ति भी एक सम्मानित नागरिक की भांति जीने के लिए तड़प उठते हैं। आत्महत्या तथा अन्य अनैतिक कार्यों के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति भी उचित मानसिक प्रयास से ठीक हो जाते हैं और उनके जीवन की दिशा बदल जाती है।

अपराध, दंड, मानसिक विकृति, बीमारी, नाड़ी-संस्थान इन सब पहलुओं पर गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा है। क्योंकि बीमारी चाहे शारीरिक हो या मानसिक उसका सही निदान होने से ही समुचित उपचार हो सकता है। मन की बीमारी शारीरिक चिकित्सा से ठीक नहीं होती और शरीर का रोग मानसिक चिकित्सा से नहीं मिटता। स्वस्थ शरीर में मन सन्तुलित रहता ही है, यह बात नहीं है। पर वह भी उसमें निमित्त बनता है अतः उसे सर्वथा नकारा नहीं जा सकता।

इसी प्रकार नैतिकता को जीवनगत करने में स्वस्थ शरीर और सम्पन्नता को निमित्त मूल्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है पर ये नैतिकता के उपादान नहीं हैं। उपादान कारण मन और चेतना में होते हैं। स्वस्थ मन और जागृत चेतना

का आधार पाए बिना नैतिकता का बीज अकुरित नही हो सकता। शरीर, मन और सहायक सामग्री की अनुकूलता म नैतिकता को फलित होने के लिए उवरा धरती मिल जाती है। अच्छी किस्म के बीज ऊसर भूमि म उप्त होकर अपने अस्तित्व का समाप्त कर दत हैं, पर वे फलित-पुष्पित क्या, अकुरित भी नही हो सकत। नतिक मूल्यो का समाज म प्रतिष्ठित करन के लिए अपराधो के मूलभूत निमित्ता की खाज और उनका निराकरण होना बहुत जरूरी है, अन्यथा नतिक मूल्या या आदश को प्राप्य मानने के सामने एक प्रश्नचिह्न उपस्थित हो सकता है।

नैतिक मूल्यों के लिए आंदोलनों का औचित्य

प्रश्न—कुछ लोगों का मानना है कि औद्योगिक क्रांति के बाद सामाजिक नैतिकता के स्थान पर वैयक्तिक नैतिकता का महत्त्व बढ़ा है। नैतिकता हर स्थिति में नैतिकता ही होती है। व्यक्तिगत और सामाजिक सन्दर्भों का उस पर क्या प्रभाव होता है ?

उत्तर—सामान्यत नैतिकता का मूल्य वैयक्तिक की अपेक्षा सामाजिक अधिक है। व्यक्तिगत रूप में कोई भी नैतिक हो सकता है, पर जब तक उसकी नैतिकता का सामाजिक स्तर पर अभिव्यक्ति नहीं मिलती है, व्यक्ति के आचरण से दूसरा कोई भी प्रभावित नहीं होता, तब तक नैतिकता का रूप आध्यात्मिक अधिक होता है नैतिक कम। नैतिकता को प्रभावी होने के लिए समाज के स्तर पर व्याप्त होना जरूरी है। उसका क्षेत्र जितना व्यापक होता है, समाज में उसका प्रतिफलन उतना ही बहुमुखी होता है। वैयक्तिक मूल्य सीमित क्षेत्र में ही अपना प्रभाव छोड़ सकते हैं। कोई भी मूल्य समग्र समाज के लिए अनुसरणीय होते हैं, तब ही वे समूह चेतना को रूपान्तरित कर सकते हैं।

सभ्यता संस्कृति आदि ऐसे मूल्य हैं जो सहज रूप से समाज पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। जिस समाज या देश की जो सांस्कृतिक धारणाएं होती हैं रहन-सहन का जो स्तर होता है उसके लिए व्यक्तिगत रूप से किसी को प्रेरित करने की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि मानव स्वभाव की प्राकृतिक अनुकरणशीलता में वे बातें स्वयं प्रतिबिम्बित हो जाती हैं।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद वैयक्तिक नैतिकता के महत्त्व की बात भी एक दृष्टि से ठीक है क्योंकि बड़े उद्योगपतियों की नैतिक आस्था का असर सब पर होता है। उसके परिणाम भी अच्छे आते हैं। फिर भी कुल मिलाकर नैतिकता के सामाजिक मूल्य को प्रस्थापित किए बिना मूलभूत समस्या का समाधान नहीं हो सकता। व्यक्ति व्यक्ति है वर्ग वर्ग है और समाज समाज है। एक वर्ग के व्यक्ति नैतिक रहना चाहें और दूसरे वर्गों से उन्हें अपेक्षित वातावरण न मिले तो वे विचलित हो जाते हैं। एक प्रकार की विवशता का अनुभव करते हुए उनकी

नैतिक आस्था हिल जाती है।

एक राज्य-कर्मचारी नैतिक जीवन को अच्छा समझता है। वह नैतिकता का आदर्श सामने रखकर चलता है। पर दो चार कदम चलते ही लड़खड़ा जाता है और उसे मुड़कर वापस आना पड़ता है। कारण—वह भी समाज का एक अंग है। उसे भी जीवन यापन करना है। उसे यात्रा भी करनी है, बच्चों को पढ़ाना भी है और पेट भी भरना है। उस व्यक्ति को यदि रिश्वत दिए बिना यात्रा के लिए टिकट नहीं मिलता, बच्चों को अच्छे स्कूलों में प्रवेश नहीं मिलता, बाजार में अनैतिक वातावरण मिलता है, खाद्य पदार्थों में मिलावट होती है, औषधि भी शुद्ध उपलब्ध नहीं होती, डॉक्टर भी बिना प्रलोभन उचित चिकित्सा नहीं करते, ऐसी स्थिति में वह बेचारा क्या करे? उसकी आस्था डिग जाती है। वह अपने लक्ष्य से विचलित हो जाता है और उसके जीवन से नैतिक धारणाएं निकल जाती हैं।

यही स्थिति अध्यापकों की है और इसी कठिनाई से आक्रांत हो रहे हैं व्यापारी तथा अन्य वर्गों के लोग। सब-के सब व्यक्ति बेचारे हैं। एक ऐसा दुश्चक्र चल रहा है जो सबका योग होने से ही बदल सकता है। अन्यथा जिधर मुंह होगा उधर अनैतिकता ही अनैतिकता दिखाई देगी। अनैतिकता के घेरे में व्यक्तिगत स्तर पर नैतिकता की बात असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य है। विशिष्ट मनोबल वाले थोड़े से व्यक्तियों को अपवादस्वरूप मान लिया जाए तो अनैतिकता और नैतिकता के बीच का यह संघर्ष दीर्घजीवी जैसा प्रतीत होता है।

प्रश्न—मानवीय कर्तव्यों की सूचना में जीव हिंसा को त्याज्य बताया गया है। हत्या पाप है, यह बात पर हत्या तक ही सीमित है या आत्महत्या को भी पाप की परिधि में लिया जाता है?

उत्तर—हिंसा न करने के संदर्भ में स्व या पर की कोई भेद रेखा नहीं है। क्योंकि जीना या मरना बहुत अस्वाभाविक नहीं है। व्यक्ति स्वयं मरे या दूसरे को मारे इसमें विशेष अन्तर नहीं आता। अन्तर की बात उद्भूत होती है भावनात्मक तीव्र आवेग के आधार पर। आवेशयुक्त प्रवृत्ति आत्मघातक हो चाहे परघातक, वह त्याज्य ही होती है। जहां हिंसा का निषेध किया गया है वहां 'नो आय वहे नो पर वहे' इस भाषा में स्व और पर दोनों की हत्या का निषेध किया गया है। आवेगयुक्त मृत्यु दोष है। इस दृष्टि से आत्महत्या भी पर हत्या से कम नहीं है।

प्रश्न—व्यक्ति के सामने कुछ परिस्थितियां ऐसी उपस्थित हो जाती हैं जहां उसे आत्महत्या के लिए बाध्य होना पड़ता है। उस समय उसके मन में न आवेश होता है और न निराशा। पर अपने संयम और शील की रक्षा के लिए उसे प्राणों का विसर्जन करना होता है। उस स्थिति को आप क्या मानते

है?

उत्तर—व्यक्ति किस परिस्थिति में कौन सी प्रवृत्ति करता है, इसका कोई पूर्व निर्धारण नहीं होता। परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो, प्रवृत्ति के उद्देश्य और साधन की पवित्रता के आधार पर ही उसे विहित या अविहित कहा जा सकता है। उद्देश्य सही है और पद्धति गलत है तो वह क्रिया अनुमोदनीय नहीं हो सकती। क्योंकि मैं साध्य और साधन, दोनों की शुद्धि में विश्वास करता हूं।

जिन परिस्थितियों में व्यक्ति का संयम स्खलित होता हो, उन परिस्थितियों को निरस्त करना बहुत जरूरी है। यदि ऐसा संभव नहीं हो तब शरीर छोड़ने की बात सामने आती है। शरीर का पोषक है भोजन। भोजन छोड़ देने से शरीर छूट जाता है। विवेकपूर्वक शरीर छोड़ने की प्रक्रिया का अनशन कहा जाता है। अनशन विहित है और आक्रोश या आवेश में किया गया आत्मघात अविहित है। वास्तव में जिस जीवन या मृत्यु में अहिंसा के अनुकूल मन स्थिति रहती है, वह काम्य है। हिंसा किसी भी सन्दर्भ में किसी की हो, वह अध्यात्म के पर्यावरण में काम्य नहीं हो सकती।

प्रश्न—ईसाई, इस्लाम, वैदिक, जैन आदि सभी धर्मों ने प्राणी को स्वतन्त्रता का अधिकार दिया है तथा तानाशाही, दासप्रथा आदि उन सभी स्थितियों पर प्रहार किया है, जो स्वतन्त्रता का उपघात करती हैं। फिर भी क्या कारण है कि रंग, जाति के आधार पर समाज में विषमता पनप रही है?

उत्तर—कारण स्पष्ट है। स्वतन्त्रता का अधिकार मात्र मान्यता के रूप में स्वीकृत है। जब तक किसी भी मान्यता को व्यावहारिक रूप देने के लिए अभ्यास नहीं होता, तब तक जीवन में परिवर्तन संभव नहीं है। भगवान महावीर ने केवलज्ञान, दर्शन या चारित्र पर बल नहीं दिया, किन्तु इन तीनों की समन्विति में कार्यसिद्धि का रहस्य उद्घाटित किया। जानने, देखने और क्रियान्विति करने की समन्वित योजना में ही उन्हें सिद्धि का दर्शन हुआ। 'सम्यग् दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'—इस सूत्र में भी तीनों तत्त्वों को संयुक्त रूप से मोक्ष का पथ बताया गया है। इन सब बातों को जानना एक बात है और जीना एक बात है।

बहुत बार हमारे सामने भी प्रश्न उपस्थित होता है कि धार्मिक व्यक्ति के जीवन में धर्म क्यों नहीं आता? आएगा भी कहां से? जब तक व्यक्ति साम्प्रदायिक या आम्नायगत परम्पराओं को ओढ़े रहेगा, धार्मिक मान्यताओं को जानने मात्र से सन्तुष्ट रहेगा, उसका जीवन धार्मिकता का साक्षी नहीं हो सकेगा। धर्म जीवन का सही आचरण है। इस तथ्य को जीवन की प्रयोगशाला में परीक्षित करने से ही विषमता दूर हो सकती है।

प्रश्न—कुछ लोगों का अभिमत है कि प्राचीनकाल में नैतिकता का अर्थ था समाज के रीति रिवाजों में अंधविश्वास रखना, व्यक्तिगत संकल्प की स्वतन्त्रता का दमन करना, रूढिवादी परम्पराओं को ईश्वरीय आदेश मानना तथा समाजहित में व्यक्तिहित को विलीन कर देना। आधुनिक नैतिकता का स्वरूप इससे भिन्न प्रकार का प्रतिपादित है। आपकी दृष्टि में नैतिकता का कौन सा रूप प्रशस्त है?

उत्तर—परम्परावादी नीतियों में अंधविश्वास और दमन की बात चलती है और स्वतन्त्र चिंतन में स्वतन्त्रता का अवकाश रहता है। पर इन दोनों नीतियों में एकान्ततः स्थायित्व नहीं है। जहां दमन है, वहां कुंठा पनपती है और जहां अध्यात्म शून्य स्वतन्त्रता मिलती है, वहां उच्छृंखलता बढ़ती है। उच्छृंखलता और कुंठा दोनों असन्तुलन की परिणतियां हैं। सन्तुलित समाज वही होता है जहां नियन्त्रण भी रहता है और स्वतन्त्रता भी मिलती है। नियन्त्रण मुक्त स्वतन्त्रता पाकर व्यक्ति अपना अहित न करे ऐसी संभावना बहुत कम है। पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार उसे है, जिसका विवेक जागृत हो जाता है।

इसी प्रकार रूढिवादी परम्परा और अंधविश्वास का भी नैतिकता की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। फिर भी ये समाज में पनपते हैं, इसका समर्थन करने के पक्ष में मैं नहीं हूं। किन्तु यह भी ध्यान देने की बात है कि रूढ परम्पराओं को तोडने के साथ ही उच्छृंखलता का वातावरण तैयार होता है। मनोवृत्ति को उच्छृंखल बनाने की सामग्री जुटाना भी अच्छी बात नहीं है।

मैं एकान्ततः परम्परा या स्वतन्त्रता का पक्षधर नहीं हूं। स्वतन्त्रता का अपना मूल्य है और परम्पराओं का अपना मूल्य है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के हितों को ध्यान में रखकर जागृत विवेक से जो तत्त्व स्वीकार किए जाते हैं वे ही नैतिक मूल्यों को स्थायित्व दे सकते हैं। नैतिक मूल्यों को विकसित करने के लिए उच्छृंखलता और अर्थहीन परम्परावादिता के बीच का मार्ग प्रशस्त होने से ही स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता है।

सुख और उसके हेतु

प्रश्न— कुछ लोगों का अभिमत है कि बार-बार कर्त्तव्य की दुहाई देने से कोई भी व्यक्ति नैतिक नहीं हो सकता। नैतिकता स्वतःस्फूर्त चेतना है। स्वतन्त्र रूप से नैतिक भावना का उदय होने पर ही व्यक्ति सच्चरित्र बन सकता है। ऐसी स्थिति में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए चलने वाले अभियानों की क्या उपयोगिता है?

उत्तर—इस प्रतिपादन में सत्यांश नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कर्त्तव्य की दुहाई देने मात्र से नैतिक चेतना जागृत नहीं होती। नैतिकता का सम्बन्ध है आन्तरिक चेतना से। जिस प्रेरणा, प्रोत्साहन या प्रवृत्ति से अन्तर्चेतना का स्पर्श नहीं होता उसके प्रतिफलन में नैतिकता की निष्पत्ति भी नहीं हो पाती। किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी सत्य से परे नहीं है। जब तक नैतिकता के संबंध में ज्ञान नहीं कराया जाएगा, तब तक जागने का अवसर ही नहीं आएगा। किसी भी प्रक्रिया के सम्यक् अवबोध के बाद ही उसे जीवन व्यवहार में लाया जा सकता है। बिना अवबोध क्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिए नैतिक मूल्यों या कर्त्तव्यबोध के लिए चलाए जाने वाले अभियानों की सार्थकता को नकारा नहीं जा सकता।

अणुव्रत प्रारम्भ से ही इस बात में विश्वास करके चला है कि केवल आन्दोलनात्मक प्रवृत्ति से नैतिक चेतना का जागरण नहीं हो सकता। अणुव्रत की नैतिकता अध्यात्ममूलक नैतिकता है। जब तक अध्यात्म का अनुभव और विकास नहीं होता व्यक्ति सही माने में नैतिक नहीं हो सकता। अध्यात्म चेतना से फलित नैतिकता ही शुद्ध और व्यापक नैतिकता है। इस दृष्टि से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना के लिए जो अभियान चलते हैं और अध्यात्म साधना के योग से शून्य रहकर चलते हैं वे थोथे अभियान हैं। उनसे यथेष्ट निष्पत्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न—अध्यात्म को आप किस शब्दावलि से परिभाषित करते हैं?

उत्तर—आन्तरिक चेतना को जागृत करने का अभ्यास अध्यात्म है।

अनैतिकता या नैतिकता का प्रश्न ही नही उठता। तीसरे स्तर मे व्यक्ति की चिन्तन शक्ति विकसित होती है। वह दूसरे के प्रति ध्यान वाले अपने व्यवहार को औचित्य या अनौचित्य की दृष्टि से देखता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य दार्शनिको द्वारा विश्लेषित तीनो तत्त्वो मे तर्कात्मक चेतना का सम्बन्ध नैतिक जीवन से है। उसी के आधार पर मनुष्य अपनी नैतिक चेतना को जागृत कर सकता है।

होगा। यदि व्यक्ति का अन्तःकरण निर्मल नहीं है तो व्यावहारिक भूमिका पर भी उसके सामने कठिनाई उपस्थित हो जायगी। नैतिकता की परिभाषा का जहा तक प्रश्न है, वह अपने आप मे निश्चित है। आन्तरिक जागरण और दूसरो के प्रति समुचित व्यवहार नैतिकता की पहली कसौटी है।

प्रश्न—स्थायी, अपरिवर्तित, स्वलक्ष्य और निरपेक्ष मूल्यों की चर्चा म पश्चिमीय दर्शन के विख्यात दार्शनिक प्लेटो ने चार सद्गुण बताये हैं—विवेक, साहस, सयम और न्याय। भारतीय दृष्टि से नैतिक मूल्यो की व्याख्या की जाये तो इन चारो सद्गुणो मे नैतिकता समग्र रूप से समाहित हो जाती है या उसके मूल्य अवशेष भी रह जाते हैं?

उत्तर—प्लेटो ने जिन सद्गुणो का उल्लेख किया है, वे नैतिक मूल्यो के अग तो हैं पर उनका नैतिकता के साथ नितान्त अनुबन्ध नही है। विवेक और सयम ये दो तत्त्व ऐसे हैं जो नैतिकता से अनुबधित हैं। साहस और न्याय के सदर्भ मे यह बात लागू नही होती, क्योकि इनका प्रयोग अनैतिकता के लिए भी किया जाता है। नैतिकता साहस की फलश्रुति है तो अनैतिकता भी साहस के बिना नही की जा सकती। कमजोर व्यक्ति अनैतिक कर्म करने म भी कमजोर ही रहता है। इसलिए इन तत्त्वो म एकान्तत नैतिकता का समावेश नही हो सकता।

भारतीय चिंतन के अनुसार नैतिकता को परिभाषित करने वाला एक तत्त्व है करुणा। करुणा का अर्थ है क्रूरता का अभाव। जहा क्रूरता विलीन हो जाती है, व्यक्ति दूसरे के प्रति असद् व्यवहार नही कर सकता। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के पास किसी ने अपनी धरोहर रखी। वह उसे लौटाता है इसको धर्म मानना जरूरी नही है पर नैतिक व्यवहार की सीमा मे यह रहेगा ही। धरोहर को चुराने या हजम करने की चेतना पाप है अनैतिक है। यह भावना तभी सुदृढ़ हो सकती है, जब व्यक्ति के अन्तःकरण से क्रूरता के भाव समाप्त हो जाते हैं।

प्रश्न—प्लेटो ने जिन सद्गुणो की चर्चा की है अरस्तू ने उसको अपनी सहमति देते हुए मनुष्य की आत्मा के तीन अग स्वीकार किये हैं—वनस्पति-भावात्मक, पशु भावात्मक, तर्कात्मक। आपके अभिमत से इन अगो का नैतिक जीवन के साथ क्या सबध है?

उत्तर—मेरी दृष्टि से ये चेतना के तीन स्तर हैं। प्रथम स्तर की चेतना वनस्पति भावात्मक होती है। इस चेतना मे सवेदन होता है, पर ज्ञान नहीं होता। दूसरे स्तर की चेतना पशु भावात्मक है। इसमे कुछ सवेदन और कुछ ज्ञान होता है और तीसरे स्तर की चेतना तर्कात्मक है। यह मानवीय चेतना है। इसमे ज्ञान मुख्य होता है और सवेदन गौण हो जाता है। क्योकि तर्क के साथ सवेदन टिकता नही। इन तीनो स्तरो मे नैतिक विकास के अनुकूल स्तर तीसरा है। नैतिक विकास बौद्धिक विकास के साथ जुडा है। इसलिए प्रथम स्तरो मे

अनैतिकता या नैतिकता का प्रश्न ही नही उठता। तीसरे स्तर मे व्यक्ति की चिंतन शक्ति विकसित होती है। वह दूसरे के प्रति होने वाले अपने व्यवहार को औचित्य या अनौचित्य की दृष्टि से देखता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा विश्लेषित तीनों तत्त्वों में तर्कमय चेतना का सम्बन्ध नैतिक जीवन से है। उसी के आधार पर मनुष्य अपनी नैतिक चेतना को जागृत कर सकता है।

दंड और नैतिकता

प्रश्न—कुछ लोगों का अभिमत है कि भारतीय अध्यात्मवादियों ने मोक्ष पुरुषार्थ पर आवश्यकता से अधिक बल दिया। उन्होंने मोक्ष का साधन बनाया एकमात्र निवृत्ति मार्ग को। इसके साथ ही उन्होंने भौतिक तथा व्यावहारिक मूल्यों का इतना तिरस्कार किया कि भारतीय दृष्टिकोण में एक सीमा तक निराशावाद उत्पन्न हो गया। क्या यह सही है? यदि आध्यात्मिक दृष्टिकोण व्यवहार के प्रति निराशा उत्पन्न करता है तो सामान्य लोक जीवन में उसका क्या उपयोग है?

उत्तर—इस प्रश्न का समाधान सापेक्ष दृष्टिकोण है। ऐकान्तिक आग्रह किसी भी बात का हो, वह निराशा को जन्म देता है। श्रेष्ठ प्रक्रिया का प्रसार करने वाले उस पर इतना बल देते हैं कि सीमा का अतिक्रम हो जाता है। इससे दो स्थितियां निष्पन्न हो जाती हैं—कुछ व्यक्ति अन्य सब प्रक्रियाओं को गौण कर एक ही प्रक्रिया के पीछे पड़ जाते हैं जिससे वे अन्य प्रक्रियाओं से संभावित लाभ को प्राप्त नहीं कर पाते। कुछ व्यक्ति यह सोचते हैं कि इस बात पर इतना अधिक बल दिया जाता है, इसका कारण इसमें कोई सार नहीं है। अन्यथा इसके गुणात्मक परिणाम को देखकर लोग स्वयं इसे अपनाते। इस प्रकार सोचकर वे उससे दूर हो जाते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा एक अच्छी चिकित्सा पद्धति है। पर प्राकृतिक चिकित्सकों ने इस पर अधिक बल ही नहीं दिया दूसरी पद्धतियों को अपूर्ण और दोषपूर्ण ठहरा दिया। इससे ऐकान्तिक आग्रह पनपता है। इस ऐकान्तिकता को सापेक्षवाद के बिन्दु पर ही दूर किया जा सकता है।

मोक्ष के सन्दर्भ में भी सापेक्षवाद का आश्रय लेना होगा अन्यथा मोक्षवादी ऐकान्तिक धारणाएं व्यक्ति को भ्रान्त कर सकती हैं। मोक्ष का भी एकान्त आग्रह नहीं होना चाहिए। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही किसी अनुभवी विद्वान ने लिखा है—

'मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः'

प्रवर मुनि वह होता है जो मोक्ष और संसार दोनों के प्रति निस्पृह होता

है। ससार और मोक्ष दो भिन्न तत्व है कि तु इन दोनो के प्रति निस्पृहता मे मोक्ष की परिपूर्णता पर एक प्रश्नचिह्न खडा हो जाता है। क्योकि मोक्ष भी सापेक्ष है और ससार भी सापेक्ष है। सापेक्षता की बात छोड दी जाये तो मोक्ष को समझना ही कठिन हो जायेगा।

अध्यात्म जीवन का प्रकृष्ट मूल्य है, पर इसकी मूल्यवत्ता भी सापेक्ष है। जीवन निर्वाह की दिशा मे इसका क्या उपयोग हो सकता है ? वेदान्त परम सत्य को निरपेक्ष मानता है, पर सापेक्षवादी दृष्टिकोण से कोई भी सत्य निरपेक्ष नही है। मोक्ष भी कोई निरपेक्ष तत्त्व नही है। वह जीवन की प्रक्रिया है और इसी जीवन मे घटित होती है। उसका चरम बिन्दु मोक्ष है। यदि आदि और मध्यवर्ती बिन्दुओ की अपेक्षा न रखी जाये तो मोक्ष की बात समझ मे ही नहीं आ सकती।

ससार को सत्य न मानकर केवल मोक्ष को ही यथार्थ मानने से निराशा उत्पन्न होती है। जहा ससार और मोक्ष दोनो का सापेक्ष मूल्य हो वहा न तो निराशा का खतरा है और न एकान्त निवृत्ति मार्ग से होने वाली अकर्मण्यता की आशका है। वैसे निवृत्ति और प्रवृत्ति का सापेक्ष मूल्य हर परिस्थिति है। जीवन के लिए प्रवृत्ति जितनी आवश्यक है निवृत्ति भी उससे कम आवश्यक नही है। इसलिए इस भ्रम को तोड देना चाहिए कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण व्यवहार के प्रति निराशा उत्पन्न करता है। जन-साधारण के जीवन को उन्नत बनाने के लिए अध्यात्म का जो मूल्य है, वह उसके सम्यग् उपयोग से ही समझ मे आ सकता है।

प्रश्न—मनुष्य दु ख से दूर रहना चाहता है और सुख पाना चाहता है। केवल चाह के आधार पर वह न तो दु ख को दूर कर सकता है और न सुख पा सकता है। ऐसी स्थिति मे ऐसे कौन से नैतिक मूल्य हैं जिनका अनुसरण कर व्यक्ति सुखपूर्वक जी सकता है ?

उत्तर—सुख और दु ख का स्रष्टा व्यक्ति स्वय है। फिर भी चाह मात्र से वह न तो सुख पा सकता है और न दु ख दूर कर सकता है। क्योकि चाह के अनुरूप क्रिया का पथ स्वीकार करने से ईप्सित की प्राप्ति होती है। किसी व्यक्ति की आख मे पीडा हो और वह दवा का प्रयोग पीठ पर करे तो उसकी आख ठीक नहीं हो सकती। इसी प्रकार सुखैषणा रत व्यक्ति तभी दु ख से मुक्त हो सकता है जब वह दु खद परिणाम लाने वाली परिस्थितियो का निर्माण न करे।

मेरे अभिमत से दु ख का सबसे बडा हेतु है—आकाक्षाओ का विस्तार। मनुष्य अपनी आवश्यकता पूरी कर सकता है किन्तु असीम आकाक्षाओ की पूर्ति ससार की कोई भी शक्ति नही कर सकती। अपूर्ण इच्छा मनुष्य को दु ख देती है। इसी प्रकार पूर्ण इच्छा भी व्यक्ति को दु ख की ओर अग्रसर करती है। फिर

सौ रुपये पाने की चाह हजार में परिणत होती है हजार की कामना लाखों की परिक्रमा करती है और समूचे संसार का वैभव हस्तगत हो जाए तो भी वह परिक्रमा नहीं छूटती।

अमरीका में एक सम्पन्न व्यक्ति एण्ड्रयू कार्नेगी ने मरते समय दस अरब की सम्पत्ति अपने पीछे छोड़ी। मृत्यु से तीन दिन पूर्व उसके एक मित्र ने उससे पूछा—'अरबों की सम्पत्ति का संग्रह कर अब तो तुम तृप्त हो गये हो? तुम कितने सुखी हो आज!' यह बात सुन वह उदास होकर बोला—'मित्र! तृप्ति और सुख की बात कहां? मेरे पास केवल दस अरब की सम्पत्ति है। मैं अब पूरी तरह थक चुका हूं। अपनी इच्छा पूरी करने में मैं असमर्थ हूं। क्योंकि मेरा इरादा सौ अरब की सम्पत्ति संग्रह करने का था।

एक एण्ड्रयू कार्नेगी क्या, लाखों-करोड़ों व्यक्ति ऐसे हैं जो सब प्रकार की सम्पन्नता के बावजूद खिन्न हैं। ऐसे व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकते। सुखोपलब्धि के लिए सबसे सरल नैतिक मूल्य है विलासबहुल वृत्ति और कृत्रिम अपेक्षाओं से ऊपर उठकर वर्तमान में जीने और सन्तुष्ट रहने की वृत्ति का विकास।

प्रश्न—जिस युग में अनैतिक या दुराचारी व्यक्तियों का बहुमत हो और कुछ व्यक्ति सदाचारी रहना चाहते हों क्या वे अल्पसंख्यक सदाचारी व्यक्ति नैतिक क्रान्ति कर सकते है?

उत्तर—क्रान्ति के सन्दर्भ में प्रश्न संख्या का नहीं, मनोबल का है। बड़ी संख्या में व्यक्ति नैतिक हों तो फिर नैतिक क्रांति की आवश्यकता ही नहीं रहती। क्रांति हमेशा अल्पसंख्यक ही करते हैं। क्रांति की अपेक्षा तभी होती है जब अधिकांश व्यक्ति एक प्रवाह में बह रहे हैं और कुछ व्यक्तियों को उसमें औचित्य की प्रतीति न हो। वे उस प्रवाह को जो मोड़ देना चाहते हैं, उससे बहुसंख्यक लोग सहमत नहीं होते। उसी समय अल्पसंख्यक लोगों का मनोबल दुर्बल हो तो वे अपने लक्ष्य से हट जाते हैं और क्रांति की बात पीछे छूट जाती है। किन्तु दृढ़ मनोबल वाले व्यक्ति हर कठिन परिस्थिति में जूझते हुए क्रांति के स्वप्न को साकार करने में सफल हो जाते हैं।

प्रश्न—इन सहस्राब्दियों में ऐसे कौन-से युग हुए हैं, जिनको नैतिक क्रांति का संवाहक माना जा सकता है?

उत्तर—भगवान महावीर और बुद्ध का युग क्रांत चेतना का युग रहा है। उस समय सामाजिक अन्धविश्वासों और अनैतिकता के विरोध में इन महापुरुषों ने आवाज उठायी, जो एक सीमा तक काफी सफल रही। इसने जन-जन की चेतना को झकझोरा और समाज में नये मूल्यों की प्रस्थापना हुई। नैतिक क्रांति की यह धारा गुप्तकाल तक चलती रही। सम्राट अशोक के समय तक इसमें

समय समय पर नये उन्मेष आते रहे। उसके बाद इसके ह्रास का काल प्रारम्भ हो जाता है। ह्रास के प्रमुख कारण थे—आपसी संघर्ष, विदेशी आक्रमण और पराधीनता। अब भारतवर्ष पराधीनता के शिकंजों से मुक्त है। विदेशी आक्रमण की परम्परा भी समाप्त हो गयी है, पर पारस्परिक संघर्ष की स्थिति में सुधार नहीं है। नैतिक क्रांति की आज भी उतनी ही अपेक्षा और अवकाश है। सब नैतिक शक्तियां मिलकर काम करें तो युग चेतना के निर्माण का नया अध्याय खुल सकता है।

दंड-संहिता कब से ?

प्रश्न—सामाजिक या नैतिक नियमों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति दंडनीय होता है। अपने अपराध के परिशोधन हेतु व्यक्ति स्वयं दंड स्वीकार करे यह नैतिकता है। पर किसी अपराधी को बलात दंड देना अनैतिकता नहीं है क्या?

उत्तर—नैतिकता के दो रूप हैं—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। अध्यात्म के स्तर पर फलित होने वाली नैतिकता यही है कि व्यक्ति आत्मप्रेरणा से प्रेरित होकर अपने अपराध को स्वीकार करे और उसका प्रायश्चित वहन करे। पर राज्य-व्यवस्था में दंड देना भी पड़ता है। यह व्यवहार का धरातल है। इसके साथ अध्यात्म का ऐकान्तिक अनुबंध नहीं होता, फिर भी इसको अनैतिक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि नैतिकता का व्यवहार पक्ष भी समाज द्वारा सम्मत है।

प्रश्न—प्राचीन काल से ही मनुष्य न्याय तथा दंड के भय से नैतिकता का विकास करता आया है। एक समय था जब सामाजिक बहिष्कार भी मृत्युदंड से अधिक भयप्रद था। किन्तु अब सामाजिक बंधन खुलकर तोड़े जा रहे हैं। सम्भव है सामाजिक वर्जनाओं का अतिक्रमण करने के पीछे यह भावना रही हो कि नैतिक विकास भय और दंड के द्वारा नहीं हो सकता। क्या यह चिन्तन सही है? नैतिक मूल्यों की प्रस्तावना में भय और दंड का कोई स्थान है या नहीं?

उत्तर—इस तथ्य को भी निश्चय और व्यवहार, इन दोनों दृष्टियों से समझना होगा। नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में भय और दंड का अपना मूल्य है यह व्यावहारिक दृष्टि है। अध्यात्म के क्षेत्र में भय और दंड को कोई स्थान नहीं है। जहां भय है वहां अध्यात्म का स्पर्श भी नहीं है। 'भय बिनु प्रीति न होइ'—यह भी एक सिद्धांत है, किन्तु यह सामान्य चेतना वाले लोगों के लिए है, जो व्यवहार के धरातल पर चलते हैं। व्यवहार से ऊपर उठने के बाद नैतिकता अन्तःस्रावी हो जाती है। संत तुलसीदासजी ने भय को अपनी सहमति देते हुए लिखा है—

> डर डर गुरु डर गांव डर,
> डर करणी में सार।

'तुलसी' डरे सो ऊबरे,
गाफिल खावे मार ॥

मेरे अभिमत से यह बात सामान्य चेतना के लोगो के लिए कही गयी है। प्रबुद्ध और विशिष्ट व्यक्ति किसी भी तथ्य को स्वीकार करते हैं, उसे सिद्धात के आधार पर ही स्वीकार करते हैं।

मानव चेतना के अनेक स्तर है। जिन लोगो की चेतना जागृत नही है वे एक दृष्टि से बच्चों की श्रेणी मे आ जाते हैं। उनकी चेतना स्वार्थ चेतना होती है। स्वार्थ चेतना मे अध्यात्म का समावेश होता नही। इसलिए भय और प्रलोभन के द्वारा उनकी दिशा बदली जाती है। जहा स्वार्थातीत चेतना का जागरण हो जाता है, वहा भय और प्रलोभन स्वय समाप्त हो जाते हैं।

कानून बनते हैं उनमे जागृत और सुप्त चेतना के आधार पर कोई विभाजन नही होता। सब कानून सभी नागरिको पर समान रूप से लागू होते हैं। इसमे अच्छे लोगो के सामने कठिनाई भी उपस्थित होती है। अध्यात्म के क्षेत्र मे जितने नियम हैं उनमे विशेष अपवाद भी हैं। अमुक नियम अमुक प्रकार की परिस्थिति मे मान्य है, पर परिस्थितिया बदलने के बाद वह कृतार्थ हो जाता है। जो व्यक्ति साधना की ऊची भूमिका पर आरोहण कर कल्पातीत बन जाते हैं उनके लिए किसी विधान की अपेक्षा ही नही रहती। भय और प्रलोभन भी समय, स्थिति और चेतना-स्तर सापेक्ष हैं।

प्रश्न—अरस्तु के अनुसार विधान की सकीर्णता करुणा और बुद्धिमत्ता दोनो का लोप कर देती है। विधान अनेक मानवीय मूल्यो की अवहेलना करता है और जिन मूल्यो को पकडता है उन्हे इतनी दृढता से पकडता है कि वे स्वय थरथरा उठते हैं। इस अभिप्राय से यह प्रमाणित होता है कि विधान व्यवहार निरपेक्ष प्रक्रिया है। क्या इसकी मानव जीवन मे कोई उपयोगिता है? वैधानिक न्याय का नैतिक न्याय के साथ क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—विधानो मे रहने वाली सकीर्णता की ओर मैंने पहले से ही सकेत कर दिया है। जिस विधान मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की कोई विवक्षा नही रहती, वह निरपेक्ष विधान होता है। जो विधान परिवर्तनशील परिस्थितियो और चेतना, स्तरो के तारतम्य को उपेक्षित छोडकर चलता है उसमे करुणा का लोप तो होता ही है। करुणा की अवहेलना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानवीय मूल्य की अवहेलना है इसलिए विधान व्यवस्था पर लगे प्रश्नचिह्न को विराम देना सरल काम नहीं है।

अब रहा प्रश्न नैतिक न्याय और वैधानिक न्याय का। विधान मात्र विधान है। इसको नैतिकता के साथ जोडने की बात जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही जटिल है। एक न्यायाधीश किसी घटना को अपनी आखो से देखता है। वह जानता है

कि इस प्रकरण में सच्चा अपराधी कौन है ? किन्तु अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर वह कोई निर्णय नहीं दे सकता। उसके निर्णय का आधार बनते है—'गवाह'। गवाह सबल है तो एक झूठा आदमी न्याय पा लेता है और सच्चा आदमी गवाहों के अभाव में आंसू बहाता रह जाता है। यदि न्यायाधीश प्रत्यक्ष दृष्ट बात के आधार पर न्याय देता है तो उस पर पक्षपात का आरोप भी लगाया जाता है। इसलिए वैधानिक न्याय में कानून की मर्यादा और मान्यता के आधार पर ही काम होता है।

उत्तम प्रव्रज्या स्थान के लिए उद्यत नमि राजर्षि के सामने ब्राह्मण के रूप में उपस्थित देवेन्द्र ने राजर्षि को सम्बोधित कर कहा—

'हे क्षत्रिय ! तुम मिथिला के स्वामी हो। अपने अधीनस्थ लोगों को सुरक्षा का आश्वासन देना प्रशासक का पहला काम है। तुम्हारे प्रजाजन चोरों, लुटेरों बटमारों और गिरहकटों से परेशान हैं। तुम पहले इनका निग्रह करो। दण्ड दो। अपनी प्रजा को आश्वस्त करो। उसके बाद निश्चिन्त होकर प्रव्रज्या स्वीकार करना।'

देवेन्द्र की बात सुनकर नमि राजर्षि मौन नहीं रह सके। वे एक सत्य को उजागर करते हुए बोले —

असइं तु मणुस्सेहिं,
मिच्छा दंडो पजुंजई।
अकारिणोऽत्थ बज्झंति,
मुच्चई कारओ जणो॥

मनुष्य द्वारा अनेक बार मिथ्यादण्ड का प्रयोग किया जाता है। अपराध नहीं करने वाले यहां पकड़े जाते हैं और अपराध करने वाला छूट जाता है। अपराधी व्यक्ति यदि चतुर है तो वह अपराध करने पर भी पकड़ में नहीं आता। पकड़ में आने पर भी उसके अपराध को प्रमाणित किए बिना उसे दंडित नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि दण्ड अपराध का नहीं अपराध के प्रमाणित होने का है। एक निरपराध व्यक्ति अपने ऊपर लगाए गये आरोपों को निरस्त करने में असमर्थ है तो वह कानून की गिरफ्त में आ जायेगा और झूठे पर सबल गवाहों के द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट कर अपराधी व्यक्ति साफ साफ बच जायेगा।

उक्त तथ्यों के आधार पर यह बात स्पष्ट होती है कि वैधानिक न्याय के साथ नैतिक न्याय का सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है। न्याय की प्रक्रिया से गुजरने वाला न्यायाधीश अपनी स्वयं की प्रामाणिकता के साथ ठोस अनुकूल सामग्री पा लेता है तो अनैतिक या अप्रामाणिक तथ्यों के विरुद्ध निर्णय दे सकता है, वैसे न्यायालय के परिवेश में अध्यात्म चेतना का जागरण बहुत जरूरी है। क्योंकि इसी के द्वारा जनता को नैतिक न्याय मिल सकता है।

अपराध का उत्स मन या नाडी-संस्थान

प्रश्न—नीति का एक सूत्र है—'शठं शाठ्यं समाचरेत्'। जो व्यक्ति हमारे प्रति शठता का व्यवहार करता है, उसे प्रतिदान में वैसा ही व्यवहार मिलना चाहिए। एक व्यक्ति हमारा बुरा करता है और हम उसकी भलाई करते रहें, यह बुद्धिमत्ता नहीं है। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

उत्तर—'शठे शाठ्यं समाचरेत्' यह धर्मनीति का नहीं, राजनीति का सूत्र है। इस सूत्र की क्रियान्विति में मानवीय मूल्यों का अधःपतन होता है। वैर की परम्परा बढ़ती है और मानस संक्लिष्ट रहता है। 'अस्ति सत्थं परेणपरं नत्थि असत्थं परेणपरं'—शस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण होता है। अशस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण नहीं होता—वह एक रूप होता है। द्वेष, घृणा, क्रोध आदि शस्त्र हैं। मैत्री, क्षमा, बन्धुता आदि अशस्त्र हैं। शस्त्र में विषमता होती है उत्कर्ष अपकर्ष होता है। किसी के प्रति द्वेष की मात्रा अधिक होती है और किसी के प्रति कम। पर अशस्त्र में समता होती है। मैत्री में तीव्रता या मन्दता नहीं होती। मैत्री मैत्री है। वह किसी के प्रति हो, अपने आप में परिपूर्ण होगी। इसलिए बुरा करने वाले के प्रति भी अनिष्ट का संकल्प अच्छा नहीं हो सकता।

अब रहा प्रश्न शठता के प्रतिकार का। मेरे अभिमत से हर परिस्थिति का प्रतिकार शठता ही नहीं है। अहिंसा में आस्थाशील व्यक्ति इसका प्रतिकार अहिंसात्मक पद्धति से करते हैं। गांधीजी का 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' अहिंसा की पृष्ठभूमि पर ही खड़ा हुआ था। यह एक प्रकार से नैतिक दबाव था। नैतिक दबाव जितना कारगर होता है, उतना दूसरा हो ही नहीं सकता। एक निहत्था आदमी नैतिकता के बल पर बहुत बड़े साम्राज्य को स्वायत्त कर सकता है। किन्तु इसके पीछे प्रबल आत्मबल की अपेक्षा रहती है। आत्मबल जागृत न हो तो व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। सबल आत्मबल की स्थिति में उपकरण सामग्री का अभाव भी अकिञ्चित्कर बन जाता है। अतीत में घटित घटनाओं के आधार पर इस सत्य को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति समाधान नहीं है, प्रत्युत इससे नयी समस्याएं उभरती

हैं।

प्रश्न—जो व्यक्ति शठे शाठ्य समाचरेत्' की नीति का आलम्बन नहीं लेता है वह भी न्याय की शरण में तो जाता ही है। न्याय का स्वाभाविक सिद्धान्त है कि अपराध करने वाले को दंड मिलना चाहिए जब कि प्राकृतिक नियम यह है—बुरा करने वाले को स्वयं उसका बुरा फल मिल जाता है। क्या यह सिद्धांत सही है?

उत्तर—दंड अपने आप मिलता है, यह बात प्राकृतिक नियम की दृष्टि से सही है। अपराधी व्यक्ति को और कुछ मिले या नहीं आत्महीनता के भाव से ग्रस्त होता ही है। एक बुरे संस्कार का अनुबंध दूसरे बुरे संस्कारों के साथ जुड़ता है। मानवता का जो सामान्य धरातल है उससे च्युत होकर व्यक्ति एक प्रकार की पीड़ा के अनुभव से गुजरता है। पर समाज इस प्राकृतिक नियम को स्वीकार नहीं करता। समाज और राज्य की व्यवस्था अपराध को नियन्त्रित करना चाहती है। उसके नियंत्रण का माध्यम है दंड। एक अपराधी व्यक्ति को दंडित कर समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था उन लोगों के मन में भय पैदा करती है, जो अपराध की ओर अग्रसर होते हैं।

सामाजिक और प्राकृतिक दोनों प्रकार के नियम अपने-अपने प्रकार की व्यवस्था है। स्वभाव-परिवर्तन का जहां तक प्रश्न है वह न सामाजिक नियमों से बदलता है और न ही प्राकृतिक नियमों से। उसका बदलाव होता है आध्यात्मिक अनुशासन से। जिन लोगों में आत्मानुशासन का भाव विकसित रहता है वे अपराधी मनोवृत्तियों को रूपान्तरित करने में सफल हो जाते हैं तथा उससे होने वाले परिणामों को भी ध्यान में रखते हैं।

प्रश्न—सज्जनता को प्रोत्साहन और दुष्टता का दमन नैतिक मूल्यों की दृष्टि से भी आवश्यक है क्या?

उत्तर—किसको संरक्षण देना चाहिए और किसको दंड देना चाहिए—ये दोनों समाज या राज्य व्यवस्था के अंग हैं। अध्यात्म का व्यक्ति इस भाषा में नहीं सोचता। क्योंकि वहां दंड के स्थान पर प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त स्वयं की आलोचना का फलित है। समूह चेतना में जहां व्यक्ति प्रमाद करता है तब उसे सुझाने की बात प्राप्त होती है। किन्तु जब तक व्यक्ति अपने अपराध को स्वीकार नहीं करता उसे प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता। प्रायश्चित्त का अर्थ है—मन का शोधन। चित्तस्य प्रायः इति निर्मलीकरण शोधनम्।

राज्य व्यवस्था मानसिक शुद्धि की अपेक्षा व्यवस्था पर ही ध्यान देती है। राज्य की उत्पत्ति का मूल आधार भी यही है। नीतिकारों ने कहा है—

दुष्टस्य दंडः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोषस्य च संप्रवृद्धिः।

दुष्ट व्यक्ति को दंड देना, सज्जन व्यक्ति की पूजा करना और न्यायपूर्ण

प्रक्रिया से राज्य-कोष की वृद्धि करना राजनीति का सूत्र है। नैतिक मूल्यों में हृदय परिवर्तन की बात आती है। बलात आरोपित दंड के पास व्यक्ति सुधार की अनिवार्य प्रक्रिया नहीं है। इसलिए इसको समाज और राज्य व्यवस्था का अंग मानना ही उचित प्रतीत होता है।

प्रश्न—जो व्यक्ति समाज व्यवस्था या राज्य व्यवस्था का अतिक्रमण करता है, विधान के प्रतिकूल आचरण करता है, वह दंडनीय होता है। दंड संहिता के अनुसार दंड के मुख्य तीन सिद्धांत हैं—१ निरोधात्मक, २ प्रशिक्षणात्मक, ३ प्रतिशोधात्मक।

इनमें कौन सा सिद्धांत अधिक उपयोगी हो सकता है तथा किस सिद्धान्त को विशेष रूप से क्रियान्वित किया जाना है?

उत्तर—राजकीय स्तर पर जिस दंड संहिता का निर्माण हुआ है, उसमें प्रतिशोध की बात मुख्य नहीं हो सकती। क्योंकि प्रतिशोध की भावना से निर्मित कोई भी विधान सम्मत नहीं होता। प्रशिक्षणात्मक प्रक्रिया का प्रयोजन है—व्यक्ति का सुधार। यद्यपि वर्तमान कारागृहों में सुधारवादी दृष्टिकोण को अपनाया जा रहा है। अपराधी को रचनात्मक प्रवृत्तियों में जोड़कर उसका दृष्टिकोण बदलने का प्रयास किया जा रहा है, फिर भी विधि-विधान के निर्माण में प्रशिक्षण या सुधार की बात भी गौण हो जाती है। निरोध या रोकथाम की प्रक्रिया अधिक सक्रिय प्रतीत होती है। एक व्यक्ति को दंडित करने से दूसरे व्यक्ति के मन में यह भाव जागृत होता है कि अमुक व्यक्ति ने ऐसी गलती की इसलिए उसे दंड भोगना पड़ रहा है। संभावित दंड से अपना बचाव करने के लिए वह अपनी गलत प्रवृत्तियों पर नियंत्रण कर सकता है। किन्तु दंड के भय से जो निरोध होता है और स्वभाव परिवर्तन के स्तर पर जो निरोध घटित होता है, इन दोनों में बड़ा अन्तर है।

उपयोगिता की दृष्टि से यदि देखा जाय तो निरोध और प्रतिशोध दोनों प्रक्रियाओं से अधिक प्रशस्त प्रक्रिया सुधारवादी है। व्यक्ति के मानस को प्रशिक्षित कर, उसे अपराधों के दुष्परिणाम की अवगति देकर मात्र सुधार की भावना से होने वाला चिंतन महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न—दंड-संहिता कब से चली आ रही है?

उत्तर—जब से मनुष्य ने समूह चेतना के स्तर पर जीना स्वीकार किया, व्यक्तिगत जीवन का समूहीकरण हुआ तब से ही यह क्रम चला आ रहा है। जैन परम्परा के अनुसार प्राचीन दंडनीति में हाकार, माकार और धिक्कार अर्थात हा! तुमने यह क्या किया? यह गलत काम मत करो और धिक्कार है तुम्हें, जो ऐसा गलत काम करते हो—यही दंड व्यवस्था थी। मनुस्मृति, शुक्रनीति, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि अनेक राजनीतिशास्त्र प्राचीन दंड परम्परा के अवबोधक हैं। इन

सबका एक ही उद्देश्य था—'मात्स्य न्याय मा प्रवर्तताम्'। बड़ा मत्स्य छोटे मत्स्य को न सताए, सबल व्यक्ति दुर्बल व्यक्ति का व्यापिन न करे। 'दंड सुप्तेषु जागर्ति'—सबके सोने पर भी दंड जागृत रहता है। दंडविहीन राज्य का कोई अस्तित्व नहीं रहता। इस दृष्टि से यह तो स्पष्ट है कि दंड-व्यवस्था बहुत प्राचीन है किन्तु उसमें क्रमिक विकास होता रहा है। प्रारम्भिक दंड-व्यवस्था बहुत मृदु थी। हजारों वर्ष पूर्व की दंड व्यवस्था अत्यन्त क्रूर थी। जैसे-जैसे एकतंत्र शासन पद्धति प्रबल होती है, दंड के साथ एकपक्षीय दृष्टिकोण जुड़ जाते हैं। लोक-चेतना प्रबुद्ध होती है तब उसमें पुनः परिवर्तन होने लगता है। इस प्रकार उन्नत और अवनत दंड-व्यवस्था में तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का भी बड़ा योग होता है।

आत्महत्या और अनशन

प्रश्न—दड-सहिता म अमुक अमुक अपराधो के लिए मृत्यु दड का विधान है। आपके अभिमत स दड की प्रक्रिया म सुधारवादी दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण बताया गया। किन्तु मृत्यु दड पाने वाला व्यक्ति जब स्वय ही समाप्त हो जाता है, तब सुधार का अवकाश ही कहा रहता है? ऐसी स्थिति मे क्या मृत्यु दड को सगत माना जा सकता है?

उत्तर—पिछले प्रकरण म दड के तीन सिद्धाता की चर्चा चली, उसम मृत्यु दड का प्रयोग अपराध की रोकथाम की दृष्टि से किया जाता है, ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि आध्यात्मिक मूल्य किसी भी स्थिति म मृत्यु दड का अपनी स्वीकृति नही देता। क्योकि अध्यात्म का प्रयोग चेतना के स्तर पर होता है, मृत्यु दड की परम्परा नयी नही है। आगमकाल मे भी अमुक प्रकार के अपराधी को मृत्यु दड दिया जाता था। ज्ञाता सूत्र के अनुसार अपराधी व्यक्ति के हाथ पाव और मुह काला कर उसे गधे पर चढाकर नगर के मुख्य मार्गों म घुमाया जाता था और यह उद्घोषणा की जाती थी कि इस व्यक्ति को दडित करने म राजा, सचिव आदि कोई दोषी नही है। इसका अपना आचरण दूषित है, इसलिए इसकी ऐसी स्थिति हो रही है। यदि यह बुरा आचरण नही करता तो इसकी भर्त्सना नही की जाती।

अपराधी के प्रति अप्रिय व्यवहार और इसके अनन्तर उसे आजीवन कारावास या मृत्यु-दड भोगत दूसरे लोगो को देख मन पर सहज ही एक दूसरी प्रतिक्रिया होती है। समाज या राज्य विरुद्ध आचरण करने से हमारी भी यही दशा होगी, इस कल्पना मात्र से उनके शरीर म कम्पन होने लगता है। शरीर का कम्पन मन और आत्मा को प्रकम्पित कर देता है और कई व्यक्ति बुराई न करने का सकल्प स्वीकार कर लेते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसधान ने प्रमाणित किया है कि दृढ सकल्प मानसिक शक्ति को प्रबल बनाता है जो व्यक्ति के साहस, धय, सतुलन, क्षमा आदि मानसिक शक्तियो का विकसित कर सकता है। वर्तमान म जनमत मृत्यु दड के विरोध म प्रबल होता जा रहा

है।

प्रश्न—आध्यात्मिक मूल्यों के सन्दर्भ में मृत्यु दंड का कोई औचित्य नहीं है। इसी प्रकार वहां आत्महत्या को भी उपादेय नहीं माना गया है। फिर भी जैन धर्म में अनशन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आत्महत्या और अनशन में क्या अन्तर है? एक व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितियों से संत्रस्त होकर मृत्यु का वरण करता है, दूसरा व्यक्ति स्वास्थ्य से निराश हो तपस्या कर मृत्यु को आमन्त्रित करता है और तीसरा व्यक्ति स्वस्थ शरीर में भी संलेखना कर अनशन कर लेता है। इन सब स्थितियों पर आपकी क्या टिप्पणी है?

उत्तर—आत्महत्या और अनशन—ये दोनों भिन्न परिस्थितियां हैं। इनमें सबसे बड़ा अन्तर है, उद्देश्य की विशुद्धि का। जो व्यक्ति परिस्थिति से संत्रस्त होकर मरने की बात सोचता है, उसकी परिणामधारा संक्लिष्ट हो जाती है। वह आर्तध्यान की प्रक्रिया से गुजरता है। उसका निर्णय और क्रियान्वयन आवेश की स्थिति में होता है। अनशन और आत्महत्या के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। आत्महत्या के नियामक तत्त्व हैं—संक्लिष्ट आवेश और आर्तध्यान। अनशन के नियामक तत्त्व हैं—असंक्लेश, शान्तचित्त और निर्मल ध्यान। जहां संक्लेश न हो, आवेश न हो और आर्तध्यान न हो, वहां अनशन की गरिमा स्वयं स्पष्ट हो जाती है।

एक बीमार व्यक्ति अन्तिम श्वास ले रहा है। उसके जीवन के शेष क्षण बड़ी मुश्किल से कट रहे हैं। वह सुखपूर्वक मरने की इच्छा से आत्मघात का पथ स्वीकार करता है। यह भी अनशन नहीं है। अनशन का उद्देश्य मृत्यु नहीं होता। वह विशिष्ट लक्ष्य को सामने रखकर स्वीकार किया जाता है, मृत्यु तो उसका प्रासंगिक परिणाम है। इसलिए अनशन और आत्महत्या को एक तुला पर तोलना उचित नहीं है।

प्रश्न—जैन सिद्धान्त विज्ञान सम्मत है, ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है। किन्तु उनमें जो अनशन (संथारा) की बात है, उसके कारण अनेक पाश्चात्य दार्शनिक जैन धर्म की आलोचना करते हुए उसे निराशावादी और अनैतिक घोषित करते हैं। मिसेज स्टीवेन्सन ने अपनी पुस्तक 'द हार्ट ऑफ जैनिज्म' में जैन सिद्धान्तों की पूरी व्याख्या के बाद अपना निष्कर्ष दिया है कि जैनवाद का हृदय रिक्त है। क्या विद्वानों के ये विचार हमें अनशन के सम्बन्ध में पुनश्चिन्तन की प्रेरणा नहीं देते?

उत्तर—जो विद्वान् अनशन की आलोचना करते हैं, वे मृत्यु—जो कि एक घटना है, उसे देखकर अपना मत प्रकट कर देते हैं। किसी भी सिद्धान्त का निर्णय केवल घटना के आधार पर नहीं होना चाहिए। हर घटना के पीछे रहे उद्देश्य

प्रेरणा और प्रवृत्तियो का सूक्ष्म दृष्टि से आकलन किये बिना किसी भी सिद्धात की आलोचना कर उसके साथ न्याय नही किया जा सकता।

अनशन जैन-परम्परा मे सम्मत है, पर यह बात नही है कि जब चाहा अनशन कर दो। उसकी पृष्ठभूमि मे मुख्य रूप से दो बिन्दु काम करते हैं—

● शरीर की उपयोगिता का अभाव।

● अन्न के प्रति अरुचि।

इसी तथ्य को स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है उत्तराध्ययन मे। वहा कहा गया है—

चरे पयाइ परिसंकमाणो ज किंचि पास इह मण्णमाणो।
लाभ तरे जीविय वूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलाव धसी॥

साधना के पथ पर पदन्यास करने वाला व्यक्ति पग-पग पर दोषो से भय खाता हुआ, थोडे से दोष को भी पाश मानता हुआ चले। नये-नये गुणो की उपलब्धि हो तब तक जीवन को पोषण दे। जब वह न हो, तब विचार विमर्श पूर्वक इस शरीर का ध्वस कर डाले।

उक्त उद्देश्यो के सन्दर्भ मे ही तपस्या और अनशन का मूल्य है। आवेश और सक्लेश की स्थिति मे किया गया अनशन, अनशन की कसौटी पर खरा नही उतर सकता।

प्रश्न—प्राचीन समय मे पति के साथ सती होने की प्रथा थी। वर्तमान मे भी कुछ स्त्रिया का ऐसा आग्रह होता है। इसे आप क्या मानते है?

उत्तर—सती प्रथा की पृष्ठभूमि मे भी परम्परागत मान्यता प्रेम या आवेश मात्र है। जो महिला पति के साथ जलने के लिए तयार होती है, उसके मन मे पीढियो से चली आ रही परम्परा को निभाने का आग्रह होता है या वह पति के प्रति अपने भावात्मक अनुराग की अभिव्यक्ति के लिए वसा निर्णय लेती है। किन्तु जीवन शोधन का कोई स्पष्ट दृष्टिकोण उसके सामने नही होता, इसलिए मैं इस प्रथा को उचित नही मानता। जिस युग मे सती प्रथा बहुलता से प्रचलित थी, कुछ स्त्रियो को पति की चिता के साथ जलने के लिए बलात बाध्य किया जाता था, जो किसी भी दृष्टि से उचित नही। आज परिस्थितिया काफी बदल गयी हैं। जहा कही ऐसा आग्रह हो, उसे उचित नही माना जा सकता।

युद्ध की लपटों में कांपती संस्कृति

प्रश्न—मानवीय संस्कृति में अणुयुग का रूप है—ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, धर्म आदि सब क्षेत्रों में प्रगति। प्रगति के इस बिन्दु पर मनुष्य नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान रहता है, विध्वंस से डरता है और युद्ध की परिस्थिति को टालता रहता है। इतना सब होने पर भी युद्ध की संभावना निरन्तर बनी रहती है। क्यों?

उत्तर—आस्था के दो रूप हैं—चिन्तन के स्तर पर और आचरण के स्तर पर। जिस व्यक्ति के चिन्तन का स्तर भिन्न होता है और आचरण का स्तर भिन्न, उसकी आस्था विभक्त हो जाती है। विभक्ति भेद की प्रतीक है। भेद में थोपी हुई मान्यता को भी व्यक्ति अपनी सहमति देता है किन्तु उसके अन्तर्मन की धारणाएं कुछ दूसरी होती हैं इसलिए वह आस्था के अनुरूप जीवन नहीं जी सकता। मुझे ऐसा लगता है कि नैतिक मूल्यों के प्रति होने वाली आस्था भी घनीभूत नहीं है। नैतिकता का सिद्धान्त सही है पर उसे आत्मसात करने से उपस्थित होने वाली कठिनाइयों के साथ मुकाबला करने की जब तक क्षमता नहीं है, तब तक व्यक्ति नैतिक नहीं हो सकता। नैतिकता के सन्दर्भ को एक बार गौण भी कर दिया जाए तो भी युद्ध की विभीषिका व्यक्ति को पीड़ित कर देती है। किन्तु इसके साथ वह यह भी जानता है कि युद्ध के द्वारा मेरे लिए जो प्राप्तव्य है, वह युद्ध से ही मिल सकता है। इसलिए वह शक्ति सम्पन्नता की स्थिति में युद्ध को टाल भी नहीं सकता।

एक बात और है। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य की झगड़ालू वृत्ति को उसकी मूल वृत्ति में मान्यता दी है। अंग्रेजी भाषा के विख्यात साहित्यकार और दार्शनिक फ्रांसीसी बेकन ने उक्त तथ्य के साथ अपनी सहमति व्यक्त करते हुए कहा है कि मनुष्य में लड़ने की प्रवृत्ति एक प्रधान मूल प्रवृत्ति है। इसका सहज रूप में मोड़ना बहुत कठिन है। मुझे भी ऐसी प्रतीति होती है कि जब तक काम, क्रोध आदि मूल वृत्तियां समाप्त नहीं होतीं, तब तक युद्ध की संभावना को भी नकारा नहीं जा सकता। ऐसी संभावनाएं जहां पुष्ट हो जाती हैं वहां जो-कुछ होता है वह अतीत

की आवृत्ति मात्र होता है। अत नैतिक आस्था और युद्ध की समावना को भिन्न-भिन्न सन्दर्भो मे समझना जरूरी है।

प्रश्न—नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा की दृष्टि से आणविक अस्त्रो के निर्माण का भी कोई औचित्य है?

उत्तर—नैतिकता और अणु अस्त्रो—दोनो मे कोई तुक ही नही है। क्योकि आणविक अस्त्रो का निर्माण स्वय ही अनैतिक है। राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्र मे असतुलन बढता है तथा असुरक्षा के भाव पनपते है। सतुलन और सुरक्षा का दूसरा कोई उपाय न पाकर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र शस्त्रो का निर्माण करते हैं। किन्तु ऐसा करने वाले आतक और असुरक्षा से मुक्त नही हो पाते। जो राष्ट्र शस्त्र निर्माता हैं, वे स्वय आशकित हैं। सभावित अनिष्ट की आशका से बचाव के लिए जो शस्त्र बनते हैं, वे दूसरे राष्ट्र को आशकित कर देते है। फलत शस्त्र-निर्माण की दौड शुरू हो जाती है। रूस और अमेरिका के बीच आज जो कुछ घटित हो रहा है, वह किसी से अज्ञात नहीं है।

प्रश्न—युद्ध मे विजेता और पराजित सस्कृतियो का परस्पर आदान प्रदान होता है। इससे सामाजिक और राजनैतिक धारणाओ मे परिवतन होता है। कुछ विचारको के अभिमत से वे देश नैतिक और सास्कृतिक दृष्टि से अधिक प्रगतिशील हैं, जिन्होंने अधिक युद्ध लडे। क्या यह तथ्य सगत है?

उत्तर—इस तथ्य को स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही है कि जो देश जितनी अधिक चोट सहन करता है, वह आगे जाकर उतना ही सजग हो जाता है। युद्ध भी एक प्रकार का आघात है, जो मूल्य परिवतन की दिशा मे नया चितन दे सकता है। आकस्मिक आघात भीतर और बाहर दोनो ओर से रूपान्तरण करता है। एक व्यक्ति के सिर मे चोट लगी। इस अप्रत्याशित चोट ने उसके स्नायु सस्थान को प्रभावित किया और उसे अतीन्द्रिय ज्ञान उपलब्ध हो गया।

एक व्यक्ति पक्षाघात से पीडित था। किसी समय उसके मकान मे आग लग गयी। घर मे भाग दौड मची। उसने सुना। एक झटका-सा लगा। वह उठकर खडा हो गया और बाहर आ गया। देखने वालो के आश्चय का ठिकाना ही न रहा। जो व्यक्ति अपना हाथ उठाकर भी इधर उधर नही कर सकता था, उसम अचानक उठकर दौडने की क्षमता कहा स आ गयी? उस क्षमता का स्रोत था उसके अवचेतन मन पर होने वाला तीव्र आघात, जिसने उसको एक साथ पूरी शक्ति दे दी।

इसी प्रकार अप्रत्याशित रूप से लगने वाले युद्ध के आघात भी व्यक्ति और राष्ट्र की चेतना को झकझोर सकते हैं तथा उनसे कई दृष्टियो स विकास की सभावना रहती है। पर जरूरी नही है कि ऐसी स्थिति युद्ध से ही हो, दूसरे भी

निमित्त हो सकते हैं। युद्ध भी निमित्त बनता हो तो भी प्रगति के लिए जान-बूझकर युद्ध को आमन्त्रित करना उचित नहीं है। क्योंकि युद्ध से होने वाले गलत परिणामों को नजरअंदाज करने वाले व्यक्ति युद्ध को प्रगतिशीलता का सूचक मान सकते हैं, वास्तव में वह मानवीय मूल्यों का विघटन है और पाशविक मनोवृत्ति का प्रतीक है।

प्रश्न—पूर्वीय और पाश्चात्य संस्कृतियों के आदान प्रदान में विश्व संस्कृति के अभ्युदय की संभावना है। इससे संकुचित साम्प्रदायिक धारणाएं टूटती हैं। अंधविश्वास समाप्त होते हैं और वैज्ञानिक दृष्टिकोण निर्मित होता है। क्या इसके लिए विभिन्न संस्कृतियों में टक्कर होनी चाहिए?

उत्तर—स्पर्धा और संघर्ष ये दो बातें हैं। विकासमूलक कार्यों के लिए स्पर्धा का होना अनुचित नहीं है। पर बिना प्रयोजन टक्कर लेना और लड़कर समाप्त हो जाना प्रशस्त तरीका नहीं है। संस्कृतियों का संगम लाभप्रद है। उससे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। क्योंकि एक-दूसरे को देखने, परखने और समझने का अवसर बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। पर थोड़े हित के लिए अधिक अहित को मोल लेना समझदारी नहीं है। राजा दिलीप को सम्बोधित कर उसकी परीक्षा के लिए उपस्थित सिंह ने कहा—

अल्पस्य हेतोः बहु हातुमिच्छन्।
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥

अल्पहित के लिए अधिक हित को दांव पर लगा देना वैचारिक मूढ़ता का प्रतीक है। अतः सांस्कृतिक विकास के लिए शान्ति, सुख और समृद्धि को युद्ध की आग में झोंक देना किसी भी दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न—प्राचीन समय में करणीय और अकरणीय का द्वन्द्व उत्पन्न होने पर व्यक्ति अपने अन्तःकरण को प्रमाण मानता था। अभिज्ञान शाकुंतल का दुष्यन्त शकुंतला के प्रति आकृष्ट होकर मानसिक द्वन्द्व में उलझ गया। अपने द्वन्द्व को समाप्त करने के लिए उसने एक आदर्श सामने रखा—

सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः॥

वर्तमान में द्वन्द्व का समाधान अन्तःकरण में नहीं, तर्क में खोजा जा रहा है। नैतिक निर्णय का एकमात्र आधार आज तर्क ही रह गया है। सामाजिक कल्याण की धारणा के आधार पर भी नैतिक मूल्यों का निर्णय किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तःकरण और व्यक्ति गौण है तथा तर्क और समाज मुख्य है। क्या हम यह मान लें कि अन्तःकरण का प्रामाण्य आज समाप्त हो गया है?

उत्तर—अन्तःकरण का प्रामाण्य स्थिति-सापेक्ष है। एक वीतराग व्यक्ति का अन्तःकरण निश्चित रूप से प्रमाण होता है। वीतरागता की स्थिति से पहले

भी सन्तुलित व्यक्ति का चित्त प्रमाण हो सकता है। पर हर व्यक्ति के अन्त करण को प्रमाण मानना खतरे स खाली नही है। एक उन्मत्त व्यक्ति के आत्मनिणय को वैधता का प्रमाणपत्र नही मिल सकता क्याकि उसका चितन अयथाथ है अधूरा है। ऐसे व्यक्तियो को मनचाहा करने की छूट मिल जाए तो प्रलय की आशका को टाला नही जा सकता। हिटलर जसे व्यक्तिया का अन्त करण ही युद्ध को जन्म देता है। इस दृष्टि से इतना ही कहना पर्याप्त है कि विशुद्ध और सन्तुलित अन्त करण प्रमाण बन सकता है। इससे विपरीत दिशा मे उसका प्रामाण्य अकिंचित्कर है।

तक का जहा तक प्रश्न है वह है मात्र बुद्धि का व्यायाम। उसका आधार केवल सत्य ही नही होता। असत आधारो पर भी तक की अवस्थिति होती है। वह समाज और व्यक्ति दोनो को स्थापित भी कर सकता है और उखाड भी सकता है। इसलिए इसकी प्रामाणिकता भी सदिग्ध है। प्राचीन युग मे तक विकसित नही हुआ था और अन्त करण ही सब कुछ था, यह एकागी सत्य है। मेरे अभिमत से इन दोना की विशुद्धि और सापेक्षता ही प्रामाण्य का आधार बन सकती है।

मूल्यों का प्रतिष्ठाता : व्यक्ति या समाज

प्रश्न—पिछली चर्चा में आपने बताया कि नैतिकता का मूल्य समूह में है। पर उस मूल्य को प्रस्थापित करने वाला तो व्यक्ति ही होता है। इस स्थिति में समाज के प्रति व्यक्ति का क्या कर्त्तव्य है और समाज व्यक्ति के लिए क्या कर सकता है?

उत्तर—यह तो निश्चित बात है कि नैतिक मूल्य की प्रतिष्ठा समाज के सन्दर्भ में है। उन मूल्यों का प्रतिष्ठाता व्यक्ति होता है। क्योंकि व्यक्ति के बिना समाज का अस्तित्व ही कहां रहता है। अब रहा प्रश्न व्यक्ति और समाज के पारस्परिक कर्त्तव्य का। व्यक्ति का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में पूरा पूरा योगदान करे। कोई भी मूल्य निर्धारित हो और व्यक्ति उसे विघटित करता चला जाए तो वह समाज में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। समाज को सुदृढ़ बनाना, उसे अधिक उपयोगी प्रमाणित करना तथा उसमें संभावित दुर्बलताओं को दूर करने के लिए सतत जागरूक रहना व्यक्ति की जिम्मेदारी है। समाज का कर्त्तव्य यह है कि वह ऐसी परिस्थिति निर्मित करे जो व्यक्ति को मूल्यों की प्रतिष्ठा हेतु अपना सहयोग दे सके। मूल्य प्रस्थापना की दिशा में परिस्थिति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुकूल परिस्थिति असंभव को संभव बनाकर दिखा सकती है।

मूल्यों की प्रस्थापना जितनी व्यक्ति और समाज सापेक्ष है उतनी ही परिस्थिति सापेक्ष है। तीनों का समुचित समाग ही किसी मूल्य को प्रतिष्ठा दे सकता है। परिस्थिति के निर्माण का मूलभूत दायित्व आता है समाज पर और उस निर्मित परिस्थिति में किसी प्रकार व्यवधान उपस्थित न हो, यह प्रयत्न करने की जिम्मेदारी है व्यक्ति की। व्यक्ति यदि उस मूल्य से प्रतिकूल आचरण करता है तो वह अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है।

नीतिकारों ने कहा है—धर्म, अर्थ और मोक्ष इस त्रिवर्ग की सिद्धि के अभाव में मनुष्य का जन्म विफल है। मैं ऐसा अनुभव करता हूं कि व्यक्ति, समाज और परिस्थिति—इस त्रिगुणात्मक योग के अभाव में मूल्य प्रतिष्ठा संबंधी कोई भी उपक्रम सफल नहीं हो सकता।

प्रश्न—नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा मे प्रमुख बाधा क्या है ? कुछ विचारक आर्थिक एव राजनैतिक परिस्थितियो—युद्ध वैज्ञानिक उन्नति कला तथा साहित्य को नैतिकता म बाधक मानते ह। इस सन्दभ म आपका अभिमत क्या है ?

उत्तर—नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा म सबसे बडी बाधा है चारित्रिक निष्ठा का अभाव। निष्ठा का बल जिस व्यक्ति म नही होता वह किसी भी स्थिति मे विचलित हो सकता है, अन्यथा परिस्थितिया किसी पर हावी नही हो सकती। आर्थिक और राजनैतिक बाधाओ को म परिस्थिति का हो अग मानता हू। क्योकि की आर्थिक व्यवस्था अनुकूल नही होती है तो वह मूल्यो का विघटित कर देता है। क्योकि मूल्यो की स्थापना समता के धरातल पर ही हो सकती है। आर्थिक विषमता व्यक्ति म मन म द्वन्द्व उपस्थित करती है। मन का द्वन्द्व वाणी और व्यवहार दोनो माध्यमो से अभिव्यक्त होता है। ऐसी अभिव्यक्ति मनुष्य के चारो ओर तदनुरूप वलय निर्मित करती है। वह वलय जब अधिक ठोस हो जाता है तब व्यक्ति के मानस म नैतिक अनैतिक का विवेक नही रह पाता। फलत वह नैतिक मूल्यो का विघटन कर देता ह।

राजनैतिक परिस्थितिया भी निमित्त बन सकती हैं। जन-जीवन म नैतिकता का अवतरण बहुत कुछ राजतन्त्र पर भी निर्भर करता है। एक शासक अपने युग म धम को सर्वाधिक महत्व देते हैं तो उस शासक भी होते हैं जिनका धार्मिक प्रगति म कोई योगदान नही होता। इसलिए राजनैतिक परिस्थितिया की अनुकूलता को भी अस्वीकार नही किया जा सकता।

युद्ध मानवीय सभ्यता के लिए विनाशकारी तत्त्व है। इससे मनुष्य जाति और सपदा का ही विनाश नही होता, सभ्यता और सस्कृति का भी लोप हो जाता है। भारतवर्ष का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। यहा की विकासमान स्थितियां महाभारत युद्ध के बाद अधिक क्षतिग्रस्त हुई हैं। महाभारत से पहले और पीछे की भारतीय आत्मा म बहुत बडा अन्तर दिखाई दे रहा है। इसलिए यह मानने म कोई कठिनाई नही है कि युद्ध भी मूल्य विघटन की दिशा म अपनी भूमिका अच्छी तरह निभाता है।

वैज्ञानिक उन्नति का जहा तक प्रश्न है वह मूल्य परिवतन की दिशा म सक्रिय है। कोई भी अज्ञात तथ्य जब ज्ञात होता है नयी जानकारी बढती है तो परिवतन की घटना स्वाभाविक रूप से घटित हो जाती है। अत इस सन्दभ म मूल्य विघटन के स्थान पर मूल्य परिवतन शब्द का प्रयोग अधिक सगत प्रतीत होता है।

मूल्य दो प्रकार के होते हैं—शाश्वत और सामयिक। शाश्वत मूल्य स्वरूप की दृष्टि से अपरिवर्तनीय होते है। सामयिक मूल्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और परिस्थिति सापेक्ष है अत बदलते रहते ह। अज्ञान की अवस्था मे स्थापित मूल्यो

मे तद्विषयक ज्ञान होते ही एक बदलाव आ जाता है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है।

राजनीति के सन्दर्भ में युद्ध का अपना मूल्य है। पर उससे मनुष्य समाज को मुसीबतों का सामना करना पड़ता है और हानि उठानी पड़ती है। उसके ये दुष्परिणाम अज्ञात से ज्ञात हो जाते हैं तो युद्ध का मूल्य बदल जाता है। वैज्ञानिक उन्नति से नैतिक मूल्यों की मूलभूत आस्था में कोई बदलाव नहीं आता। पर अज्ञानजनित आस्था निश्चित रूप से बदलती है और उसे बदलना भी चाहिए। क्योंकि सत्य की खंडित आस्था भी एक प्रकार से व्यक्ति को गुमराह करती है। सत्य के प्रति आस्थाशील व्यक्ति भय से ग्रस्त होकर असत्य को पालता है वह भी उसकी खंडित आस्था का ही सार्वभौम मूल्य होता है। जो वैज्ञानिक उन्नति व्यक्ति को सत्य की ओर ले जाती है वह नैतिक मूल्यों की विघटक नहीं हो सकती तथा जिस उन्नति से सत्य की आस्था खंडित होती है वह सही अर्थ में वैज्ञानिक उन्नति नहीं हो सकती।

कला और साहित्य भी मूल्य परिवर्तन के हेतु है। क्योंकि इनमें ऐसी क्षमता है जो मनुष्य के मन को आकृष्ट करती है। जो आकृष्ट करता है, वह बदलाव में भी निमित्त बनता है। इस सन्दर्भ में जो परिवर्तन होते हैं, वे अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इसलिए परिवर्तन एकान्तत इष्ट ही नहीं होता। उसकी अवाछनीयता में भी एकागी दृष्टिकोण हितावह नहीं है। इसलिए मैं तो यही सोचता हू कि रूढ मूल्य केवल लाभदायक ही नहीं होते। जिस सीमा तक वे उपयोगी हैं उनका अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। उपयोगिता समाप्त होने के बाद भी उनसे चिपके रहना समझदारी नहीं है। इसलिए नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा और उसमें उपस्थित बाधा दोनों स्थितियों को सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए।

प्रश्न—जो व्यक्ति साहित्य को नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में बाधक मानते हैं वे क्या इस तथ्य को महसूस नहीं करते कि साहित्य ही ऐसा सशक्त माध्यम है जो अपने समय के सामाजिक दोषों के विरुद्ध बगावत कर सकता है? क्या साहित्य में सब कुछ बदल देने की क्षमता है?

उत्तर—जो लोग नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में साहित्यिक बाधा उपस्थित करते हैं, वे इस तथ्य को भूल जाते हैं कि नैतिक धारणाओं में किसी भी प्रकार का परिवर्तन उन धारणाओं का विघटन ही नहीं होता, सशोधन भी होता है। साहित्य समाज में भावों का दर्पण है, सुप्त चेतना के बिम्बों को उभारने का माध्यम है। पर साहित्य के द्वारा सब कुछ बदल जाने की बात बहुत कठिन है।

क्योंकि कुछ कुछ साहित्यकार ही ऐसे होते हैं जो समग्र समाज को आंदोलित कर गये हैं। साहित्यकार की चेतना जागृत हो, वह अपने दायित्व के प्रति पूर्ण रूप से प्रतिबद्ध हो और निर्भीक भाव से अपने मौलिक चिंतन की प्रस्तुति देने की क्षमता रखता हो तो समाज की चेतना पर भी उसका अमिट प्रभाव हो सकता है।

शासन-तंत्र और नैतिक मूल्य

प्रश्न—अध्यात्म या नैतिक मूल्यों के विकास हेतु कौन सी शासन पद्धति अधिक अनुकूल है—एकतंत्र, जनतंत्र, समाजवाद या साम्यवाद ?

उत्तर—किसी भी युग में कोई भी शासन पद्धति हो, नैतिक विकास की चाह सर्वत्र रहती है। यह प्रश्न दूसरा है कि वह तंत्र उसमें कितना योग दे सकता है ? किसी भी शासन पद्धति के सिद्धान्त और तंत्र ये दो बातें हैं। नैतिकता का सम्बन्ध सैद्धान्तिक स्वरूप और तंत्र दोनों से है। वैसे जनतंत्र और समाजवादी व्यवस्था नैतिक विकास के लिए अधिक अनुकूल प्रतीत होती है। किन्तु तंत्रगत कठिनाई वहां भी हो सकती है। जनतंत्र की समाजवादी व्यवस्था में भी अधिक सशक्तता और निस्पृहता होने से नैतिकता को उर्वर वातावरण उपलब्ध होता है।

मनुष्य की यह स्वाभाविक दुर्बलता है कि वह सिद्धांत और आचरण में एकरूपता स्थापित नहीं कर पाता। एक ओर वह जनतंत्र में जीता है, समाजवादी धारणा में विश्वास करता है और आर्थिक समानता की घोषणा भी करता है। किन्तु अर्थ के सम्बन्ध में उतना सच्चा नहीं रहता जितना उसे रहना चाहिए। इस स्थिति में नैतिकता का सम्बन्ध शासन पद्धति और तंत्र के साथ साथ तत्रस्थ व्यक्ति से अधिक होता है। व्यक्ति-व्यक्ति की चेतना में जब नैतिकता का प्रतिबिम्ब रहता है तब वह सहज रूप से विकसित हो जाती है।

प्रश्न—आपने जनतंत्रीय पद्धति को नैतिक विकास के लिए अनुकूल बताया पर क्या यह संभव नहीं है कि एकतंत्र में शासक शक्ति के आधार पर जनता को नैतिक बना दे ?

उत्तर—एकतंत्र में शक्ति हो सकती है अपनत्व नहीं। वहां व्यक्ति की चेतना में राष्ट्रीय भावना के प्रतिबिम्ब नहीं उभरते। जनतंत्र में हर व्यक्ति में दायित्व की चेतना जाग जाती है। राष्ट्र हमारा है ऐसी राष्ट्रीय भावना भी व्यक्ति की नैतिक चेतना को पुष्ट करती है।

एकतंत्र में शासक के हाथ में शक्ति होती है। उसके आधार पर वह मनमानी करता है। भोग विलास में आकंठ निमग्न रहता है और राष्ट्र की संपत्ति का

उपयोग केवल अपनी सुख-सुविधा के लिए करता है। इससे दूसरे व्यक्तियों के मन में ऐसी ही स्पर्धा उत्पन्न हो जाती है। ऐसे व्यक्ति नैतिकता के लिए आदर्श नहीं हो सकते।

जनतंत्र में नैतिक चेतना का विकास धीमी गति से हो सकता है, पर उसकी संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। निश्चय के रूप में यह कहा जा सकता है कि तटस्थ व्यक्ति की विचार चेतना और आचरण के आधार पर ही यह निर्णय लिया जा सकता है कि नैतिकता को फलीभूत होने का मुक्त अवकाश कहां उपलब्ध हो सकता है?

प्रश्न—मनोविज्ञान की एक धारा है कि शिशु बारह या चौदह वर्ष का न हो जाए, तब तक उसे नैतिक शिक्षा नहीं देनी चाहिए। बचपन में सत्य, अहिंसा जैसी अमूर्त धारणाओं का ज्ञान करना उचित नहीं है। जिन बच्चों को शैशव में ही नैतिक सिद्धान्तों में परिचित करा दिया जाता है और उनके स्वतंत्र व्यवहार को नियन्त्रित कर दिया जाता है, वे बालक प्रौढ़ अवस्था तक पहुंचकर अनैतिक बन जाते हैं। इसके विपरीत कुछ विचारकों का अभिमत है कि जीवन के प्रारंभ से ही नैतिक संस्कार उपलब्ध हो जाएं तो जीवन उदात्त बन सकता है, क्योंकि बचपन के संस्कार अधिक काम करते हैं। इन दोनों तथ्यों में सचाई क्या है?

उत्तर—मनोविज्ञान का चिन्तन है कि अवस्था के साथ-साथ व्यक्ति स्वतः प्रतिबुद्ध होता है। ज्यों-ज्यों उसका शारीरिक विकास होता है, बौद्धिक विकास की क्षमता बढ़ती जाती है। बचपन में ही मार्गदर्शन करने से स्वतंत्र चिन्तन की शक्ति विकसित नहीं हो पाती। बच्चे के मन पर हर क्रिया की स्वतंत्र प्रतिक्रिया हो, हर घटना के प्रतिबिम्ब वह स्वयं पकड़े, तभी उसके विकास की दिशा प्रशस्त हो सकती है।

मनोविज्ञान की इस चिन्तन धारा के साथ अध्यात्म की पूर्ण सहमति नहीं है, क्योंकि अध्यात्म के क्षेत्र में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मान्य है। इस मान्यता से दस-बारह वर्ष का बच्चा केवल उतना ही नहीं माना जाता। पिछले जन्म के संस्कार उसकी आयु को बढ़ा देते हैं। जन्म के बाद मापी जाने वाली आयु की भांति वैचारिक और संस्कारिक आयु भी होती है। वह आयु बारह या चौदह साल की ही नहीं, चिरन्तन है। संस्कारों की एक दीर्घ परम्परा व्यक्ति के साथ रहती है। पहले से अर्जित या संचित संस्कारों की स्वीकृति होने के बाद शैशव में अध्यात्म या नैतिकता के संस्कार देने में कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता।

प्रौढ़ व्यक्ति के अनैतिक होने की बात भी एकान्ततः सही नहीं हो सकती। फिर भी इसमें सत्यांश अवश्य है। क्योंकि जिस समय बच्चा को नैतिकता का पाठ दिया जाता है, उस समय प्रासंगिक रूप से अनैतिक तरीकों की भी चर्चा होती है। इस चर्चा के प्रतिबिम्बों को बच्चे का अवचेतन मन पकड़ लेता है और वे

भीतर ही भीतर पुष्ट होकर अनुकूल परिस्थिति का योग पाकर उभर आते हैं। सिनेमा और साहित्य के माध्यम से व्यक्ति गलत काम सीखता है। दो वर्ष पूर्व कई परिवारों की सामूहिक रूप से जो निर्मम हत्याएं हुईं, उनके हत्यारों को हत्या की प्रेरणा साहित्य के द्वारा ही मिली, ऐसा बताया जाता है। नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में अनैतिकता की चर्चा भी अस्वाभाविक नहीं है। पर मेरा अभिमत यह है कि बच्चों को नैतिकता का बोध न देने में जितने खतरे हैं उतने बोध देने में नहीं हैं। यदि हम बोध की शृंखला को लम्बे अतीत से जोड़ दें आदि बिन्दु तक पहुंचा दें तो खतरों की संभावना कम हो जायेगी। दूसरी बात यह है कि नैतिक प्रशिक्षण का काम अधिक परिष्कृत शैली में होगा तो खतरे कम हो जाएंगे और मूलभूत सिद्धान्त आत्मगत होते रहेंगे।

प्रश्न— अंग्रेजी के विख्यात कवि वर्ड्सवर्थ ने कहा है मनुष्य को नैतिकता के लिए हरे भरे वनों उपवनों से जो प्रेरणा प्राप्त होती है, वह विद्वानों से नहीं हो सकती। क्या प्रकृति से यह उपलब्ध हो सकती है?

उत्तर—एक कवि की भाषा और चिन्तन यही हो सकता है। उसका मन प्राकृतिक दृश्यों में जितना आकृष्ट होता है, कृत्रिमता से नहीं हो सकता। बुद्धि अर्जित सम्पदा है। वह मनुष्य का स्वभाव नहीं है। इसलिए शुभ और अशुभ के सम्बन्ध में विद्वानों के जो विचार हैं वे बौद्धिक विश्लेषण की सीमा में अनुबंधित हैं। कवि कल्पना लोक में विहार करने वाला प्राणी है। काव्य की भाषा में मनुष्य की अपेक्षा प्रकृति को ही प्रधानता दी जा सकती है। एक दृष्टि से यह बहुत अच्छी बात है। प्रकृति के अध्ययन से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। मुनि जीवन को प्राकृतिक वस्तुओं से उपमित करते हुए लिखा गया है—मुनि को वृक्ष की भांति परोपकारी होना चाहिए। आग की भांति प्रज्वलित जीवन जीना चाहिए। बिल में घुसते हुए सांप की गति की भांति ऋजु होना चाहिए। सुयोग्य शिष्य को हंस मेष जलौका और जाहक की तरह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस जो कुछ सीखा जाता है वह प्रशिक्षण या बाह्य प्रेरणा से नहीं अन्तःकरण से सीखा जाता है।

मेरी दृष्टि से प्रकृति मनुष्य को प्रेरणा देती है वह नैतिकता की अपेक्षा अध्यात्म की अनुभूति का मार्ग है। जीवन में अध्यात्म आ गया तो उसका फलित नैतिकता तो होना ही है। नैतिकता पर यदि स्वतन्त्र रूप से बल दिया गया तो वह उतनी कारगर नहीं हो पायगी। वही वृक्ष दीर्घजीवी होता है जिसकी जड़ गहरी होती है। नैतिक विकास के लिए भी यह आवश्यक प्रतीत होता है कि व्यक्ति को अध्यात्म का पथ दिखाया जाय। इस पथ से गतिशील व्यक्ति निर्बाध रूप से नैतिक विकास कर सकता है।

अध्यात्म क्या है? जागृत आत्मानुभूति का नाम ही तो अध्यात्म है।

आत्मविकास की अनुभूति इसी क्रम से सम्भव है।

मनुष्य का व्यक्तित्व दो प्रकार का है— आंतरिक और बाह्य। आंतरिक व्यक्तित्व ही अध्यात्म है। बाह्य व्यक्तित्व का परिष्कार इसी के आधार पर होता है। बाह्य और भीतरी व्यक्तित्व का मध्य बिन्दु है परिस्थिति। परिस्थिति दोनों व्यक्तित्वों को प्रभावित करती है। प्रकृतिगत परिस्थितियों से जो परिष्कार होता है, उसमें विवशता, बाध्यता या परतन्त्रता जैसी कोई चीज नहीं रहती।

प्रकृति प्रेरक है, यह सत्य है। पर उससे हर व्यक्ति प्रेरणा पा सके, यह संभव नहीं है। क्योंकि जो व्यक्ति गहराई से प्रकृति का अध्ययन करते हैं, वे ही उससे कुछ सीख सकते हैं। 'गहरे पानी पैठ' की बात बहुत यथार्थ है। आपात दर्शन से कुछ भी सीखा नहीं जा सकता। वही व्यक्ति सीख पाता है, जो प्रकृति के कण-कण से परिचित हो जाता है। जिस प्रकार स्वयं से अपरिचित व्यक्ति में भीतर रूपान्तरण घटित नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रकृति से अपरिचित व्यक्ति में भी बदलाव नहीं आ सकता। प्रकृति के अणु-अणु से परिचय और सतत सम्पर्क स्थापना परिवर्तन का सशक्त हेतु बनता है। अपरिचय या गाढ़ परिचय के क्षणों में ही व्यक्ति शत्रुता और मित्रता के भाव से उपरत रह सकता है। इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न मे प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न मे प्रियः॥

—जो व्यक्ति मुझे जानता ही नहीं है, वह न मेरा शत्रु है और न मेरा मित्र है। जो व्यक्ति मुझे विशेष रूप से जानता है, उसके प्रति भी मेरे मन में शत्रुता या मित्रता का भाव नहीं है। शत्रुता और मित्रता मध्य स्थिति की देन है।

प्रकृति को गंभीर रूप से देखने और समझने वाला व्यक्ति भी उससे नैतिक प्रेरणा सहज रूप से प्राप्त कर सकता है। पर जब तक उसके साथ तादात्म्य स्थापित नहीं होता, बोध की प्रक्रिया अधूरी रह जाती है। अतः इस तथ्य का सापेक्ष मूल्यांकन करने की अपेक्षा है।

नैतिक व्यक्ति की न्यूनतम योग्यता

प्रश्न— यूनानी दार्शनिक अरस्तु के अनुसार मनुष्य का नैतिक जीवन एक प्रगति और विकास है। डार्विन जीवन की प्रगति के लिए विकासवाद का सिद्धांत स्वीकार कर चलता है। हर्बर्ट स्पेंसर जीवन के प्रत्येक अंग विशेषत नैतिक स्वभाव को प्रगति में अन्तर्निहित करता है। उक्त विचारकों ने नैतिकता और प्रगति को अपने अपने ढंग से परिभाषित किया है। क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि नैतिकता का आदि बिंदु क्या है और चरम बिंदु क्या है?

उत्तर— नैतिकता का आदि बिन्दु है मनुष्य मात्र के प्रति समानता की अनुभूति। जब तक यह अनुभूति जन्म नहीं लेती तब तक नैतिकता का उदय नहीं हो सकता। हर व्यक्ति को सुख प्रिय है और दुख अप्रिय है। अपनी प्रियता और अप्रियता का प्रतिबिम्ब जब तक दूसरे में दिखाई नहीं देता सुख दुख में समसंवेदन नहीं हो पाता। इस समरसता या सहानुभूति के अभाव में मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक नहीं बनता। संकीर्ण मनोवृत्ति से जो कुछ निष्पन्न होता है वह कभी नैतिक नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति के अन्तःकरण में राष्ट्रीयता की भावना रहती है वह राष्ट्र के अहित में अपने अहित का दर्शन करता है। राष्ट्र के साथ एकत्व या समत्व की अनुभूति हुए बिना राष्ट्रीयता पल्लवित नहीं हो पाती। इसी प्रकार समग्र मानव जाति या प्राणीमात्र के प्रति समानता की अनुभूति के बिना नैतिकता का प्रारम्भ नहीं हो सकता।

नैतिकता का चरम बिंदु है समभाव की पराकाष्ठा। आदि बिन्दु ही परिपुष्ट होकर चरम बिन्दु बनता है। वहां नैतिकता अध्यात्म में समाविष्ट हो जाती है। बस नैतिकता के दोनों बिन्दु अध्यात्म संवलित हैं। क्योंकि अध्यात्म शून्य नैतिकता हो ही नहीं सकती। फिर भी उसके स्वरूप में तरतमता रहती है। इसी तारतम्य के आधार पर उसके आदि मध्य और चरम बिन्दु को समझ लेना चाहिए।

प्रश्न—एक नैतिक व्यक्ति की न्यूनतम योग्यता क्या है?

उत्तर—नैतिकता अपने आप में व्यक्ति की योग्यता है, फिर नैतिकता-सम्पन्न

व्यक्ति की योग्यता की दूसरी पहचान क्या हो? उसकी योग्यता तो नैतिकता ही है, पर योग्यता की अभिव्यक्ति व्यवहार के धरातल पर होती है। इस दृष्टि से व्यवहार को शाब्दिक परिवेश में प्रस्तुत किया जा सकता है।

योग्यता के सन्दर्भ में सबसे पहली बात है अपने स्वार्थ या हित साधन के लिए दूसरे व्यक्ति के हितों का विघटन नहीं करना। यद्यपि हर व्यक्ति का अपना स्व में होता है, हित होता है। पर दूसरे के स्वार्थ की बलि पर अपना हित साधना अव्यावहारिक ही नहीं अनुचित है। जहां दूसरे के हितों का विघटन होता है, वहां नैतिक व्यक्ति अपने स्वार्थ साधन की बात सोच ही नहीं सकता। इसका फलित यह होता है कि नैतिक व्यक्ति न मिलावट कर सकता है न किसी को धोखा दे सकता है न किसी की चोरी या लूटपाट कर सकता है न प्रहार कर सकता है न आक्रमण कर सकता है न विश्वासघात कर सकता है और वह ऐसा कुछ भी नहीं कर सकता जिसमें मानवीय मूल्यों का अतिक्रमण होता हो। मानवीय मूल्यों की एक लम्बी सूची है जिसमें सामयिक उदाहरण के रूप में कई तथ्य प्रस्तुत हो सकते हैं। मूल बात एक ही है कि समाज में संघर्ष है वह स्वार्थों का है। स्वार्थ और हित की टक्कर से ऊपर उठकर जो व्यक्ति अपनी मर्यादा का ध्यान रखता है वह योग्यता की अभिव्यक्ति का उदाहरण बन सकता है।

प्रश्न—हर युग में व्यक्ति कहते हैं कि अतीत बहुत अच्छा था। आज युग बहुत खराब है। इसका अर्थ यह होता है नैतिकता का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ है अथवा हर युग में व्यक्तियों की तत्कालीन अनुभूति कम होती? इस अनुभूति के पीछे कोई ठोस सचाई है या ऐसा कहना मनुष्य की आदत बन गयी है?

उत्तर—मनुष्य की यह सहज मनोवृत्ति बन गयी है कि वह अतीत को अच्छा बताता है अतीत का गुणगान करता है और वर्तमान को निकृष्ट बताकर उसे कोसता है। नैतिकता के ह्रास का जहां तक प्रश्न है मैं इससे सहमत नहीं हूं। मेरी दृष्टि में बुराई हर युग में होती है। केवल उसके नाम और रूप बदलते रहते हैं। वर्तमान युग में जो बुराइयां समाज में व्याप्त हैं, वे ही नामान्तरण और रूपान्तरण के साथ प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। जिस युग को आज बहुत अच्छा माना जाता है उस युग के साहित्य का अध्ययन करने वाले इस तथ्य से परिचित हैं कि तत्कालीन व्यक्तियों द्वारा उस युग को भी कोसा गया था। सौ साल पहले के पत्रों को उठाकर देखा जाये तो वहां मिलेगा—जमाना बहुत खराब आ गया है। ऐसी बातें कभी नहीं सुनी गयीं कि जमाना बहुत अच्छा आ गया है। बहुत सावधानी रखने की जरूरत है। सारी बुराइयां एक साथ अवतरित हो गयी हैं आदि-आदि। अतः यह कहना संगत प्रतीत नहीं होता कि अतीत अच्छा ही था और वर्तमान युग बुरा ही है।

प्रश्न—आपके कथन से ऐसा लगा कि वर्तमान को कोसना मनुष्य का स्वभाव बन गया है। कृपा कर आप यह भी बतायें कि इस स्वभाव निर्मिति के पीछे कारण क्या है?

उत्तर—कारण स्पष्ट है। जो सत्य वर्तमान में भोगा जाता है वह कटु प्रतीत होता है। ज्यों ज्यों समय बीतता है कटुता घुलती जाती है। कहा भी जाता है—काल पिबति तद्रसम्—अतीत का रस काल पी लेता है। जो व्यक्ति अपने जीवनकाल में बहुत बुरा कहा जाता है वही मृत्यु के बाद भला बन जाता है। मूल बात यह है कि व्यक्ति हो या युग, जीवन की कठिनाइयां हैं। मृत होने के बाद अवांछनीय पक्ष गौण हो जाता है और जो कुछ अच्छा होता है वह उभरकर सामने आ जाता है।

प्रश्न—कुछ व्यक्ति यह मानते हैं कि हमारे कर्म एवं व्यवहार आज अधिक व्यापक और तर्कसम्मत हैं क्योंकि हमारे युग में विज्ञान का विकास हुआ है। सभ्यता का विकास हुआ है। इसलिए हमारे बुजुर्गों की अपेक्षा हमारा युग अधिक विकासशील है। क्या यह सही है?

उत्तर—विकासवादी दृष्टि से प्राचीन और अर्वाचीन धारणाओं की तुलना की जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ बातों में आज अच्छा विकास हुआ है। मनुष्य के प्रति जितनी निर्ममता और क्रूरता पहले थी, आज उसमें परिवर्तन हो रहा है। साम्प्रदायिक संकीर्णता का जो रूप पिछले युग में था आज वह नहीं रहा है। एक समय था जब प्रशासन का काम केवल राज्य की सीमाओं की सुरक्षा करना मात्र था। सामाजिक जीवन की व्यवस्था में सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं था। धार्मिक क्षेत्र में भी जनता को पूरी स्वतंत्रता नहीं थी। आज हर स्थिति पर ध्यान दिया जाता है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कुछ अंशों में अतीत की अपेक्षा वर्तमान प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

आज नैतिक मूल्यों के विकास में भी एक स्पष्ट अंतर परिलक्षित हो रहा है। आज का युवक पुरानी पीढ़ी की अपेक्षा नैतिक भावना और राष्ट्रीय भावना में अग्रणी है। उसमें बौद्धिक चेतना के साथ कर्त्तव्य चेतना भी जागृत हो रही है। बौद्धिक विकास में केवल दोष ही नहीं गुण भी है। अबौद्धिक व्यक्ति में केवल धर्म की प्रेरणा काम करती है बौद्धिक व्यक्ति में राष्ट्रीय और सामाजिक प्रेरणा भी काम करती है।

एक समय था जब व्यवहार में मनचाहा लाभ उठाया जाता था। आज उसमें व्यवस्थागत नियंत्रण है। उस नियंत्रण की स्वीकृति चाहे विवशता से हो चाहे हृदय से, पर अन्याय का उच्छृंखल प्रवाह तो रुकता ही है। व्यवस्था बनाने वाले लोग भी जनता के प्रतिनिधि होते हैं। इसलिए जन भावना का आदर करना

उनका प्रमुख कत्त य हो जाता है। वस्तुत तथ्य पर सापेक्ष दृष्टि से ही कोई निर्णय किया जा सकता है। वतमान युग का अतीत की अपेक्षा बुरा बताना भी एक सापेक्ष दृष्टिकोण है और अतीत की तुलना मे वतमान का विशिष्ट बताना भी सापेक्ष सत्य है। इनके पीछे रही हुई अपेक्षाओ को ध्यान म रखने से ही सही तथ्य की अवगति हो सकती है।

नैतिक संघर्ष में विजय कैसे

प्रश्न—अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर काम करने वाली संस्थाएं युद्ध, संघर्ष, अशांति और संदेहमूलक परिस्थितियों को टालने के लिए प्रयत्नशील हैं। विरोधी विचार वाले व्यक्ति एक साथ मिल बैठकर चिंतन कर रहे हैं। सह-अस्तित्व का सिद्धांत व्यावहारिक रूप ले रहा है। विचार भेद और मत भेद की स्थिति में भी अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इतना काम हो रहा है। किन्तु एक ही राष्ट्र की जनता में परस्पर भय, मिथ्या आरोप, सन्देह और संघर्ष की स्थितियां बल पकड़ रही हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए क्या यह बात स्वीकार की जा सकती है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आज नैतिकता का विकास हो रहा है, पर उसका अन्तर्राज्यीय स्तर चिन्तनीय स्थिति से गुजर रहा है?

उत्तर—इस तथ्य को एकान्ततः सही मानना तो उचित नहीं है। फिर भी कुछ अंशों में सचाई अवश्य है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर आज जैसी परिस्थितियां उभरी हुई हैं, सह अस्तित्व के प्रश्न को टालना संभव नहीं है। राजनैतिक स्थितियों का दबाव इतना बढ़ गया है कि राजनीति विशेषज्ञों को मुड़कर देखने की विवशता अनुभव हो रही है। वे जिस मोड़ पर खड़े हैं, वह इतना खतरनाक है कि थोड़ा सा ध्यान बंटते ही विनाश की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। आज शक्ति सम्पन्न और समृद्ध राष्ट्र भी आतंकित रहते हैं। उनमें अणु शस्त्र निर्माण की होड़ सी लगी हुई है। एक राष्ट्र की सुरक्षा व्यवस्था दूसरे राष्ट्र के लिए आशंका उत्पन्न कर रही है। उस आशंका की निष्पत्तिस्वरूप घातक शस्त्रास्त्रों को प्रोत्साहन मिलता है। यह स्थिति मनुष्य को उस कगार पर ले जाकर छोड़ती है, जो व्यापक नर संहार के रूप में परिणत होती है। इस स्थिति से बचने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं शांतिपूर्ण समझौता वार्ता और सह अस्तित्व जैसे उपक्रम प्रस्तुत करती हैं।

यह सच है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो प्रयत्न हो रहे हैं, अन्तर्राज्यीय स्तर पर उनका महत्त्व नहीं मिल रहा है। क्योंकि जो प्रयास हो रहा है, उसका एकमात्र उद्देश्य है युद्ध को टालना। पर एक ही राष्ट्र के विविध राज्यों में जाति

सम्प्रदाय, भाषा आदि निमित्तों को लेकर जो संघर्ष उभर रहे हैं, उन्हें टालने का प्रयत्न कम होता है। राष्ट्रीय और प्रान्तीय स्तर पर यदि व्यापक रूप से ध्यान दिया जाय तो स्थिति में परिवर्तन की संभावना है।

मनुष्य जाति का स्वभाव है कि वह उसी काम के लिए उत्प्रेरित होता है, जिस ओर उसकी सहज रुझान होती है। जिस क्षेत्र में सुषुप्ति रहती है उस क्षेत्र में अवांछनीय प्रवृत्तियों को उभरने का अवसर मिल जाता है। आज अपेक्षा है कि धार्मिक, सामाजिक और स्वेच्छासेवी संस्थाएं राष्ट्र के नागरिकों में समन्वय और सह-अस्तित्व की भावना विकसित करें। यदि ऐसा होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को भी काम करने में सुविधा हो सकती है।

प्रश्न—आज आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रगति के बावजूद मनुष्य सुखी नहीं है। आंतरिक असंतोष और संत्रास उसे भीतर ही भीतर तोड़ रहा है। इसका कारण क्या है?

उत्तर—आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रगति का उद्देश्य दूसरा होता है। आर्थिक प्रगति का उद्देश्य समाज और राजनीति को भी प्रभावित करता है। उद्देश्य जितना ऊंचा होता है वह उतनी ही ऊंचाई तक पहुंचकर फलित होता है। शान्ति और आनन्द का उद्देश्य सामने रखकर कोई प्रगति हो तो मनुष्य को आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। अन्यथा अर्थ प्रतिष्ठा और सत्ता प्राप्त हो सकती है, पर उनके साथ सुख या शान्ति का अनुबंध नहीं है। शान्ति का उत्स है अध्यात्म। अध्यात्म की सीमित अभिव्यक्ति नैतिकता है। सुख, चरित्र, सद्गुण और आनन्द नैतिकता के लक्षण हैं। ये सब आर्थिक प्रगति की नहीं, नैतिक प्रगति की उपलब्धियां हैं। नैतिक प्रगति का अर्थ है चरित्र विकास, पूर्णता अथवा आत्मानुभूति के आदर्श की ओर अग्रसर होना। जब तक व्यक्ति इस आदर्श को अपना लक्ष्य नहीं बनाता है वह एक घुटन भरा जीवन जी सकता है किन्तु आत्मतोष का अनुभव नहीं कर सकता। आत्मतोष पाने के लिए तो उसे अपने भीतर झांककर देखना होगा।

प्रश्न—एक व्यक्ति आचारनिष्ठ है। वह किसी भी स्थिति में ऐसा काम करना नहीं चाहता जो उसके चारित्रिक पतन में निमित्त बनता हो। किन्तु उसके सामने स्थितियां इतनी विषम हैं कि वह उनसे निपटने में सक्षम नहीं है। आचार शास्त्र की शिक्षा उसने जहां प्राप्त की वहां उसे आचार के ऊंचे ऊंचे आदर्शों की बातें सुनने को मिलीं पर उनकी क्रियान्विति के समय उपस्थित मुसीबतों से जूझने का तरीका उपलब्ध नहीं हुआ। आचार विज्ञान के पास क्या कोई ऐसा उपाय है, जो व्यक्ति को नैतिक संघर्ष में विजयी होने का आश्वासन दे सके?

उत्तर—जीवन में समस्या की उपस्थिति, उसको झेलने का साहस उसका निदान और सही उपचार—ये भिन्न भिन्न बातें हैं। आधुनिक नीतिशास्त्र का

अध्ययन करने से पता चलता है कि यहां सैद्धान्तिक विश्लेषण पर्याप्त उभरा हुआ है किन्तु उसे व्यावहारिक रूप देने की प्रक्रिया उपेक्षित रह गयी है। इसका कारण है नीति का अध्यात्म या धर्म से सर्वथा भिन्न समझना या मनोभाव। जब नीतिशास्त्र में अध्यात्म या धर्म जैसी कोई बात नहीं रहती है तो वह एक विवेचन प्रधान शास्त्र बन जाता है। नीति का उपयोग मात्र उसका विवेचन करना ही नहीं है। क्योंकि अभ्यास और आचरण के अभाव में नीतिशास्त्र जीवन विकास की दिशा में अकिंचित्कर है।

आज नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में जितनी चर्चाएं होती हैं, अध्यात्म और नीति के मध्य एक रेखा खींच दी जाती है। यह बहुत बड़ी भूल हो रही है। जब तक नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र का धर्मशास्त्र के साथ योग नहीं होगा, नीतिशास्त्र आपको कोई उपाय नहीं सुझा सकेगा, कोई प्रक्रिया नहीं दे सकेगा, क्योंकि अभ्यास की बात धर्म या अध्यात्म के पास ही है। इस दृष्टि से विचार किया जाये तो ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिकता के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को निरस्त करने के लिए तीन तत्त्वों के समन्वय की अपेक्षा है। वे तत्त्व हैं—

- जीवन के उन्नत आदर्श।
- अनुकूल समाज-व्यवस्था।
- व्यक्तिगत व्यवहार या अभ्यास।

जो व्यक्ति इन तीनों तत्त्वों का मूल्यांकन कर लेता है, अपनी चिन्तनधारा को इस ओर मोड़ लेता है तथा सबसे अधिक महत्त्व इस बात को देता है, उसका आचार विचारों का अनुगामी है या नहीं, वह व्यक्ति आचारशास्त्र और अभ्यास के बीच की भेदरेखा को मिटा सकता है। धर्म, अभ्यास, आचरण, व्यवहार—ये सब एक ही कथ्य के वाचक शब्द हैं। बिना अभ्यास व्यक्ति कितनी ही आदर्श की बातें करे, उसकी ऊंचाई तक नहीं पहुंच सकता। वर्तमान नीतिशास्त्र में जो कमी है, वह मेरे अभिमत से यही है। इस रिक्तता को भरने वाला तत्त्व है धर्म। वह धर्म नहीं जो परम्परा के नाम पर अर्थहीन मान्यताओं और अन्धविश्वासों को प्रश्रय देता है। वह धर्म जीवन्त धर्म होगा, जागृत धर्म होगा और ऐसा धर्म होगा जो व्यक्ति को रूपान्तरण की कला का प्रशिक्षण देता है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जिस दिन ऐसे धर्म का नीति के साथ समन्वय हो जायेगा, उस दिन नैतिक संघर्ष की समस्याएं समाप्त हो जायेंगी।

साम्यवाद और अध्यात्म

प्रश्न—रूस का साम्यवाद मनुष्य को समुदाय का अंग मानता है पर वह यह भी स्वीकार करता है कि मनुष्य समाज के लिए उपयोगी तभी बन सकता है, जब वह अपने परिवार से अनुबंधित न रहे। इस दृष्टि से वह पारिवारिक प्रथा का अन्त आवश्यक मानता है। क्या यह सही है कि परिवार सामुदायिक कार्य मे बाधक है? परिवार से मुक्त व्यक्ति समाज के लिए उपयोगी बने ही, इसकी क्या गारंटी है?

उत्तर—साम्यवाद और अध्यात्म इन दोनो धाराओ का कुछ बिन्दुओ पर समान चिन्तन है। अध्यात्म का दृष्टिकोण है—

न मे माता न मे पिता
न मे भ्राता न मे सुत।

माता पिता, भाई बहन, पुत्र, पति पत्नी—ये जितने सासारिक सबध हैं, वे वास्तविक नहीं हैं। सचाई यह है कि कोई किसी का नहीं है। जितने अनुबध हैं, वे सारे स्वार्थ के हैं। जिस व्यक्ति का जब तक जिससे स्वार्थ सधता है तब तक वह उसका आत्मीय है। स्वार्थ का विघटन होते ही अपना पराया हो जाता है। इसलिए किसी को अपना मानना एक भ्रान्ति है। व्यक्ति अकेला आया है और अकेला जाता है। मध्यकाल मे मोह का जितना अनुबध होता है, व्यक्ति उतना ही दु खी होता है। इस प्रकार अध्यात्म मनुष्य को एकत्व भावना से भावित करता है।

साम्यवाद भी परिवार की सीमा रेखा को तोडकर व्यक्ति को व्यापक दृष्टि से काम करने की प्रेरणा देता है। उसके अनुसार राष्ट्र एक इकाई है। व्यक्ति राष्ट्र का है। माता पिता का उस पर कोई अधिकार नही है। राष्ट्र मे हर नागरिक की सेवा और सुरक्षा का दायित्व राष्ट्र पर ही है। चीन मे ऐसी व्यवस्था है कि बच्चा का लालन-पालन भी उनके माता पिता द्वारा नहा होता है। कोई मा ममता की प्रेरणा से अपने बच्चे को अपने पास रखना चाहे तो उसे राष्ट्रीय दृष्टि से अपराध समझा जाता है। साम्यवादी चिन्तकों की इस विचारधारा की

पष्ठभूमि यह है कि यदि व्यक्ति परिवार स जुडा रहेगा तो उसम राष्ट्रप्रेम पर्याप्त रूप स न्ही निखरेगा। वह अपन माता, पिता या अन्य पारिवारिक जनो क लिए अनतिक बन सकता है। एक एक व्यक्ति की अनतिकता राष्ट्रीय भावना के लिए खतरा है। क्योकि व्यक्तिगत व्यामोह की प्रबलता म सामूहिकता की भावना गौण हो जाती है।

साम्यवादी देशो म पारिवारिक पद्धति या तो है ही नही, जहा है, वहा भी इतनी हल्की है कि उसका व्यक्ति पर विशेष प्रभाव नही होता। क्योकि कोई भी लडका या लडकी अपन माता पिता की सपत्ति का उत्तराधिकारी नही होता। मृत्यु के बाद व्यक्ति की सारी सपत्ति का अधिकार सरकार का होता है। व्यक्ति की अनिवायतम अपेक्षाए जैसे शिक्षा, चिकित्सा, आवास, भोजन आदि की व्यवस्था भी राष्ट्र करता है तथा उसकी सपदा और योग्यता का लाभ भी सरकार को ही मिलता है। इस दृष्टि से वहा व्यक्ति और परिवार दोनो ही गौण हो जाते हैं प्रमुखता मिलती है राष्ट्रीय हितो को।

परिवार मेरा नही है। वह मुझे त्राण या शरण नही दे सकता। यह भावना अध्यात्म और साम्यवाद दोनो से जन्म लेती है, पर दोनो का उद्देश्य भिन्न है। अध्यात्म का ध्येय है व्यक्ति की मूर्च्छा टूटे। वह निर्मोहता के पथ पर अग्रसर होता हुआ वीतराग बन जाये जबकि साम्यवाद का लक्ष्य होता है राष्ट्रीय हितो को प्रोत्साहन।

प्रश्न का अन्तिम हिस्सा है व्यक्ति की उपयोगिता से सबधित। परिवार की मूर्च्छा टूट जाने पर व्यक्ति समाज के लिए उपयोगी हो ही जाता है यह बात एकान्तत सही नही है। क्योकि यहा भी सब कुछ उद्देश्य पर निभर करता है। इसम व्यक्ति की मन स्थिति बाहरी परिस्थिति, समाज के मानदड और व्यक्ति का सकल्पबल काम करता है। अत इन तथ्यो को समझने के लिए सापेक्ष दृष्टि का उपयोग करना जरूरी है।

प्रश्न—साम्यवादी देश राजनतिक या सामूहिक प्रगति की दृष्टि से अग्रणी हो सकत हैं पर वहा व्यक्ति के मूलभूत अधिकारो का अपहरण होता है उसकी आकाक्षाओ का दमन होता है क्या यह तथ्य सही है ?

उत्तर—सामाजिक राजनतिक या धार्मिक कोई भी पद्धति हो उसमे अच्छाई के साथ कुछ दोष आ ही जाते हैं। जब तक अच्छाई का पलडा भारी रहता है, दोष नीचे दबे रहते हैं। अच्छाई की मात्रा कम होते ही दोष उस पद्धति पर हावी हो जाते है और वह विवादास्पद बन जाती है। साम्यवादी धारणा के साथ भी कुछ बातें एसी हैं जो समालोच्य हैं। व्यक्ति की आकाक्षाओ का जहा तक प्रश्न है सामूहिक जीवन मे वह अपेक्षाकृत गौण होती ही है। अधिकारो के अपहरण की बात भी ऐसी है कि जिस पद्धति म व्यक्ति को कोई विशेष अधिकार

प्राप्त ही नहीं है, वहां उनका अपहरण भी कैसा? अपेक्षा इस बात की है कि साम्यवादी व्यवस्था की पृष्ठभूमि में रह गये दोषों को परिमार्जित कर उसे अध्यात्म सवलित बनाया जाये। अध्यात्म की पुट लगने से दमन या अपहरण जैसी बात स्वयं समाप्त हो सकती है।

प्रश्न—नैतिकता की कुछ बधी-बधाई परम्पराएं हैं। कहीं-कहीं सद्भावना से किया गया कार्य भी अनैतिक जैसा प्रतीत होता है। क्या उस प्रतीति मात्र से उसे अनैतिक मान लिया जाए? उदाहरणार्थ एक व्यक्ति हत्यारा है। उसके पास छुरा है। उसका कोई हितैषी, मित्र या परिवार का व्यक्ति सोचता है कि इसके पास छुरा रहेगा तो यह हत्या करेगा। अच्छा हो, इस छुरे को इसके पास न रहने दिया जाए। इस भावना से प्रेरित होकर वह उसका छुरा चुरा लेता है। क्या उसका यह व्यवहार चोरी है? नैतिकता का आदर्श उसे ऐसा करने की स्वीकृति दे सकता है?

उत्तर—नैतिकता अन्त प्रेरणा की निष्पत्ति है। बलात् किसी भी व्यक्ति को नैतिक नहीं बनाया जा सकता। हृदय परिवर्तन और बलपूर्वक आरोपण ये दो स्थितियां हैं।

हृदय परिवर्तन से जो बात स्वीकार की जाती है, वह धर्म है, अध्यात्म है, नैतिकता है। किन्तु धार्मिक संस्कार भी बलात् थोपे जाएं तो उनसे व्यक्ति धार्मिक नहीं बन सकता। अब रही बात बल प्रयोग करने वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति से सबधित। वैसे हर स्थिति में प्रेरणा, प्रवृत्ति और परिणाम—इन तीनों के बारे में चिन्तन करना जरूरी है।

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की बुराई छुड़ाने के लिए बुराई से सबधित उपकरण चुराता है। उसकी इस प्रवृत्ति के पीछे रही हुई प्रेरणा गलत नहीं है। क्योंकि वह सोचता है—सम्बधित व्यक्ति अनैतिक न रहे, हत्यारा न रहे। इस भावना से उसने जो वस्तु इधर उधर की उसे हड़पने की उसकी इच्छा नहीं है। बच्चा अज्ञानवश पत्थर फेंकता है या किसी अन्य उपकरण का दुरुपयोग करता है तब अभिभावक उसे छिपा देते हैं। यह प्रवृत्ति चोरी नहीं होती। इसी प्रकार कोई हित साधन की दृष्टि से ऐसा काम करता है उसे चोरी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चोरी में हड़पने की वृत्ति होती है। मूर्च्छा होती है। पदार्थ के उपयोग की भावना रहती है। इस दृष्टि से यह सही है कि हितैषी व्यक्ति के मन में चोरी की नहीं सबधित व्यक्ति को सुधारने की भावना है। यह घास को चिनगारी से बचाने का प्रयत्न है।

उक्त घटना में प्रेरणा बुरी नहीं है, प्रवृत्ति असामान्य नहीं है पर परिणाम की बात सदिग्ध है। इसलिए किसी भी व्यक्ति को नैतिक बनाने का तरीका यह नहीं है। यह तो तात्कालिक उपचार है। स्थूल प्रक्रिया है। सभव है, वह व्यक्ति

अपना छुरा खो जाने के कारण चोरी से उपरत होने के बजाय दूसरा छुरा खरीद कर अपनी मंशा पूरी कर ले। क्योंकि हत्या के प्रति उसके मन में ग्लानि नहीं है। अणुव्रत किसी भी व्यक्ति को बलात् अणुव्रती या धार्मिक बनाने में विश्वास नहीं करता। मन बदल जाता है तो कोई भी परिस्थिति व्यक्ति को अनैतिकता की की ओर प्रेरित नहीं कर सकती।

विवाह के सदर्भ मे नैतिकता

प्रश्न—आचार विज्ञान सैद्धान्तिक रूप से आदर्शों की व्याख्या करता है पर व्यक्तिगत समस्या का समाधान उसके पास नहीं है। ऐसी स्थिति मे प्रत्येक परिवार को नैतिक बना दिया जाय तो व्यक्तिगत और सामाजिक सभी समस्याए निरस्त हो सकती हैं। व्यक्ति समाज का अग है। सामाजिक जीवन की प्रथम सीढी है विवाह। फ्रायड के अनुसार शारीरिक तथा मानसिक विकास का मूल आधार है काम वृत्ति। बौद्धिक तथा सवेगात्मक अनुभव का प्रेरणा मिलती है कामवृत्ति से। विवाह कामवृत्ति को प्रत्यक्ष प्रोत्साहन है। इस स्थिति मे विवाह को नैतिक माना जा सकता है क्या? यह नैतिकता आध्यात्मिक है या सामाजिक?

उत्तर—विवाह समाजसम्मत परम्परा है। इसलिए इसे सामाजिक नैतिकता कहने मे कोई कठिनाई है ही नही। सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो यह धर्म-सम्मत नैतिकता की दिशा मे पदन्यास है। क्योकि इस माध्यम से बिखरी हुई वासना एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती है। वासना का होना अध्यात्म नही है पर उसका जितना सीमाकरण है सक्षिप्तीकरण है, उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। इस सन्दर्भ मे प्रसिद्ध लेखक बर्नार्ड शा ने अपनी पुस्तक 'मैरेज एण्ड मारल' मे लिखा है—आज विवाह का अर्थ है स्त्री भोग की खुली छूट। उनका यह दृष्टिकोण एक दृष्टि से ठीक है पर मेरा अभिमत है कि यदि समाज मे विवाह की व्यवस्था न हो तो व्यक्ति की वासना किसी भी बिन्दु पर केन्द्रित नही हो पाती। हा कोई व्यक्ति अपना जीवन साधना मे व्यतीत करे जीवनभर ब्रह्मचर्य का पालन करे उसके लिए विवाह का कोई मूल्य नही है। किन्तु जहा सयम की बात गौण हो वहा वासना का खुला छोडने मे भी खतरे कम नही है।

काम के साथ विकास का जो सम्बन्ध जोडा गया है, वह फ्रायड का अपना दृष्टिकोण है। उनका सारा विश्लेषण शारीरिक और मानसिक परिस्थिति पर आधारित है। वैसे व्यक्ति की सारी आशसाए काम है। आशसा के उदात्तीकरण मे विकास की सभावना हो सकती है। पर आशसा मात्र को विकास या प्रेरणा मानने के सिद्धान्त पर अध्यात्म की सहमति नही है। शरीर या मन की चाह ही

सब कुछ नही है। इससे भी परे जा सूक्ष्म मन है, वह व्यक्ति को निर्मित करता है। फ्रायड के अभिमत से जो मूल तत्त्व हैं, वे दूसरे दृष्टिकोण से निमित्त कारण मात्र हैं। हर व्यक्ति क भीतर उसकी निर्मिति के योग्य उपादान है। निमित्त के योग से वह अभिव्यक्त होता है। इच्छा चाहे सन्तान उत्पन्न करने की हो या कुछ बनने की वह कामना ही है। यह मूलभूत सज्ञा है, जिसे मनोविज्ञान मौलिक मनोवत्तियो की श्रेणी म परिगणित करता है।

प्रश्न—विवाह एक इच्छा की पूर्ति का माध्यम है। वह समाज सम्मत है। फिर भी निकट सबधियो के साथ विवाह का निषेध है, क्या ?

उत्तर—विवाह किसके साथ विहित है और किसके साथ निषिद्ध है, यह प्रश्न सामयिक और क्षेत्रीय परपरा म जुडा हुआ है। ऐसी परपराए किसी समय बनती हैं और किसी समय विघटित हो जाती हैं। इनम कोई शाश्वत तत्त्व काम करने वाला नही है। किसी समय चाचा की लडकी के साथ विवाह सम्बन्ध वर्जित होता है और किसी समय विहित हो जाता है।

यौगलिक व्यवस्था तो वतमान व्यवस्था से सवथा भिन्न थी। उस समय जो युगल उत्पन्न होते थे, वे ही अपन जीवन के अग्रिम काल मे पति पत्नी के रूप म रहत थे। जब तक सामाजिक विकास नही होता है शिक्षा का विकास नही होता है कुछ मान्यताए काम करती हैं। आगे चलकर वे बदल जाती हैं। निकट सम्बन्धी के साथ वैवाहिक सम्बन्ध निषिद्ध रखने का मुख्य आधार है रक्त के सम्बन्ध को टालना। इसके पीछे मनोवज्ञानिक आधार की बात तो अभी अन्वेषणीय ही है। परपरा का जो सूत्र है, वह हमारे सामने स्पष्ट है।

इस सन्दभ म भी दूसरे देशा म इतने प्रतिबन्ध नही हैं। वहा विवाह तो सामान्य बात है ही बिना विवाह भी यौन सम्बन्धा पर कोई नियन्त्रण नही है। ऐसी स्थिति म वे लोग नैतिक अनैतिक का प्रश्न ही नही उठा पाते। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि बहुत सी सामाजिक परपराए भी द्रव्य, क्षत्र, काल और परिस्थिति सापेक्ष रहकर ही अपनी उपयोगिता या अनुपयोगिता को प्रमाणित करती है।

प्रश्न—कुछ विचारक सन्तति निरोध उपायो को अनैतिक मानते है प्रकृति के विरुद्ध मानते हैं। बर्नाड शा जसे प्रगतिशील लेखक भी उक्त मान्यता के समथक रहे हैं। एक ओर बढती हुई जनसख्या की समस्या दूसरी ओर सन्तति निरोध उपायो को अनतिक घोषित करना। इस स्थिति म धम क्या मागदशन देता है ?

उत्तर—गभपात की बात गलत है तो गभ निरोध की बात भी आदेय नही हो सकती। यह अस्वाभाविक या अप्राकृतिक है। मात्र इसीलिए अनादेय नही है। इससे उच्छृखल कामुकता को प्रश्रय मिलता है, सयम की बात विस्मृत होती है

तथा जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण के निर्माण में बाधा पहुंचती है, इसलिए ऐसी किसी भी प्रवृत्ति के औचित्य को आध्यात्मिक दृष्टि से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से गर्भ निरोधक उपायों की जरूरत अनुभव की जा रही है। देश में भोजन कम है और आबादी अधिक है। इसलिए राष्ट्र के सामने एक बड़ी समस्या है। इस समस्या को निरस्त करने के लिए व्यक्ति काम सुख का संयम करे, यह अपेक्षा है। संयम का मार्ग धर्म के पास है। जहां संयम के मूल्य को भुला दिया जाता है, वहां सामाजिक उपयोग की दृष्टि से जिस तत्त्व को स्वीकार किया गया है, वह एक पहलू तक ही सीमित है। दूसरे पहलुओं के सन्दर्भ में उसका औचित्य प्रमाणित करना कठिन है। क्योंकि यह विवशता द्वारा स्वीकृत विकल्प है, बाध्यता है। जो समस्या है, वह ब्रह्मचर्य की साधना से ही सुलझ सकती है। किन्तु व्यापक स्तर पर जन-जीवन में ब्रह्मचर्य की साधना संभव नहीं है। इसलिए सामाजिक उपयोगिता का उसी सन्दर्भ में देखना और समझना ठीक है अन्यथा मूल्य निर्धारण में बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

प्रश्न—विवाह के बाद मतभेद या अन्य किसी भी स्थिति की उपस्थिति में विवाह विच्छेद के सम्बन्ध में भारतीय आचारशास्त्र की क्या धारणा है?

उत्तर—विवाह और विवाह विच्छेद ये सभी नैतिक-सम्बन्धी धारणाएं हैं। भारतीय परंपरा में पति पत्नी का सम्बन्ध आजीवन होता है। इसलिए सामान्य रूप से विच्छेद की बात उत्पन्न नहीं होती। यह परंपरा भी कुलीन जातियों में अधिक प्रचलित है। इसलिए दूसरी जातियों में सम्बन्ध विच्छेद की संभावना बनी रहती है। कानून अमुक-अमुक परिस्थितियों में पति और पत्नी दोनों को यह अधिकार देता है कि वे वैधानिक रूप में सम्बन्ध विच्छेद कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त मतभेद के बिना भी ऐसा क्रम बनता है। जैसे पति या पत्नी संसार से विरक्त हो जाए। वह पूर्ण संयम के पथ पर अग्रसर होना चाहे तो परस्पर समझौते पूर्वक सम्बन्ध विच्छेद कर लेते हैं। वैसे यह सामाजिक मर्यादा है। हिन्दू जाति के उत्थान और पतन के साथ विवाह संस्था के नियम भी बदलते रहे हैं। इन नियमों का नैतिकता से कोई अनुबंध स्थापित करना कठिन है। भारतीय आचार शास्त्र भी इस सम्बन्ध में किसी रूढ़ धारणा को प्रस्तुति नहीं देता है। परिवर्तनशील नियमों में स्थिति सापेक्ष परिवर्तन का सिद्धान्त ही वाञ्छनीय है।

प्रश्न—प्रायः देखा जाता है कि विवाह के बाद भारतीय नारी एक दृष्टि से परतन्त्र हो जाती है। उसके प्रति किसी भी प्रकार का दुर्व्यवहार हो, वह उफ तक नहीं कर सकती। वह यदि पुरुष के अनुचित व्यवहार की ओर अंगुलि निर्देश भी करती है तो वह क्षम्य नहीं होता। भारतीय आचारशास्त्र में ऐसा कोई मानदंड नहीं है जो नारी के प्रति उपेक्षा को स्वीकृति देता है। कानून में भी ऐसी कोई

धारा नही है जो स्त्री जाति की हीनता को व्यक्त करती हो। इसके बावजूद स्त्री की दशा दयनीय है इसका कारण क्या है?

उत्तर—कारण दो प्रकार के होते हैं, निकट कारण और सुदूरवर्ती कारण। निकट कारणो का विश्लेषण किया जाए तो नारी जाति की अविकसित चेतना ही उसकी दयनीय स्थिति मे मुख्य भूमिका निभा रही है। वैसे आज शिक्षा का विकास हुआ है। स्त्रियो का कार्यक्षेत्र विस्तार पा रहा है। औपचारिक रूप से उन्हे यत्र-तत्र सम्मान भी मिल रहा है। फिर भी यह सब वही तक है, जहा स्त्री पुरुष के अधीन रहकर विकास करना चाहती है। अथवा पुरुष की स्वच्छन्द मनोवृत्ति म किसी प्रकार का हस्तक्षेप किये बिना वह उसके द्वारा निर्धारित सीमाओ म काम करती है। जहा कही इस स्थिति का अतिक्रमण होता है स्त्री को बहुत कुछ सहन के लिए तयार रहना पडता है। अत सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि आज स्त्री अगडाई तो ले रही है पर पूर्ण रूप से जागृत नही हो पायी है। यह अर्धजागृत अवस्था मानसिक दयनीयता का प्रमुख कारण है।

सुदूरवर्ती कारणो का विश्लेषण किया जाए तो एक लम्बी शृखला प्रस्तुत की जा सकती है। समाज म मादक, आर्थिक पराधीनता, समाज मे पुरुष की प्रधानता पर्याप्त शिक्षा का अभाव शारीरिक अक्षमता आदि कम आज कारण है जो स्त्री जाति के विकास म बाधक ही नही, उसम हीन भावना के सर्जक है। हीन भावना से ग्रस्त कोई भी व्यक्ति अनुकूल वातावरण म भी आगे नही बढ़ सकता। अपने आपको प्रबुद्ध समझने वाली नारी भी कुछ परिस्थितियो मे विवश हो जाती है। कानून या आचारशास्त्र इस स्थिति को बदलने म सक्षम नही है। क्योकि स्त्री ने बेबसी से ही सही, इन स्थितियो के साथ समझौता करना सीख लिया है। वह भीतर ही भीतर टूटती हुई भी ऊपर से पूर्णता का प्रदर्शन कर रही है। किन्तु यह स्थिति जब असह्य हो उठती है तब उसकी व्यथा किसी न किसी रूप म अभिव्यक्त हो जाती है।

प्रश्न पूरकता का

प्रश्न—पाश्चात्य आचारशास्त्र के नियम क्या पूर्वीय आचार-विज्ञान के पूरक हो सकते हैं ?

उत्तर—पाश्चात्य आचारशास्त्र का चिन्तन स्वतन्त्र है। उसका आधार वैज्ञानिक पद्धति है। किन्तु पाश्चात्य विचारकों ने जो कुछ चिन्तन किया है, सिद्धान्तवादी स्तर पर किया है। उन्होंने इस तथ्य को सामने नहीं रखा कि समाज में कैसी नैतिकता होनी चाहिए ? उसके विकास का आधार क्या हो सकता है ? उसकी पृष्ठभूमि कैसी होनी चाहिए ? जो नैतिक मूल्य हमने निर्धारित किये हैं, उन्हें समाज में प्रतिष्ठित कैसे किया जा सकता है ? ये ऐसे बिन्दु हैं, जो महत्त्वपूर्ण हैं, पर उन लोगों का ध्यान इधर नहीं गया। इसलिए अभ्यास का पहलू अंधकार में ही रह गया। वहां समाज के विकास की बातें बहुत हुई पर उसे बदलने की प्रक्रिया सामने नहीं आयी।

पूर्वीय आचार विज्ञान के व्याख्याताओं ने सिद्धांत की पृष्ठभूमि को दुर्बल नहीं होने दिया और अभ्यास की बात को विस्मृत नहीं किया। अतः उन्होंने अपने ढंग से आचार विज्ञान को प्रस्तुति दी। इसलिए पाश्चात्य आचारशास्त्र को पौरस्त्य आचार विज्ञान का पूरक तो नहीं, एक सीमा तक पोषक कहा जा सकता है। भारतीय आचार विश्लेषण में रही हुई न्यूनता को उसी धरातल पर खड़े होकर दूर करने का प्रयास होगा, तभी कुछ काम हो सकेगा।

प्रश्न—भारतीय आचार विज्ञान का उद्देश्य है—जीवन का रूपान्तरण। रूपान्तरण के लिए केवल आदर्शों का निर्धारण ही पर्याप्त नहीं है, यह आपकी स्थापना है। इस स्थिति में आपने अणुव्रत के आदर्शों को व्यवहार्य बनाने का कोई उपक्रम क्यों नहीं बताया ? आधुनिक योगविदों के अनुसार भीतरी रूपान्तरण का अमोघ साधन है ध्यान। क्या आपने अणुव्रती के लिए ध्यान-साधना की भी अनिवार्यता बतायी है ?

उत्तर—अध्यात्म के आधुनिक चिंतकों का अभिमत है कि नैतिकता नाम की कोई स्वतन्त्र चीज है ही नहीं। नैतिकता तो अध्यात्म का प्रतिबिम्ब है। जिस

व्यक्ति के अंतःकरण में अध्यात्म के बीज अंकुरित हो जाते हैं, वह अनैतिक हो ही नहीं सकता। पश्चिम में नीतिशास्त्र भिन्न रूप में प्रस्फुटित है। अतः वहां अध्यात्म प्रशिक्षण की अतिरिक्त अपेक्षा रहती है। भारतीय ऋषियों ने अध्यात्म पर ही सबसे अधिक बल दिया, अतः नैतिकता उसमें समाविष्ट हो गयी। अध्यात्म का अर्थ केवल श्रुति चेतना तक पहुंचाने वाला धर्म नहीं है। अध्यात्म अभ्यास की प्रक्रिया है और निष्पत्ति है। अणुव्रत भी अध्यात्म का ही एक अंग है। इसलिए इसकी आचार-संहिता में आदर्शों की चर्चा मात्र न रहकर करणीय का विवेक भी दिया गया है।

अणुव्रती व्यक्ति का संकल्प तब ही सिद्ध हो सकता है, जब उसके जीवन में अध्यात्म का विकास होता है। ध्यान के द्वारा रूपांतरण की जो बात कही गयी है वह बिल्कुल सही है। अणुव्रती के लिए भी यह जरूरी है कि वह अपने व्रतों को परिपुष्ट करने के लिए कुछ साधना के संकल्प स्वीकार करे। साधना के संकल्पों में ध्यान का भी प्रावधान है और ये संकल्प भी उसके लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने अणुव्रत के नियम हैं। आदर्शों को व्यवहार्य बनाने का जो प्रश्न है, वह अपने आप ही उत्तरित हो जाता है। क्योंकि अणुव्रत की प्रत्येक धारा व्यवहार के धरातल पर ही टिकी हुई है।

प्रश्न—आपके मन में अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तन की बात क्या उठी? क्या इसके लिए कोई विशेष घटना घटित हुई है?

उत्तर—मैं जैन धर्म के एक सम्प्रदाय विशेष का आचार्य हूं। पारंपरिक रूप से उस सम्प्रदाय की सीमा में ही मैं काम करता था। किन्तु जिस पर्यावरण में भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ, उसने मुझे कुछ नये ढंग से सोचने के लिए प्रेरित किया। मैंने देखा—हर धर्मावलम्बी या उस धर्म का अधिकारी अपने मजहब में काम करता है। हर मजहब के अनुयायियों को सार्वभौम तत्त्व देने की बात कोई भी नहीं करता है। कितना अच्छा हो, इस दिशा में मैं कोई प्रयत्न कर सकूं। बस इसी चिन्तन की निष्पत्ति है अणुव्रत। अणुव्रत में ऐसे आदर्शों का संकलन है जो सबके लिए उपयोगी हो सकते हैं।

वैसे हर व्यक्ति किसी-न-किसी धर्म में विश्वास करता है। धर्म के दो रूप हैं—उपासना और चरित्र। अणुव्रत किसी भी धर्म की उपासना पद्धति में हस्तक्षेप नहीं करता हुआ मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की ओर प्रेरित करता है। इसके अनुसार हर व्यक्ति अपने-अपने उपासना धर्म को बरकरार रखता हुआ नैतिक बन सकता है। नैतिकता ऐसा सद्‌गुण है जो जाति, प्रान्त, रंग, लिंग आदि किसी भी संकीर्ण सीमा में बंधकर नहीं रह सकता। यह कोई ऐसा मुखौटा भी नहीं है कि जब मन में आया, ओढ़ लिया और नहीं जंचा तो उतार फेंका। नैतिकता सार्वभौम तथा सार्वकालिक सत्य है। इस शाश्वत सत्य से जन-जन को परिचित

कराने के लिए और तदनरूप जीवन जीने की प्रेरणा देने के लिए ही अणुव्रत एक आंदोलन का रूप लेकर सामने आया है।

प्रश्न—इन वर्षों मे अणुव्रत आंदोलन के समकक्ष दूसरे और भी कोई आंदोलन चले हैं या चल रहे हैं? यदि हैं तो उनमे और अणुव्रत मे कोई तालमेल है?

उत्तर—हर आंदोलन का अपना स्वतन्त्र उद्देश्य होता है, इसलिए हम कई आंदोलनो मे पूर्ण रूपण समकक्षता स्थापित नही कर सकते। फिर भी उनके कुछ उद्देश्यो मे समता होती है। इस दृष्टि से पहले दो-तीन आंदोलन चलते थे जो अणुव्रत के समकक्ष माने जा सकते थे। एक आंदोलन चलाने वाले थे डा० बुकमेन। वे 'नैतिक पुनरुत्थान' (Moral Rearmament) नाम से एक आंदोलन विदेश मे चलाते थे। दूसरा आंदोलन था विनोबा भावे का, सर्वोदय आंदोलन। बम्बई निवासी श्री केदारनाथ भी उन दिनो एक आंदोलन चलाते थे। वे नाथजी के नाम से प्रसिद्ध थे। उनका आंदोलन 'व्यवहार शुद्धि' के नाम से चलता था। मेरे बम्बई प्रवास मे वे मुझसे मिले थे और उस आंदोलन के सम्बन्ध मे चर्चा भी चली थी। अब नाथजी नही रहे इसलिए वह आंदोलन भी अस्तित्व मे नही रहा। उन आंदोलनो का एक उद्देश्य था सामाजिक जीवन के नैतिक धरातल को उन्नत बनाना। सर्वोदय ने कुछ समय तक काम किया, फिर वह ग्रामोद्योग आदि योजनाओ मे सिमटकर रह गया। मोरल रिआर्मामेंट आंदोलन के भारतीय प्रचारक थे देवदास गाधी। इन्हान जब अणुव्रत के बारे मे जानकारी प्राप्त की तो बोले—अणुव्रत भारत का मोरल रिआर्मामेंट है। अणुव्रत के कार्यकर्ता और इन आंदोलनो के कार्यकर्ता परस्पर मिलते रहे है और सयुक्त कार्यक्रम भी करते रहे हैं। दिल्ली और वर्धा मे मैं स्वय आचार्य विनोबा भावे से मिला। सर्वोदय और अणुव्रत के सम्बन्ध मे उनके साथ हमारी काफी चर्चाए हुई हैं। पर ऐसा प्रतीत होता है कि विशुद्ध नैतिक दृष्टिकोण से चलने वाला आंदोलन अणुव्रत ही है।

अणुव्रत अपने उद्देश्य के प्रति जागरूक है। किन्तु जब तक ऐसी प्रवृत्तियो को बहुमुखी बल नही मिलता है, उद्देश्य की पूर्ति मे विलम्ब हो जाता है। आज दूसरे क्षेत्रो मे विकास-हेतु जितना प्रयत्न हो रहा है, नैतिक अभ्युदय की ओर उतना ध्यान नही है। जिस विकास के अभाव मे दूसरे सब विकास अधूरे हैं, उसके सम्बन्ध मे राष्ट्रीय स्तर पर या युद्ध स्तर पर व्यापक चिंतन की अपेक्षा है। यह काम अणुव्रत के नाम से ही हो, यह कोई जरूरी नही है। नाम कुछ भी हो, काम होना चाहिए। नैतिक मूल्यो को प्रस्थापित करने की दिशा मे विशेष काम होने से ही भावी पीढ़ी को शुभ सस्कार दिये जा सकते हैं।

इस दृष्टि से मैं राष्ट्र के प्रबुद्ध विचारको और धर्माधिकारियो को आह्वान

करता हू कि वे अपने कतव्य को समझ । सामाजिक जीवन म प्रामाणिकता और सत्यनिष्ठा के सस्कार दन के लिए प्रारभिक रूप स कुछ चितन और एक सामूहिक प्रयत्न अवश्य होना चाहिए । मैं सोचता हू कि इस दिशा म जितना तीव्र प्रयत्न होगा राष्ट्र की नैतिक चतना क जागरण का काम भी उतनी ही तीव्रता स हो सकेगा ।

जीवन-मूल्यो की तलाश

भूले-बिसरे जीवन-मूल्यों की तलाश

बीसवी सदी अब अपनी उम्र के कगार पर पहुच रही है। दस दशको म नावा दशक सम्पूर्ति की ओर बढ रहा है। उसके बाद एक दशक का समय शेष रहता है। आने वाले उस दशक म मनुष्य क्या करेगा, कुछ कहना कठिन है। वह अपने अतीत की भूलो को सुधारेगा? भविष्य की योजना बनाएगा? अथवा वतमान के एक एक क्षण को पूरी जागरूकता के साथ जीकर अपने धरातल को मजबूत बनाएगा?

इस सदी म विज्ञान को धारा इतनी आगे बढी है कि आदमी आकाशगमी बन गया। वह चाद पर पहुचकर चहलकदमी कर चुका है और अन्तरिक्ष म बस्तिया बसाने का स्वप्न देख रहा है। अणु को विखण्डित कर उसने ऊर्जा के अपरिमित स्रोतो की खोज मे सफलता प्राप्त की है। इससे आगे वह इक्कीसवी सदी म प्रवेश करने की तैयारी म पूरी शक्ति के साथ लगा हुआ है। यहा समझने की बात इतनी ही है कि इस युग के आदमी ने जितना विकास किया है वह सब पदाथ के स्तर पर किया है। पदाथ के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति, समाज और राष्ट्र इस विकास से सन्तुष्ट हो सकता है, पर जिस देश की सस्कृति म पदाथ से भी ऊपर चरित्र है, नैतिकता है मानवता है, वह देश क्या पदाथ प्रतिबद्ध होकर अपने विकास का सपना पूरा कर सकता है?

भारतीय सस्कृति चरित्र प्रधान सस्कृति है। इस सस्कृति म जीवन से भी अधिक महत्त्व जीवन मूल्यो का है। इन मूल्यो के प्रति आस्थावान व्यक्ति ही अपनी चारित्रिक उज्ज्वलता को सुरक्षित रख सकता है। मूल्यहीनता आज का सबसे बडा सकट है। वसे हमारे देश की जनता को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी निरन्तर सघषरत रहना पडता है। भोजन वस्त्र, आवास चिकित्सा और शिक्षा जसी अपेक्षाओ के लिए भी जनता निश्चिन्त नही है। एसी स्थिति मे जीवनस्तर को उन्नत बनाने की बात पर विचार होना भी बहुत मुश्किल है। करोडो करोडो लोगो की समस्या देश की अहम समस्या होती है। उसे नजर अन्दाज नही किया जा सकता। फुटपाथो एव झुग्गी झोपडियो म अधभूखे और अधनगे लोग कभी अपने बच्चो की शिक्षा और चिकित्सा की कल्पना भी कर सकते है क्या?

देश म बढ़ते हुए अपराधा के पीछ भी एक सीमा तक यह अभावो स भी जिन्दगी निमित्त नही बनती है क्या ? अभाव और अनिभाव—दोना प्रकार की स्थितिया अपराधी मनोवत्ति को जन्म दती हैं। इस सत्य को नकारा नही जा सकता।

मूलभूत प्रश्न यह है कि ऐसा क्या होता है ? मेरे अभिमत क अनुसार इसका सबस बडा कारण है जीवन मूल्या की विस्मृति। जीवन के मूल्य दो प्रकार के होत है—शाश्वत और सामयिक। सामयिक मूल्या में देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलाव होते रहत ह। किन्तु शाश्वत मूल्या की सत्ता त्रकालिक होती है। किसी भी परिस्थिति म उन मूल्यो को जीवन से अलग नही किया जा सकता। चिन्ता तब होती है, जब एस मूल्या पर भी विस्मति की धुध छा जाती है और उनकी पहचान कठिन हो जाती है। अणुव्रत आन्दोलन उन भूले बिसर जीवन मूल्यो को उजागर करने का ही एक उपक्रम है।

सन १९८८ ८९ का वष हमने अमत महोत्सव वष के रूप म मनाया। इस वप का अधिक साथक और मानव जाति के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से हमन इसे जीवन विज्ञान वष के रूप म मनाने की स्फुरणा दी। जीवन विज्ञान से हमारा अभिप्राय है जीवन का सर्वांगीण विकास। दूसरे शब्दा मे भावनात्मक और बौद्धिक विकास के सतुलन का नाम है जीवन विज्ञान। यह जीवन के समग्र मूल्या को सप्रेषित करने की प्रक्रिया है। फिर भी प्रमुख रूप से इसम जिन मूल्यो का समावेश किया गया है, उनमें से कुछ मूल्य इस प्रकार है—

● अभय	● अनासक्ति	● प्रामाणिकता
● मदुता	● स्वावलम्बन	● विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय
● सत्य	● आत्मानुशासन	● मानसिक सन्तुलन
● आजव	● सहिष्णुता	● सम्प्रदाय निरपेक्षता
● करुणा	● कत्तव्यनिष्ठा	● सहअस्तित्व
● धृति	● व्यक्तिगत सग्रह सयम	● मानव जाति की एकता

परिवतनशील जीवन मूल्यो का विकास ह्रास होता रहता है। किन्तु ऊपर जिन मूल्या की चर्चा की गई है, वे मूल्य समय सापेक्ष नही है। अतीत म इनकी अपक्षा थी, वतमान मे है और भविष्य म रहेगी। इस त्रैकालिक अपेक्षा के बावजूद बतमान परिस्थितियो मे इनका अवमूल्यन स्पष्ट रूप म प्रतिभासित हो रहा है, जो किसी भी दृष्टि स शुभ नही है।

हमारे देश की नयी पीढी दोहरे जीवन मूल्या से गुजर रही है। एक ओर उसके पास अपनी सास्कृतिक विरासत है तथा दूसरी ओर है भोगवाद की चकाचौध। इस चकाचौंध मे त्याग की चेतना ओझल हुई है और युवापीढी मूल्यहीनता के अधेरे कुए म उतर रही ह। भोगवादी मनोवृत्ति से जुडी उसकी आकाक्षाए उसे चरित्र और नतिकता के रास्त स भटका रही है इसीलिए आज कुछ नयी समस्याए उत्पन्न

हो गई हैं।

अनुशासनहीनता, चरित्रहीनता, क्रूरता, असन्तुलन, साम्प्रदायिक उन्माद, जातिभेद एव रगभेद की नीति, अणुअस्त्रो की अविवेकपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा आदि इस युग की प्रमुख समस्याए है। इन समस्याओ के केन्द्र मे दो तत्त्व हैं—हिंसा और परिग्रह। मनुष्य के मन मे हिंसा के सस्कार हैं, इसलिए वह स्वय आतकित है और दूसरो को आतकित कर रहा है। वे सस्कार किसी तात्कालिक परिस्थिति की देन नही हैं, अनन्त-अनन्त जन्मो से सचित हैं। उनकी धार इतनी पैनी है कि उससे आदमी भीतर ही भीतर कटता रहता है। उसकी चेतना क्षत विक्षत हो रही है और वह एक अलक्षित वेदना के बोझ से दबकर कराह उठता है।

हिंसा का मूलभूत उत्स है परिग्रह। मनुष्य के पास परिग्रह होता है। उसके मन म परिग्रह की आकाक्षा रहती है। वह परिग्रह को सुरक्षित रखना चाहता है, सर्वाधित करना चाहता है इसलिए उसे हिंसा के क्षेत्र म उतरना पडता है। परिग्रह की चेतना भीतर है और हिंसा की चेतना बाहर है। मूलत य एक ही समस्या के दो छोर हैं। इस समस्या का समाधान युद्ध नही है, शस्त्रास्त्र नही है, आतकवाद नही है औद्योगीकरण नही है कम्प्यूटर नही ह और रोबोट नही है। समस्या की इस नदी का पार करने के लिए अणुव्रत की नाव पर सवार होना होगा।

अणुव्रत मनुष्य जीवन की न्यूनतम आचार-सहिता है। इसे आधार मानकर चलने वाला व्यक्ति क्रूर नही हो सकता, आतकवादी नही हो सकता छुआछूत और रगभेद को प्रश्रय देने वाला नही हा सकता, साम्प्रदायिक उन्माद नही फैला सकता, खाद्य पदार्थों म बेमेल मिलावट नही कर सकता, वोटो का क्रय विक्रय नही कर सकता, सामाजिक कुरूढियो का पक्षधर नही हो सकता तथा मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नही कर सकता।

अणुव्रत जिन जीवनमूल्या का समाज मे प्रतिष्ठित करना चाहता है उनका उपदेश देकर ही निश्चिन्त नही हो जाता। वह प्रायोगिक धर्म की बात करता है। प्रयोग का प्रशस्त रास्ता है—प्रेक्षाध्यान। ध्यान के प्रयाग से आदतो का परिवतन होता है, सस्कार बदलते हैं और व्यवहार परिष्कृत होत है। प्रेक्षाध्यान एक अनुभूत और प्रयुक्ति प्रक्रिया है। गहरी निष्ठा के साथ दीर्घकाल तक इसका अभ्यास किया जाए तो व्यक्तित्व मे रूपान्तरण घटित हो जाता है। अपेक्षा है प्रयोग के धरातल को ठोस बनाने की।

इस युग की युवापीढी चौराहे पर खडी है। न तो उसके सामने कोई निश्चित मजिल है और न ही है कोई निश्चित रास्ता। उसके मन म कुछ होने की आकाक्षा है और आखो मे सपना है। आकाक्षा की पूर्ति हो सकती है, सपना आकार ले सकता है बशर्ते की भूले बिसरे जीवन मूल्या की एक सार्थक तलाश हो। जब तक युवापीढी शाश्वत जीवन मूल्या के प्रति आस्थाशील नही होगी उन्हें

आत्मसात नहीं करेगी और व्यवहार में उनकी प्रतिष्ठा नहीं देगी, तब तक भौतिक विकास किया जा सकता है आध्यात्मिक विकास नहीं होगा। सुख सुविधाओं के साधन जुटाए जा सकते हैं, स्थायी सुख और तृप्ति का अनुभव नहीं होगा। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान का आमंत्रण है इस पीढ़ी के सजग दावेदारों को। वे इस आमंत्रण को स्वीकार करें जीवन की रिक्तता का महसूस करें और उसे मूल्यों की मशाल से जगमगा दें। ऐसा करके ही युवापीढ़ी अपने समुज्ज्वल चरित्र की छाप छोड़कर भारतीय संस्कृति के गौरव को अक्षुण्ण रख सकती है।

अणुव्रत है सम्प्रदाय-विहीन धर्म

नितान्त लौकिक क्षणों में जीने वाला व्यक्ति भी अलौकिक अनुभूति से भरे कुछ खूबसूरत पलों की प्रतीक्षा करता है। वे पल उसकी चेतना को भीतर से छूते हैं और उसमें जीवन के प्रति नयी आस्था पैदा करते हैं। उस अरूप सत्ता और शक्ति का अनुभव करने के बाद वह एक नयी सोच को विकसित करता है। एक दृष्टि से वह सोच उसके पुरखों द्वारा बोयी गयी फसल का ही एक फल है। किन्तु जब तक अपना अनुभव उसके साथ नहीं जुड़ता है, तब तक उसको स्वाभाविक स्वीकृति नहीं मिल सकती। भीतर का यह अनुभव बाहर प्रकट होता है, तब उसकी पहचान धर्म के रूप में की जाती है।

इस संसार में धर्म चलता है और धर्म सम्प्रदाय भी चलते हैं। बल्कि मानना चाहिए कि धर्म से अधिक धर्म सम्प्रदाय चलते हैं। आज कोई भी व्यक्ति धर्म के कारण धार्मिक नहीं कहलाता, मजहब के नाम पर धार्मिक कहलाता है। एक ओर धार्मिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है, दूसरी ओर धार्मिकों की संख्या बढ़ती जा रही है। पतनशील धार्मिक मूल्यों के बीच में क्या कोई धार्मिक बना रह सकता है? यह एक ऐसा सवाल है, जो तह में उतरकर सोचने के लिए विवश करता है।

भारतवर्ष की आबादी सत्तर करोड़ है। भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान संस्कृति है। यहां शत प्रतिशत नहीं तो कम से कम पैंसठ करोड़ व्यक्ति धार्मिक हैं। जैन, बौद्ध, ईसाई, सनातनी, मुस्लिम सभी तो स्वयं को धार्मिक मानते हैं। इनकी धार्मिकता मजहबी धार्मिकता है। अब अगर यह सर्वे किया जाए कि इन पैंसठ करोड़ धार्मिकों में प्रामाणिक कितने हैं? संभव है इस प्रश्न के उत्तर से जुड़ने वाले लोग पचास लाख भी नहीं मिलेंगे। यह स्थिति दोहरे मूल्यों की संस्कृति को पनपा रही है। अन्यथा किसी धार्मिक व्यक्ति के जीवन पर अप्रामाणिकता की छाया ही कैसे पड़ सकती है? सबसे अधिक आश्चर्य की बात यही है कि व्यक्ति अपने आपको धार्मिक मानने या दिखाने में जितने गौरव का अनुभव करता है, उतना ही गौरव उसे भ्रष्टाचार और बेईमानी करते समय भी उपलब्ध हो जाता है। इस द्वन्द्व को कैसे दूर किया जाए?

सामान्यत धर्म का सम्बन्ध आचरण के साथ न जोड़कर कुल-परम्परा के साथ जोड़ा जाता है। व्यक्ति जिस कुल या वर्ग मे पैदा होता है, उस कुल या वर्ग के धर्म का अनुयायी वह कुछ किए बिना ही हो जाता है। कुल परम्परा से प्राप्त धर्म का क, ख, ग न जानने पर भी वह जैन, बौद्ध या सनातनी कहलाता है। यह विसगति जीवन को खोखला बना रही है। क्योकि धर्म कहलाने या दीखने का तत्त्व है ही नहीं। वह तो एक जीवन शैली है, जो अनुभव मे आनी चाहिए। अप्रामाणिक या अनैतिक जीवन मे धार्मिक होने का दावा फटे टाट म रेशमी पैबन्द लगाने जितना हास्यास्पद है।

एक धार्मिक कहलाने वाला व्यक्ति चरित्रहीन हो, हिंसा पर उतारू हो, आक्राता हो, धोखाधड़ी करने वाला हो मिलावट करता हो, छुआछूत के मानदण्ड मे उलझा हुआ हो, दुर्व्यसनो मे फसा रहता हो, शराब पीता हो, खान-पान की शुद्धि का ध्यान न रखता हो और भी अनेक अनैतिक आचरण करता हो, क्या वह धार्मिक कहलाने का अधिकारी है? ऐसा धार्मिक व्यक्ति धर्म की सच्चाइयो को आत्मसात् कैसे करेगा?

धार्मिक व्यक्ति की यह दोहरी भूमिका धर्म के माथे पर एक ऐसा कलक है जिसे धोने के लिए धार्मिक अन्धविश्वासो और कुरीतियो को यथार्थ के नजरिये से देखने की जरूरत है, सम्प्रदायो को गौण कर धर्म को उसके अपने रूप म परखने की जरूरत है। यह जरूरत आज जितनी है आज से चार दशक पहले भी इतनी ही थी। बल्कि उस समय अधिक थी। उन दिनो देश मे विदेशी दासता का उमस भरा माहौल था। राष्ट्रीयता के प्रेम मे डूबे हुए कुछ लोगो न गाधीजी के नेतृत्व मे अहिंसात्मक बगावत की। उसे कुचलने का निर्मम प्रयत्न हुआ, पर आखिरी जीत अहिंसा की हुई। वह समय देशवासियो के लिए सक्रान्ति का समय था। सक्रान्तिकाल मे राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सभी मूल्यो म उथल पुथल की सभावना को नकारा नही जा सकता। धार्मिक मूल्यो को नया परिवेश देने का दायित्व धर्म गुरुओ पर होता है। इसी बात का ध्यान म रखकर हमने देश की आजादी के साथ साथ सम्प्रदाय विहीन धर्म अथवा एक नैतिक आदोलन की शुरुआत की, जो आज 'अणुव्रत' के नाम स अपनी अच्छी पहचान बना चुका है।

'अणुव्रत' इस नाम का चयन बहुत सोच विचार के बाद किया गया। हमने सोचा—नाम ऐसा होना चाहिए, जो सीधा हो छोटा हो और त्याग के महत्त्व को उजागर करने वाला हो। अणुव्रत नाम इस चिन्तन के फ्रेम मे फिट बैठ गया। अणुव्रत का विधान बनाते समय विशेष रूप से लक्ष्य रखा गया कि यह किसी सम्प्रदाय का रूप न ले ले। अणुव्रत को स्वीकार करने वाला व्यक्ति अणुव्रती होता है, फिर चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग, मजहब, लिंग रग और भाषा से सबधित हो। मानवीय मूल्यो मे आस्था अणुव्रती बनने वाले की न्यूनतम योग्यता है। जो

लोग यह मानते थे कि सम्प्रदाय के बिना धर्म नहीं हो सकता, अणुव्रत उनके सामने सम्प्रदाय विहीन धर्म का प्रतीक बन गया।

सम्प्रदाय विहीन धर्म की बात किसी नये युग या नये चिन्तन की उपज नहीं है। महावीर वाणी में हमने यह बात पढ़ी। स्थानांग सूत्र में चार प्रकार के पुरुषों की चर्चा करते हुए बताया गया है—

- कुछ पुरुष धर्म का त्याग कर देते हैं, गणसंस्थिति का त्याग नहीं करते।
- कुछ पुरुष गणसंस्थिति का त्याग कर देते हैं, धर्म का त्याग नहीं करते।
- कुछ पुरुष धर्म का भी त्याग कर देते हैं और गणसंस्थिति का भी त्याग करते हैं।
- कुछ पुरुष न धर्म का त्याग करते हैं और न गणसंस्थिति का त्याग करते हैं।

उक्त चौभंगी में दूसरा भंग सम्प्रदाय विहीन धर्म का प्रतिपादन करता है। यदि सम्प्रदाय बिना धर्म टिकता ही नहीं तो ऐसा नहीं कहा जाता कि कुछ पुरुष गणसंस्थिति का त्याग कर देते हैं, पर धर्म का त्याग नहीं करते। यहां धर्म शब्द का अभिप्राय जीवन की पवित्रता या आचरण की उच्चता से है।

अणुव्रत आन्दोलन के प्रारम्भ में अणुव्रत को अनेक प्रकार की आशंकाओं के घेरे में रहना पड़ा। हम स्वयं भी इसकी संभावनाओं के प्रति पूरी तरह से आश्वस्त नहीं थे। क्योंकि सही तत्त्व को भी संकीर्ण नजरिये से देखने पर उसमें साम्प्रदायिकता की पुट लगायी जा सकती थी। किंतु अणुव्रत ने लोक-मानस पर एक छाप छोड़ी। जनता ने उसको अपनाया और जन समर्थन के कारण ही वह देशव्यापी आन्दोलन बन गया।

अणुव्रत की असाम्प्रदायिकता इस बात से प्रमाणित नहीं है कि डा० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० राधाकृष्णन एवं वी० वी० जत्ती जैसे व्यक्तियों ने अणुव्रत के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की। उन जैसे सहज धार्मिक लोग धर्म के मौलिक सिद्धांतों से जुड़ी हुई किसी भी प्रवृत्ति को अपना समर्थन ही नहीं, प्रोत्साहन दे सकते हैं। किंतु पंडित जवाहरलाल नेहरू, प्रोफेसर गोरा, कामरेड यशपाल, गोपालन, डांगे जैसे व्यक्ति जिनकी किसी मजहब के प्रति आस्था नहीं थी, अणुव्रत के प्रति आस्थाशील बने यह महत्त्वपूर्ण बात है।

अणुव्रत किसी भी व्यक्ति की व्यक्तिगत धार्मिक आस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं करता। कौन व्यक्ति किसकी उपासना करता है, कौन किसका नाम जपता है, कौन मन्दिर में जाता है, कौन मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ता है, कौन साधु-संतों के पास जाता है और कौन आत्मा, परमात्मा या मोक्ष में विश्वास करता है, इन

सब बातों में अणुव्रत की कोई अभिरुचि नहीं है। वह तो केवल इसी बात पर बल देता है कि व्यक्ति अपने जीवन को पवित्र और चरित्र को उन्नत रखे। धर्म की पुस्तकें, धर्म के टेम्पल्स, धर्म की पाठ पूजा, धर्म तीर्थों की यात्रा और धर्म के बाह्य चिह्नों से उसे कोई सरोकार नहीं है। वह धर्म को व्यवहार में उतरा हुआ देखना चाहता है।

अणुव्रत को न प्राचीनता से चिढ़ है और न नवीनता से व्यामोह है। वह शाश्वत और सामयिक मूल्यों में सामंजस्य बिठाकर चल रहा है। उसका उद्देश्य है सही इंसान का निर्माण। नये जीवन दर्शन को जीने वाले मनुष्य का निर्माण। जिस मनुष्य के पास जीवन का कोई दर्शन नहीं होता, वह अपने भविष्य के प्रति आश्वस्त नहीं हो सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर अणुव्रत ने एक छोटी सी आचार संहिता दी जो मानवीय आचार संहिता के रूप में प्रसिद्ध है।

अणुव्रत की आचार संहिता का रूप देकर हमने देश के विभिन्न अंचलों में अणुव्रत पदयात्रा शुरू की। कुछ साधु साध्वियां और अणुव्रतनिष्ठ कार्यकर्ता साथ जुड़े। कुल मिलाकर एक वातावरण बन गया और अणुव्रत भारत का नैतिक आंदोलन कहलाने लगा।

देश के कई नेताओं को विदेश जाने पर पूछा गया कि भारत में कोई नैतिक आंदोलन चल रहा है क्या? इस प्रश्न के उत्तर में अनायास ही अणुव्रत का नाम उभरकर सामने आ जाता।

अणुव्रत का प्रथम अधिवेशन दिल्ली में हुआ। उसकी पहली मीटिंग वहां के कांस्टीट्यूशन क्लब में हुई। वहां राजधानी के अनेक पत्रकार उपस्थित थे। उस मीटिंग में पत्रकारों ने अनेक प्रश्न किए। उनका पहला प्रश्न था—आप अणुव्रत की बात कर रहे हैं। जो व्यक्ति अणुव्रती बनेगा उसे जैन या तेरापंथी बनना पड़ेगा क्या? मैंने कहा—अणुव्रत नैतिकता के नियम हैं। इनका पालन करने के लिए किसी भी सम्प्रदाय से जुड़ना जरूरी नहीं है। उनका दूसरा प्रश्न था—जो व्यक्ति अणुव्रती बनेगा, क्या उसके लिए आपको गुरु मानना और नमस्कार करना अनिवार्य होगा? मैंने कहा—कोई गुरु माने या नहीं, नमस्कार करे या नहीं, पर जो अणुव्रत आचार संहिता का पालन करेगा वह अणुव्रती कहलाएगा। इस प्रकार के कुछ अन्य प्रश्नों ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया कि अणुव्रत पूरी तरह से असाम्प्रदायिक आन्दोलन है।

अणुव्रत क्या है? इस प्रश्न को सूत्र शैली में उत्तरित किया जाए तो इसका उत्तर होगा—

- जीवन की न्यूनतम आचार संहिता अणुव्रत है।
- सम्प्रदाय विहीन धर्म अणुव्रत है।
- मूल्य परिवर्तन की दिशा में उठा हुआ एक कदम अणुव्रत है।

- कथनी और करनी की समानता का नाम अणुव्रत है।
- मानवीय एकता का आंदोलन अणुव्रत है।
- ज्ञान और आचरण की दूरी कम करने का नाम अणुव्रत है।
- अपराध चेतना को बदलने का आंदोलन अणुव्रत है।
- चरित्र निर्माण का आंदोलन अणुव्रत है।
- आत्म निरीक्षण की पद्धति अणुव्रत है।

इन परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में झांकने से अणुव्रती का एक नया ही रूप सामने आता है। इसके अनुसार अणुव्रती की पहचान इस प्रकार है—अणुव्रती वह है—

- जो तोड़-फोड़मूलक हिंसा में भाग नहीं लेता।
- जो अपनी ओर से किसी पर आक्रमण नहीं करता।
- जो धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास करता है।
- जो किसी व्यक्ति, वर्ग या धर्म पर आक्षेप प्रक्षेप नहीं करता।
- जो व्यवसाय की नीति का अतिक्रमण नहीं करता।
- जो मादक व नशीली वस्तुओं का सेवन नहीं करता।
- जो जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊंच नीच नहीं मानता।
- जो किसी व्यक्ति को अस्पृश्य नहीं मानता।
- जो सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय नहीं देता।
- जो चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नहीं करता।
- जो देश में हिंसा और घृणा के भाव नहीं फैलाता।
- जो अलगाववाद को प्रोत्साहन नहीं देता।

अणुव्रती के उपयुक्त आदर्शों को जीवनगत करने के साथ व्यक्ति जिस क्षेत्र में काम करता है उसमें भी उसको प्रामाणिक रहना जरूरी है। जैसे—

- अणुव्रती विद्यार्थी परीक्षा में गलत तरीकों से उत्तीर्ण नहीं होगा।
- अणुव्रती शिक्षक अवैध उपायों से किसी छात्र को उत्तीर्ण नहीं करेगा।
- अणुव्रती व्यापारी मिलावट नहीं करेगा। नकली को असली बताकर नहीं बेचेगा।
- अणुव्रती कर्मचारी रिश्वत नहीं लेगा।
- अणुव्रती अधिकारी अपने अधिकार का दुरुपयोग नहीं करेगा।
- अणुव्रती श्रमिक श्रम से जी नहीं चुराएगा।
- अणुव्रती कृषक आश्रित पशुओं के साथ दुर्व्यवहार नहीं करेगा। जमाखोरी नहीं करेगा।
- अणुव्रती विधायक वोटों की खरीद नहीं करेगा।

अणुव्रत कोई अतिवादी कल्पना नहीं है। इसके द्वारा समूचे विश्व को सुधारने

का दम्भ काई भी अणुव्रत का कायकर्ता नही भर सकता। वास्तव मे यह एक दृष्टि है जीवन का दपन है इसे समझ कर जीवन व्यवहार मे लाने वाला व्यक्ति सही अथ मे इसान बन सकता है। इसान अपन वास्तविक अथ म इसान बन, यही छोटा सा लक्ष्य है अणुव्रत का। इसकी गति लक्ष्य के सम्मुख है। आशा और निराशा की दोना अतियो के बीच म रहकर यह मनुष्य को अपने अस्तित्व और करणीय का बोध कराता रहे ताकि वह यत्र मानव की भांति यात्रिक जीवन न जीकर मानवीय मूल्यो को सार्थकता देता रहे।

आस्थाहीनता के आक्रमण का बचाव अणुव्रत

अणुव्रत अपने आप मे एक नया दृष्टिकोण है वैसे इसमे नया जैसा कुछ नही है। फिर भी शाश्वत सत्यो के आधार पर यह एक नयी प्रस्तुति है। यह एक सामयिक आवश्यकता पूर्ति का सामयिक समाधान है। जिस युग मे जिन मूल्यो की विशेष अपेक्षा होती है, उनकी प्रस्थापना का भी एक मूल्य होता है। उस मूल्य को कुछ व्यक्ति उसी समय आक लेते है और कुछ उसका अकन कालान्तर मे करते है। अणुव्रत 'मानव धर्म' के रूप मे लोगो के सामने आया और आज वह इस रूप मे प्रतिष्ठित हो चुका है। इसकी मूल्यवत्ता देश और काल मे अबाधित है। यह अपने उदय काल मे जितना उपयोगी था, आज उससे अधिक उपयोगी है और जब तक मानव-समाज दुर्बलताओ से आक्रान्त रहेगा, इसकी उपयोगिता के आगे कोई प्रश्नचिह्न नही लगेगा। किसी भी राष्ट्र का नागरिक अणुव्रत आचार-सहिता का कवच पहनकर आस्थाहीनता के आक्रमण से अपना बचाव कर सकता है।

अणुव्रत के दो काम हैं—सिद्धान्त रूप मे नैतिक मूल्यो की स्थापना और जीवन-व्यवहार मे उनका प्रयोग। यह बात मैं नि सकोच रूप से कह सकता हू कि अणुव्रत सैद्धान्तिक स्तर पर जितना लोकप्रिय हुआ है, आचरण की दिशा मे यह इतना आगे नही बढ़ सका। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। क्योकि किसी भी सिद्धान्त को सहमति देना बुद्धि का काम है और उसे प्रयोग मे लाना जीवन के बदलाव से सम्बन्धित है। किसी भी अच्छी बात का समर्थन करना कठिन नही होता, कठिन होता है उसका आचरण। अणुव्रत का यह सौभाग्य है कि वह एक दृष्टि से सर्व सम्मत आन्दोलन के रूप मे प्रसिद्ध है। राष्ट्र के हर वर्ग के व्यक्ति ऐसे आन्दोलनो की अपेक्षा अनुभव करते हैं। चिन्तनीय बिन्दु यही है कि वह जन सम्मत होने पर भी जीवन-सम्मत क्यो नही हुआ?

मैं जब कभी इस पक्ष को सामने रखकर सोचता हू, इस प्रश्न के सन्दर्भ मे कोई समाधान खोजता हू, तब मुझे प्रतीति होती है कि सचमुच ही अणुव्रत के आचरण मे कठिनाई है। यह कठिनाई दो प्रकार की है। पहली कठिनाई का सबध व्यक्ति के साथ है और दूसरी कठिनाई बाह्य परिस्थितियो पर निर्भर करती है।

वैयक्तिक दुर्बलताओं और परिस्थितिजन्य विवशताओं के आधार पर कोई निष्कर्ष निकाला जाए तो निम्नांकित बात उभरकर सामने आती है—

१ नैतिक आस्था का अभाव
२ प्रतिरोधात्मक शक्ति के विकास की कमी
३ मानसिक दुर्बलता
४ बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षा
५ अन्तहीन स्पर्द्धा
६ कृत्रिम प्रतिष्ठा की भूख
७ नैतिक वातावरण का अभाव
८ समाज में अर्थहीन मानदण्ड
९ बुराई के प्रति अंगुलि निर्देश करने के साहस की कमी
१० अभाव और अतिभाव
११ कानूनी जटिलताएं

और भी कुछ कारण हो सकते हैं जो व्यक्ति की नैतिकता को डांवाडोल करने में निमित्त बनते हैं, पर मेरे अभिमत से सबसे बड़ा कारण है—नैतिक आस्था का अभाव। सामान्यतः हर व्यक्ति प्रवाहपाती होता है। होगा भी क्यों नहीं? युग ही जब अनुस्रोतगामिता का है तब प्रतिस्रोत में चलने का साहस कौन करेगा? किन्तु यह निश्चित है कि प्रतिस्रोत में चलने की क्षमता अर्जित किये बिना अणुव्रत की जीवन व्यवहार में क्रियान्विति बहुत कठिन है। कठिन है, इसका अर्थ यह नहीं है कि अणुव्रत के समर्थकों और प्रशंसकों में ऐसे व्यक्तियों का अभाव ही है। अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो अणुव्रत की कसौटी पर खरे उतरे हैं। वे व्यक्ति किसी एक ही वर्ग में नहीं हैं। सब वर्गों में ऐसे आदर्श व्यक्ति मिल जाते हैं। व्यापारी वर्ग में ऐसे अणुव्रती हैं, जिनके आदर्शों की उस समाज में एक छाप है और दूसरे लोग उनके उत्तम आचरण का सादर अनुकरण करते हैं। राज्य कर्मचारियों में ऐसे अणुव्रती मिल जाएंगे, जिनकी प्रामाणिकता की दृष्टि से अच्छी प्रतिष्ठा है। कई व्यक्ति तो इतने ऊंचे पदों पर काम करते हैं, यदि वे चाहें तो किसी भी मामले में लाखों का घोटाला कर सकते हैं। किन्तु उनके सामने अणुव्रत का आदर्श है। जो किसी भी क्षण उनका ऐसा करने की बात सोचने ही नहीं देता। ऐसे न्यायाधीश हैं, अधिवक्ता हैं, अध्यापक हैं, विद्यार्थी हैं, श्रमिक हैं, और भी लोग हैं। उनकी स्थिति का अध्ययन करने से मेरा यह विश्वास पुष्ट होता है कि अणुव्रत को व्यवहार्य बनाया जा सकता है। ऐसा कोई कारण नहीं है, जिससे व्यक्ति अपने संकल्प को न निभा सके। पर यह भी निश्चित है, ऐसे व्यक्ति बहुत कम संख्या में हैं। अध्यात्म की दृष्टि से संख्या कोई महत्त्वपूर्ण चीज नहीं है, पर यह तो मानना होगा कि संख्या बल भी एक बल है।

अणुव्रत कार्य को आगे बढ़ाने में दूसरी उल्लेखनीय कमी यह रही कि इसको जीवन्त कार्यकर्त्ता कम मिले। जो मिले वे भी जीवनदानी नहीं मिले। कई कार्यकर्त्ता बहुत निष्ठाशील और सक्रिय हैं, पर पूरा समय न लगा पाने के कारण वे

यथेष्ट परिणाम नहीं ला सके। फिर भी हम निराश नहीं हैं। यहां जो दुर्बलता की चर्चा हुई है, वह संभावना के आधार पर है। मनुष्य के सामने इतनी संभाव्य परिस्थितियां हैं जो उसे उपरांत कर नैतिक पथ से विचलित कर सकती हैं। दुर्बलता मनुष्य का सहज संस्कार है, फिर उसे बाह्य वातावरण का सहारा और मिल जाए तो वह बंदर को बिच्छू काटने वाली बात हो जाती है। बंदर का यह प्रतीक भी कितना यथार्थ है—

मर्कटस्य सुरापानं तत्र वृश्चिकदंशनम्
तत्रापि भूतसंचारः यद् वा तद् वा भविष्यति॥

—पहले तो बंदर मदिरापान कर ले फिर उसे बिच्छू काट दे और उसके बाद भूत का उपद्रव हो जाए। फिर तो जो होना है वही होगा, उसे कोई टाल नहीं सकेगा। इसी प्रकार दुर्बल मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों को सामाजिक विवशताएं और संवैधानिक जटिलताएं अपनी आस्था से डिगा दें तो कोई आश्चर्य नहीं है।

अणुव्रत के काम में हमारे साधु साध्वियां सक्रिय हैं ही, सामाजिक कार्यकर्ताओं के आगे आने की अपेक्षा है। जो भी काम करेंगे, उन्हें अपना उत्सर्ग तो करना ही होगा। समयदानी कार्यकर्ता निरंतर नियमित रूप से अपना समय लगाएं। जीवनदानी कार्यकर्ता अन्य सब प्रवृत्तियों को गौण कर अपना पूरा जीवन अणुव्रत काम के लिए समर्पित करें और जो व्यक्ति न समय दे सकते हैं न जीवन दे सकते हैं, वे ऐसे कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित करें। प्रोत्साहन भी किसी कार्य की निष्पत्ति में एक महत्त्वपूर्ण अंग है। बौद्धिक व्यक्ति अपनी चिंतन क्षमता का उपयोग इस दिशा में कर सकते हैं और साहित्यकार मौलिक साहित्य का सृजन कर अणुव्रत को जन जीवन तक पहुंचा सकते हैं। कुल मिलाकर अपेक्षा इस बात की है कि अणुव्रत में निष्ठाशील व्यक्ति इसके आचरण और प्रचार दोनों पक्षों को मजबूत बनाने के लिए संकल्पबद्ध हों।

अणुव्रत का काम अब तक कम हुआ हो या अधिक, पर यह तो निश्चित है कि किसी भी परिस्थिति में इसको गौण नहीं किया जा सकता। आज देश में जैसे हालात निर्मित हो गए हैं, राष्ट्र का नेतृत्व कम जिस रूप से सामने आया है, उसकी महत्त्वाकांक्षाओं का प्रदर्शन जिस स्तर पर हो रहा है, सांस्कृतिक मूल्यों के आगे एक प्रश्न चिह्न उपस्थित हो गया है। दल बदल की अस्थिर राजनीति किसका हित सम्पादित कर सकेगी? जनता का या विधायकों का? मंत्रियों और विधायकों की तोड़जोड़ की नीति किस सरकार को स्थायित्व दे सकेगी? गांधीजी ने सत्य और अहिंसा के जिन आदर्शों पर चलने का आह्वान किया था क्या आज वे आदर्श आंखों से ओझल नहीं हो गए हैं? आज राष्ट्र के किसी भी अधिकृत और प्रतिष्ठित व्यक्ति के चरित्र हनन की जो छिछली वृत्ति पनप रही है क्या वह

किसी भी व्यक्ति को अक्षत रहने देगी ? चुनाव संबंधी भ्रष्टाचार से शासन पद्धति में जो विकृतियां आई हैं क्या वे कभी समाप्त हो सकेंगी ? आज केन्द्र में सरकार बनाने के लिए जो माहौल बना हुआ है, उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अब अणुव्रत पर अधिक बल देना होगा।

अणुव्रत कार्य को व्यापक और प्रभावी बनाने के लिए सामूहिक प्रयत्न का लक्ष्य सामने होने पर भी इसकी मूलभूत भित्ति को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकेगा। अणुव्रत का मूल आधार है—व्यक्ति सुधार। क्रान्ति और समग्र क्रान्ति के बुलन्द नारों में व्यक्ति सुधार के घोष को अस्तित्वहीन नहीं बना देना है। देश में उपस्थित किसी भी परिस्थिति से निपटने के लिए व्यक्ति व्यक्ति को आत्म सुधार की दिशा में गति करनी होगी। अणुव्रत यही तो कहता है—

सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से, उसका असर राष्ट्र पर हो।
जाग उठे जन जन का मानस, ऐसी जागृति घर घर हो॥

समाज और राष्ट्र सुधार का मूल व्यक्ति-सुधार है। हम अणुव्रत के द्वारा व्यक्ति व्यक्ति की चेतना को झंकृत करना है। अणुव्रत अधिवेशन के मंगल अवसर पर सभी अणुव्रती और अणुव्रतानुरागी भाई बहन इस बात का संकल्प करें कि वे अग्रिम अधिवेशन तक एक एक व्यक्ति को अणुव्रत के आदर्शों की ऊंचाई तक पहुंचाने का प्रयास करेंगे।

चरित्र सही तो सब कुछ सही

भारतीय संस्कृति में मोक्ष की निश्चित अवधारणा है। इस संस्कृति में आस्था रखने वाला व्यक्ति अपने मन में मुक्त होने की घनीभूत इच्छा रखता है। इसी इच्छा से प्रेरित होकर वह अपने इष्ट से याचना करता है—

असतो मा सत् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्यो मा अमृत गमय

—मुझे असत् से सत की ओर ले चलो, अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।' तीनों ही मार्ग बहुत सुंदर हैं। सत, प्रकाश और अमरत्व प्राप्त होने के बाद मनुष्य को चाहिए ही क्या? मैं इन वाक्यों को थोड़ा बदलना चाहता हूं, याचना के स्थान पर पुरुषार्थ को जोड़ना चाहता हूं। पुरुषार्थ में विश्वास रखने वाले व्यक्ति की भाषा होगी—मैं असत से सत की ओर जाऊं, मैं अंधकार से प्रकाश की ओर जाऊं, मैं मृत्यु से अमरत्व की ओर जाऊं। इसमें व्यक्ति का अपना कर्तव्य उजागर होता है। आस्था प्रधान संस्कृति में याचना की बात अस्वाभाविक नहीं है, फिर भी इसमें पुरुषार्थहीनता नहीं होनी चाहिए। पुरुषार्थी व्यक्ति अपने इष्ट का सम्बल या आलम्बन प्राप्त कर सकता है। उसका संकल्प होता है—

अमग्गं परियाणामि मग्गं उवसंपज्जामि
अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि
मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि

—मैं अमार्ग को छोड़ता हूं और मार्ग को स्वीकार करता हूं। मैं अज्ञान को छोड़ता हूं और ज्ञान को स्वीकार करता हूं। मैं मिथ्यात्व को छोड़ता हूं और सम्यक्त्व को आस्वीकार करता हूं।' इस प्रकार सोचने वाला व्यक्ति ईश्वर के प्रति आस्थाशील रहता हुआ भी लक्ष्य प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ का उपयोग करेगा। यदि हम बच्चों के अपरिपक्व मस्तिष्क में प्रारम्भ से ही ऐसे संस्कार भरेंगे तो उनके अवचेतन मन में निरन्तर पुरुषार्थ की लौ प्रज्वलित होती रहेगी। पुरुषार्थ के

अभाव में किसी भी प्रकार की शिक्षा व्यक्तित्व निर्माण में सहायक नहीं हो सकती।

शिक्षा पाने का अधिकारी कौन हो सकता है? इस जिज्ञासा के समाधान में आप्त पुरुषों ने कहा है—

विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणीयस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं सिक्खं से अभिगच्छइ॥

—अविनीत को विपत्ति और सुविनीत को सम्पत्ति मिलती है—ये दोनों जिसे ज्ञात है वही शिक्षा को प्राप्त होता है। शिक्षा का उद्देश्य है—जीवन की विसंगतियों को दूर करना। इस उद्देश्य की पूर्ति उसी शिक्षा से हो सकती है, जो स्वयं विसंगतियों से दूर हो। जिस शिक्षा प्रणाली में मूलतः ही विसंगति हो, उससे विकास की संभावना कैसे की जा सकती है?

मेरे अभिमत में शिक्षा का पहला उद्देश्य होना चाहिए भीतरी चेतना का जागरण। आज शिक्षा के द्वारा बुद्धि को जगाया जा रहा है, मन को जगाया जा रहा है, पर चेतना जागरण की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। समस्या का मूल यही है। हमें इसी बिन्दु पर गम्भीरता से विचार करना है।

मनुष्य की आन्तरिक चेतना को जगाने के लिए बौद्धिक विकास के साथ चारित्रिक विकास की ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। चरित्र व्यक्ति का भी होता है, समाज का भी होता है और राष्ट्र का भी। वैयक्तिक चरित्र का प्रभाव राष्ट्र पर होता है इसी प्रकार राष्ट्रीय चरित्र से व्यक्ति प्रभावित होता है। जिस राष्ट्र का कोई चरित्र नहीं होता, उसके नागरिक चरित्रसम्पन्न कैसे होंगे?

चरित्र को प्रतिष्ठित करने में अणुव्रत ने अहम भूमिका निभाई है। अणुव्रत एक आचार संहिता का नाम है। यह लोक जीवन में व्याप्त मानवीय दुर्बलताओं को परिष्कृत कर स्वस्थ जीवन जीने की दिशा देता है। कुछ लोग पूछते हैं कि विगत सैंतीस वर्षों में अणुव्रत ने क्या किया? अणुव्रत को जो काम करना था उसने वही काम किया। उसने देश में एक नयी विचारधारा का प्रवाह बहाया, उपासना में उलझे हुए मनुष्य से चरित्र की पहचान करवाई और एक सार्वभौम धर्म या मानव धर्म को उजागर किया।

अणुव्रत ने जाति, प्रान्त, भाषा, धर्म, रंग और लिंग आदि भेदजनक सीमाओं में सिमटे हुए धर्म को विस्तार के लिए व्यापक धरातल दिया। उसने धर्म के नाम पर पलने वाली स्वार्थसिद्धि पर प्रहार किया और परमार्थ तत्त्व को खोजने का दृष्टिकोण दिया।

अणुव्रत ने धर्म की प्रासंगिकता को त्रैकालिक प्रमाणित करते हुए उसे असाम्प्रदायिक या चरित्रप्रधान धर्म के रूप में विकसित होने का अवसर दिया।

किसी भी सम्प्रदाय में रहता हुआ व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। किसी भी

जाति या भाषा से जुड़ा हुआ व्यक्ति अणुव्रतों की साधना कर सकता है। किसी भी रूप म परमात्मा को मानने वाला व्यक्ति अणुव्रत का आचरण कर सकता है और परमात्मा की सत्ता मे विश्वास करने वाला व्यक्ति भी अणुव्रती बनने का गौरव अर्जित कर सकता है।

अणुव्रत ने सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता, असाम्प्रदायिकता आदि सार्वभौम तत्वों की धारा बहायी, युग चेतना को झकझोरा, हजारों हजारों व्यक्तियों को उस धारा म बहने के लिए आमन्त्रित किया और वह देश की सीमाओं को पार कर विदेशो मे पहुच गया।

सीमाओ का विस्तार होने के साथ ही अणुव्रती कार्यकताओं को अपने कार्यक्षेत्र को विस्तार देने की जरूरत थी। किन्तु व लोग प्रारभ को ही इतिश्री मानकर बैठ गए। यह एक बडी भूल हुई है। अब इस भूल को दूर करना होगा, इस ओर गहरा ध्यान देना होगा। गणित मे हर शून्य का मूल्य है पर तभी जब उनके साथ अक जुडा हो। अक के अभाव में शून्य की लम्बी शृखला का भी कोई अर्थ नही होता।

राष्ट्रीय चेतना क विकास हेतु जितने प्रयत्न आज हो रह हैं उनकी पृष्ठभूमि म चरित्र का बल हो तो सब काम अच्छे ढग से आगे बढ सकते है। चरित्र को गौण करके कितना ही विकास कर लिया जाए समस्या ज्यो की त्यो खडी रहेगी। शिक्षा के क्षेत्र मे उभरने वाली समस्या का कारण भी चरित्रहीनता है। आज देश म नयी शिक्षा नीति को लेकर तीव्रता से चर्चा हो रही है। शिक्षा नीति मे किन तत्वो का समावेश जरूरी है, इस सन्दभ मे शिक्षाशास्त्री अपनी-अपनी अनुशसाए प्रस्तुत कर रहे हैं। उन अनुशसाओ मे चरित्रबल को पुष्ट करने या आन्तरिक व्यक्तित्व का निर्माण करने का लक्ष्य मुख्य रहेगा, तभी शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य—भीतरी चेतना का जागरण, सार्थक हो सकता है। क्योकि मनुष्य का चारित्र सही है तो सब कुछ सही है। चरित्र खो जाएगा तो सब कुछ खो जाएगा। अणुव्रत आन्दोलन शिक्षा मे चरित्र के समावेश की अनुशसा पर पहले भी सजग था, आज भी सजग है।

अनेक बुराइयों की जड़ : मद्यपान

जीवन में बुराई के प्रवेश का कोई निश्चित क्रम या रास्ता नहीं है। वह किसी भी दिशा से आती है और बिना ही दस्तक दिए चुपचाप अन्दर घुस जाती है। वह घुसती है तो इस अन्दाज में कि वहां से लौटने का नाम ही नहीं लेती। बुराई का भी अपना परिवार है। जब वह किसी नये घर में जाती है तो वहां के परिवेश में अपनी प्रभुसत्ता का अनुभव कर परिवार के अन्य सदस्यों को भी आमन्त्रित कर लेती है। एक एक कर अनेक बुराइयों का समवाय खड़ा हो जाता है। जीवन का हर मोर्चा एक एक बुराई संभाल लेती है फिर वहां अच्छाई को टिकने के लिए स्थान ही नहीं मिलता। दो पांव रखने के लिए भी स्थान नहीं बचता है तो अच्छाइयां वहां से विदा हो जाती हैं। फिर शेष रहती है बुराइयों की अखण्ड प्रभुसत्ता, जो आदमी पर शासन करती है। वह उसका सुख शान्ति और आनन्द सब कुछ छीन लेती है। आदमी निष्क्रिय होकर देखता रहता है, पर एक भी बुराई का प्रतिकार नहीं कर सकता।

मद्यपान भी एक ऐसी ही बुराई है, जिसकी उपस्थिति में अन्य अनेक बुराइयां मनुष्य पर हावी हो जाती हैं। कुछ बुराइयां आधुनिक युग की उपज हैं किन्तु यह मद्यपान की बुराई बहुत प्राचीन है। कुछ लोग तो इसे उपनिषद् और वेदकाल तक ले जाते हैं और सोमरस के पान रूप में एक सांस्कृतिक परंपरा की प्रस्थापना करते हैं। जैन आगमों में मानव मन को विकृत करने वाले अनेक पदार्थों में एक नाम मद्य का भी है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि आगम युग में जैन लोगों के लिए मद्य मांस का परिहार जरूरी था।

उपनिषद् और वेदकाल में सोमरस पान की परंपरा का स्वरूप स्वस्थ रहा होगा, पर महाभारत काल तक आते आते तो यह एक प्रलयकारी बुराई के रूप में सामने आ गई। यादव कुल के विनाश की दर्दनाक कहानी इसी के साथ जुड़ी हुई है। अपने समय का प्रसिद्ध, तेजस्वी और यशस्वी वंश एक दारू के कारण धराशायी हो गया, फिर किसी अन्य व्यक्ति की तो औकात ही क्या है जो वह इसके सामने खड़ा रह सके।

किसी गाव के ठाकुर अपने बचपन के मित्र से मिलने गए। मित्र बीमार था। उसने कई उपचार करवाए पर स्वस्थ नही हुआ। मित्र ने ठाकुर के सामने अधीरता दिखाई तो ठाकुर विनोदी मूड मे आकर बोले—'अब तुम दारू पीना शुरू कर दो।' मित्र एक क्षण के लिए सहमा फिर बोला—'यदि दारू पीने पर भी बीमारी नही गई तो?' ठाकुर ने उसकी जिज्ञासा को समाहित करते हुए कहा—'तुम निश्चिन्त रहो। देखो, दारू पीने से मेरी सम्पत्ति, जमीन जायदाद और ठकुराई सब कुछ चली गई, फिर तुम्हारी बीमारी म ऐसी क्या बात है, जो वह नही जाएगी।'

किसी ठाकुर न अपने मित्र को ऐसा परामर्श दिया हो, मैं नही मानता। फिर भी यह छोटा सा व्यग्य इस यथाथ को तो उजागर करता ही है कि दारु के कारण व्यक्ति अपना सब कुछ खो देता है। धन वैभव तो छोटी बात है, व्यक्ति की मान मर्यादा और जीवन का भी यह छोटी सी चीज चौपट कर देती है। एक शायर न कितना सच कहा है—

'अच्छा हुआ अगूर के बेटा न हुआ।
बेटी ने भी उठा रखी है दुनिया सर पे॥'

अगूर की बेटी शराब ने कहा कहर नही ढहाया? इस दुनिया मे शराब नही होती तो शायद इसका रूप कुछ दूसरा ही होता।

यूनान के तत्त्ववेत्ता डायोजनीज किसी पार्टी म आमन्त्रित होकर गए। वहा एक अमीर आदमी ने उनको बढिया विदेशी शराब की बोतल उपहार म दी। डायोजनीज ने बोतल हाथ म ली, उसे खोली और बाहर जाकर मिट्टी मे उलट दी। पार्टी मे उपस्थित सब लोगो न उनको ऐसा करते हुए देखा। उन्हे आश्चय तो हुआ, पर उनम से कोई बोला नही। वह अमीर आदमी मौन नही रह सका। उसन कहा—'आपने यह क्या किया? इतनी बढिया शराब को मिट्टी मे मिला दिया?' डायोजनीज गभीर होकर बोले—'महाशय! यदि मैं इस मिट्टी मे नही मिलाता तो यह मेरी इज्जत को मिट्टी मे मिला देती।' जिन लोगो पर शराब हावी हो जाती है उनकी स्थिति का यह कितना यथाथ चित्रण है।

शराब स स्वास्थ्य, मन मस्तिष्क और इज्जत सब पर दुष्प्रभाव पडता है, फिर भी व्यक्ति बडे चाव से शराब पीता है। आखिर वह ऐसी नादानी क्यो करता है? इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो भारतीय परिवेश म शराब पीने के प्रमुख कारण हैं—विलासिता, सोसाइटी, कुसगति और अज्ञान। विलासिता की वृत्ति उनमे पनपती है, जो पूरी तरह रईसी मे जीते है। उनका अभिमत है कि जीवन मे मस्ती लाने के लिए मादक पदाथ का सेवन जरूरी है। माना कि मस्ती जीवन के लिए आवश्यक तत्त्व है, पर ऐसी मस्ती किस काम की जिसका दामन बरबादी से बधा हुआ है।

गांजा, सुल्फा, चरस, हीरोइन, शराब आदि मादक पदार्थों के सेवन से बाहर से मस्ती का अनुभव होता होगा, पर भीतर से चेतना खोखली हो जाती है। जो व्यक्ति इन चीजों का निरन्तर सेवन करते हैं, उनकी जीवनी शक्ति क्षीण होती है, स्नायविक दुर्बलता बढ़ती है, उनके गुणसूत्र और जीवन पर दुष्प्रभाव पड़ता है, चिन्तन की क्षमता घटती है, विवेक की शक्ति कमजोर होती है, अपराधी मनोवृत्ति जन्म लेती है और भावी पीढ़ी के निर्माण में बाधा उपस्थित हो जाती है। यह पदार्थ सापेक्ष मस्ती घातक होने के साथ-साथ अस्थायी भी होती है। निश्चित समय पर उन वस्तुओं की प्राप्ति न हो सके तो शरीर में इतनी जड़ता व्याप जाती है कि उठना-बैठना भी मुश्किल हो जाता है।

जिन देशों का भौगोलिक वातावरण बहुत नम रहता है, जहां सर्दी अधिक होती है वहां के नागरिक गर्मी पाने के लिए शराब का उपयोग करते होंगे अथवा उनकी सांस्कृतिक समझ में ऐसी वर्जना नहीं होगी। किन्तु जो देश मूलतः ही गर्म है जिसकी सांस्कृतिक मर्यादा शराब जैसे तत्त्व को स्वीकार नहीं करती, उस देश में इसकी क्या जरूरत है? क्या हर बात में पश्चिम का अन्धानुकरण करके ही भारत महान् बनना चाहता है? विलासिता की देन पश्चिम की यह भौंडी नकल देश को कहां ले जाएगी? इस बिन्दु पर विचार करने की जरूरत है।

कुछ लोग विलासी मनोवृत्ति वाले तो नहीं होते, पर वे सोसाइटी के नाम पर उचित-अनुचित कुछ भी करने के लिए तैयार रहते हैं। उनकी सोच का बिन्दु इतना छोटा है कि कोई उन्हें बैकवर्ड न समझ ले या सामने वाला अपमान महसूस न कर ले। इतनी तुच्छ बात के लिए अपने संस्कारों को छोड़ना बुद्धिमानी नहीं है, पर मध्यम वर्गीय परिवारों के युवा प्रायः इसी मानसिकता में जीते हैं। जो लोग सोसाइटी में बैठकर भी शराब आदि मादक वस्तुओं को काम में नहीं लेते, वे अपनी दृढ़ता की छाप तो छोड़ते ही हैं, अनेक बुराइयों से बच जाते हैं।

तीसरी श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं, जो गलत संपर्क के कारण गलत आदतों के शिकार हो जाते हैं। महाविद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थी गलत तत्त्वों की संगति कर शिक्षा और आचरण दोनों पक्षों को दुर्बल बना लेते हैं। काले व्यक्ति के पास बैठने वाला गोरा व्यक्ति काले व्यक्ति का रंग तो नहीं लेता है, पर उसकी अच्छाइयों और बुराइयों को लिये बिना नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में गलत लोगों के संपर्क से ही बचने का लक्ष्य रहना चाहिए।

मद्यपान का एक कारण है अज्ञान। अज्ञानी व्यक्ति को अपने हित-अहित का बोध नहीं होता। वह प्रायः गतानुगतिक होता है। दिन भर कारखाने में कठोर परिश्रम करने वाला श्रमिक कारखाने से बाहर निकलकर सिनेमाघरों और शराब के ठेकों पर एकत्रित भीड़ को देख उसी में खो जाता है। दिन भर की कमाई शराब और सिनेमा में चौपट कर जब वह खाली हाथ अपने घर लौटता है

तो उसकी क्या स्थिति बनती है ?

कोई व्यक्ति शराब पीना शुरू करता है उसकी स्थिति यह होती है कि प्रारभ म तो वह शराब पीता है, कालान्तर म शराब उसे पीने लगती है। फिर तो चाहने पर भी व्यक्ति उसकी गिरफ्त से मुक्त नही हो पाता। सामान्यत शराब के त्याग से छुटकारा पाने के दो रास्ते हैं—कानून और हृदय परिवर्तन। कानून से ऐसे काम म सफलता मिलती है इस सिद्धान्त म हमारा पूरा विश्वास नही है। फिर भी उस पर नियत्रण तो होना है। कि तु सरकार कानून इसीलिए नही बनाती है कि इसस उसे आर्थिक लाभ होता है। इसका मतलब यह हुआ कि सरकार जनता के हितो को नही, अर्थ को महत्त्व देती है। अपराधो की जड को मजबूत करके प्राप्त होने वाले आर्थिक लाभ का भी कोई मूल्य है क्या ? अपराध चेतना राष्ट्र का सबसे बडा दुश्मन है। कहा जाता है कि हिन्दुस्तान का समूचा बजट जितना नही है, उतना बजट अमेरिका म केवल अपराध नियन्त्रण के लिए है।

माना कि शराब की बिक्री से सरकार का आर्थिक लाभ है, पर इस लाभ का तरीका कितना गलत है। उस युग म भगवान महावीर और इस युग म महात्मा गाधी ने साधना शुद्धि का जो सिद्धान्त निरूपित किया, उस पर अमल नही हुआ जब तक इस सिद्धान्त को अर्थनीति का आधार नही बनाया जाएगा, आर्थिक भ्रष्टाचार का अन्त नही हो सकेगा।

जहा तक हृदय परिवर्तन की बात है वह भी केवल उपदेश से नही हो सकेगा। उसके लिए कुछ प्रयोग आवश्यक है। ध्यान, कायोत्सर्ग अनुप्रेक्षा आदि के अभ्यास स कषायो के भाव बदलकर किसी भी बुराई का नियन्त्रण किया जा सकता है।

एक मर्मान्तक पीड़ा दहेज

मनुष्य की अवधारणाएं संक्रमणशील होती हैं। होनी भी चाहिए। अन्यथा वैचारिक जड़ता मानवीय संवेदनशीलता को समाप्त कर देती है। अवधारणाओं के बदलाव से सामाजिक परिवेश में भी परिवर्तन आता है। इससे मनुष्य की क्रियाएं बदलती हैं, प्रतिक्रियाएं बदलती हैं, मूल्यमानक बदलते हैं और जीवन पद्धति भी बदल जाती है। परपराएं और अवधारणाएं बनती बिगड़ती रहती हैं। एक युग में जो परपरा प्यार या उपहार का प्रतीक होती है वही किसी युग में भार बन जाती है। उस भार को आदमी ढोता रहे या झटककर दूर कर दे, यह उसके विवेक पर निर्भर है।

दहेज का प्रश्न आज इसी परिप्रेक्ष्य में समालोच्य है। प्रश्न एक है पर उसकी व्यञ्जनाएं अनेक हैं। इस प्रश्न को किसी दूसरे के संदर्भ में खोलने की अपेक्षा अपने साथ वार्तालाप का दस्तावेज बनाया जाए तो अधिक उचित होगा।

अपने माता पिता की लाडली संतान, फिर चाहे वह पुत्र हो या पुत्री मां-बाप के जिगर का अंश होती है। संतान का सुख दुःख माता पिता का सुख दुःख बन जाता है। ऐसी स्थिति में पुत्र और पुत्री के लालन पालन में विशेष अन्तर नहीं रहना चाहिए। मातृत्व की ममता ऐसी विलक्षण चीज है कि वह बीमार, पंगु, पागल या अक्षम संतति को भी अपना स्नेह और वात्सल्य देने में कमी नहीं रखती। फिर सवगुण संपन्न सुशीला कन्या के रख रखाव में अंतर आएगा ही क्या ?

आधुनिक जीवन शैली से जीने वाले लोग स्त्री और पुरुष के मौलिक अधिकारों में कोई अन्तर नहीं देखते। फिर भी भारतीय परिवेश में कन्या का जन्म काफी विवादास्पद बना हुआ है। पुत्र के जन्म पर थाली बजाई जाती है और पुत्री के जन्म पर छाज पीटा जाता है, क्यों ? क्या लड़की के रूप में जन्म लेना ही अपराध है ? अन्यथा जन्म के प्राथमिक क्षणों में ऐसी विषमता को बढ़ावा क्यों दिया जाता है ?

इस समस्या पर विचार करने वालों ने इसका एक कारण खोजा है 'दहेज'।

दहज का शाब्दिक अथ है—जो हेज (प्रेम) से दिया जाए वह दहेज है। एक समय एसा था जब दहेज दन वाले भी खुश होत थ और लेन वाले भी। द्रष्टा और श्रोता भी उस खुशी म हिस्सा बटात थे। क्योंकि उस समय दहेज के लिए न कोई माग होती थी, न ठहराव। न वह प्रतिष्ठा का प्रश्न था और न ही होती थी उस पर किसी प्रकार की टीका टिप्पणी। इसलिए वह किसी भी परिवार के लिए खुशियो का उपहार बन जाता था।

जब से दहेज के साथ आकाक्षा की विकृति जुडी, उसका दिनोदिन अवमूल्यन होता गया। दहज की खुली माग, ठहराव, माग पूरी करने की बाध्यता, प्राप्त दहज का प्रदशन और टीका टिप्पणी। इससे आग बढकर देखा जाए तो नवोढा के मन को व्यग्य-बाणो से छलनी बना देना, उसके पितपक्ष पर टोट कसना, बात-बात मे उसका अपमान करना आदि क्या किसी शिष्ट और सयत मानसिकता की उपज है ? दहेज की इस यात्रा का अन्त इसी बिन्दु पर नही होता है। अगली यात्रा म अनक प्रकार की शारीरिक और मानसिक यातनाए, बात-बेबात, मार-पीट, घर स निकाल देना और जिन्दा जला देना, क्या एक नारी की नियति यही है ?

दहेज की विकृति को देखकर, इसकी दुष्परिणति को भोगकर भी लोगो की आखें नही खुली हैं। परपरा की इस सडी-गली लाश का बोझ अब भी वे अपने कधो पर ■ रह हैं। धन की यह दासता सामन्ती मनोवृत्ति की देन हो सकती है, पर जब दश म सामन्तवाद की जडें उखड जाए फिर भी उस मनोवत्ति को पोषित करना कहा की समझदारी है ? कुछ समझ मे ही नही आता।

भारत मे सन् 1961 से दहज विरोधी अधिनियम लागू है। पचीस वष की इस अवधि मे कानून का कुछ तो प्रभाव होना चाहिए था, किन्तु विकृति घटने के स्थान पर कुछ अधिक ही बढी है। न्यायपालिका और विधायिका दोनो ही इस बात के लिए कटिबद्ध हैं कि दहेज जैसी सामाजिक बुराई समाप्त हो या इस पर अकुश लगे। कुछ सस्थाए भी इस दृष्टि से कायरत हैं। धमगुरु अपने ढग से काम कर रहे हैं। किन्तु दहेज की वेदी पर चढने वाली बलि बन्द नही हो सकी।

इस युग की महिलाओ मे शिक्षा और बौद्धिकता बढी है। वे अपना भला-बुरा भी सोचने लगी हैं। दहेजजनित परिस्थितियों को लेकर उनके मन मे रोष भी है, पर आर्थिक सुरक्षा के अभाव म वे किसी प्रकार का प्रतिकार नही कर सकती। इसीलिए उनको परिवार की क्रूरता एव अन्याय को विवश होकर सहना पडता है। कुछ महिलाओ का परिवेश तो इतना बीभत्स है कि उनकी जिन्दगी पीडा की एक दास्तान गढती हुई आगे बढ रही है।

एक दृष्टि से देखा जाए तो 'दहेज' समूची मानव जाति के लिए अमगल की

राद् है। यह किसी व्यक्ति, परिवार या समाज की नहीं, पूरे राष्ट्र की समस्या है। आश्चर्य इस बात का है कि इस समस्या को बढ़ाने में पुरुषों का जितना हाथ है महिलाओं का उससे भी अधिक है। दहेज के कारण अपनी बेटी की दुर्दशा को देखकर भी एक मां पुत्र की शादी के अवसर पर दहेज लेने के लोभ का संवरण नहीं कर सकती। अपनी बेटी की व्यथा से व्यथित होकर भी वह बहू की व्यथा का अनुभव नहीं करती। यह स्थिति जब तक रहेगी, समाज और सरकार कोई कारगर प्रयत्न कर सकेगी संभव नहीं लगता।

दहेज की ज्वलंत समस्या को समाहित करने के लिए जन-आंदोलन को तीव्र करने की जरूरत है। जिस दिन जन-जन का मन इस स्थिति से आंदोलित होगा प्रकम्पित होगा तभी इस जानलेवा रूढ़ परम्परा में सुधार हो सकेगा। इसमें कन्याओं और युवकों को अपना शक्ति परीक्षण करना चाहिए। शादी के प्रसंग में जहां कहीं दहेज के ठहराव और प्रदर्शन की बात उठे, वे प्रतीकारात्मक अहिंसा का उपयोग करें। वैसी शादी का बहिष्कार करें और आवश्यकता होने पर जीवनभर अविवाहित रहने का संकल्प करें। यह संकल्प भी प्रदर्शन न हो इसके लिए स्वस्थ मानसिकता का निर्माण करना अपेक्षित है।

अपनी पीढ़ी की तेजस्विता और यशस्विता के अगुआ बनकर एक साथ सैकड़ों हजारों युवक-युवतियां जिस दिन बुलन्दी के साथ इस आवाज को उठाएंगी, दहेज की परम्परा चरमराकर टूट पड़ेगी। दहेज किसे माना जाए? यह भी एक विवादास्पद प्रश्न है। इसके बारे में लोगों की अलग अलग अवधारणाएं हैं। उन सब अवधारणाओं के एकीकरण में समय न लगाकर इस बात पर काफी लोग एक मत हो जाएं कि लड़के और लड़की के सम्बन्ध का आधार दहेज न बने, दहेज पाने के लिए किसी प्रकार की डाइरेक्ट या इनडाइरेक्ट मांग न हो पिता अपनी पुत्री को प्रेम से जो कुछ देता है, उसका प्रदर्शन न हो और क्या लिया क्या नहीं दिया इस विषय में किसी प्रकार की आलोचना न हो तो दहेज के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण कम हो सकता है। इसके साथ साथ जहां कहीं जब कभी दहेज को लेकर कोई अवांछनीय घटना घटित हो उस पर अंगुलि निर्देश हो, उसकी सामूहिक भर्त्सना हो तथा अहिंसात्मक तरीके से उसका प्रतिकार हो तथा इस प्रसंग को परस्मैपद की भाषा न देकर आत्मनेपद की भाषा में पढ़ा जाए तभी इस मर्मान्तक पीड़ा से छुटकारा पाने की संभावना की जा सकती है।

व्यवसाय-जगत की बीमारी मिलावट

व्यवसाय जगत की एक बडी बीमारी है— मिलावट । पता नही यह दूसरे देशो मे है या नही और है तो उसका स्वरूप क्या है ? भारतीय व्यापारी के लिए वह साधारण बात है । मिलावट का अथ है—मिश्रण । जिस वस्तु के मिश्रण मे कोई रसायन पैदा हो, वस्तु की गुणात्मकता बढे ता मिश्रण करा का फायदा है । आयुर्वेद मे अनेक औषधिया अनेक वस्तुओ के मिश्रण स तयार होती है । इससे उनकी रोग शमन की क्षमता बढती है । ऐसी मिलावट अवाछनीय नही हाती ।

जिस वस्तु के मिश्रण से मूल वस्तु का स्वरूप विकृत हो जाए उसकी गुणात्मक शक्ति कम हो जाए, ऐसी मिलावट करन का भी कोई अथ है, समझ म नही आता । सभवत मिलावट की मनोवृत्ति के पीछ आर्थिक लाभ का दृष्टिकोण ही प्रमुख रहता होगा । किसी भी व्यक्ति की मानसिकता जब अथ प्रधान हा जाती है तब वह उचित अनुचित का विवेक किए बिना अपन ही भाइयो की जान मे खेलन लगता है ।

मिलावट के कारण समाज और राष्ट्र का कितना अहित हाता है ? इस प्रश्न पर गभीरता मे साचे बिना जा लोग ऐसा जघन्य काम करत है वे सामाजिक, राष्ट्रीय और सास्कृतिक मूल्यो की हत्या करते है । मिलावट करने वाले लाग समाज और राष्ट्र के ता अपराधी है ही, यदि वे ईश्वरवादी है ता भगवान के भी अपराधी हैं ।

मिलावट एक ऐसा अपराध है, जिसे कभी बख्सा नही जा सकता । क्योकि इससे नतिक और आध्यात्मिक बल का पतन हाता है । जिस समाज या राष्ट्र का नतिक बल क्षीण हो जाना है वह कभी सर्वांगीण विकास नही कर सकता । यदि व्यक्ति क मन म धम या चरित्र के प्रति थोडी भी आस्था है, वह जीवन के शाश्वत मूल्यो की उपक्षा नही कर सकता । मिलावट एक ऐसी छनी है, जो आदश की प्रतिमा को खड खड कर खडहर म बदल दती ह । आश्चय इस बात का है कि भारतीय लोग अपने दश म उपजी इस मानसिकता से केवल यही पर लाभ नही उठाते वे इसका निर्यात करन स भी नही चूकते ।

एक बार भारत का कोई ग्वाला जापान गया। वहां वह एक ग्वाले का मेहमान बना। मेजबान ग्वाले की लड़की उस दिन कुछ उदास थी। खिल हुए फूल की तरह मुस्कराते चेहरे पर उदासी की छाया देखकर आगन्तुक ग्वाले ने पूछ लिया—बिटिया! उदास क्यों बैठी हो? लड़की कुछ अधिक ही अनमनी होकर बोली—मैं दूध बेचने का काम करती हूं। मेरे ग्राहक बंधे हुए हैं। वे प्रतिदिन मुझसे ही दूध लेते हैं। आज मेरे पास दूध कम है। मुझे चिन्ता हो रही है कि मैं अपने सब ग्राहकों की अपेक्षा को पूरा कैसे करूंगी? आगन्तुक ग्वाला बेझिझक बोला—इसमें चिन्ता की कौन सी बात है? मेरे सामने तो ऐसी समस्या आती ही रहती है पर इसे सुलझाने का सीधा-सा उपाय है। लड़की ने उत्सुकता से पूछा। ग्वाला बोला—बिटिया! जितना दूध कम है आज दूध में उतना पानी मिला दो। लड़की को ऐसी बात सुनने की कल्पना ही नहीं थी। वह भभक उठी। अपने मन का आक्रोश बाहर निकालती हुई वह बोली— अरे अक्ल! तुम इंसान हो या हैवान? अपने स्वार्थ के लिए राष्ट्र की जनता के साथ खिलवाड़ करते तुम्हें संकोच नहीं होता। इससे जनता के स्वास्थ्य पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता।'

छोटी सी लड़की के मुंह से इतनी बड़ी बात सुनकर ग्वाला हतप्रभ रह गया। वह कुछ बात उससे पहले ही लड़की अपने पिता के पास जाकर बोली—डैडी! आज आपने किस आदमी को घर में बुलाया है। वह मुझे कहता है कि मैं दूध में पानी मिलाकर बेच दूं। पिता ने लड़की को समझाया और आगन्तुक ग्वाले को वहां से विदा किया।

जिस देश के लोग धार्मिकता का दंभ नहीं भरते वहां ऐसी स्थिति होती तो वह क्षम्य हो जाती। क्योंकि उनके पास कोई आध्यात्मिक दर्शन नहीं होता कोई उन्हें रास्ता दिखाने वाला नहीं होता। किन्तु यह स्थिति है महावीर बुद्ध और गांधी के देश में जिस देश में सारे संसार को चरित्र की शिक्षा मिलती थी। भारत की माटी के कण कण में महापुरुषों के उपदेश की प्रतिध्वनियां हैं। यहां गांव गांव में मंदिर हैं मठ हैं धर्म स्थान हैं। धर्म का उपदेश देने वालों की भी कोई कमी नहीं है। फिर भी यह चारित्रिक दुर्बलता। एक अनुत्तरित प्रश्न आज भी आक्रान्त मुद्रा में खड़ा हुआ है।

एक और सवाल उठता है कि मिलावट किसमें होती है? मेरे अभिमत से प्रश्न की भाषा यह होनी चाहिए कि मिलावट किसमें नहीं होती है और तो क्या यहां तो जहर भी निर्भेलिस नहीं मिलता है। एक छोटा सा व्यंग्य है—

कोई आदमी जीवन से निराश हो गया। वह जहर खरीदकर लाया और मरने की इच्छा से जहर खाकर सो गया। सुबह हुई तो वह जिंदा उठा। उसे स्वयं को ही आश्चर्य हो रहा था कि वह मरा क्यों नहीं?

दूसरी ओर किसी बीमार व्यक्ति न स्वस्थ होने के लिए दवा ली। दवा लेकर वह सोया तो एसा सोया कि वापस उठा ही नही। कारण दवा म जहर मिला हुआ था।

क्या एसी स्थिति किसी भी दश के लिए सुखद होती है ? मिलावट विरोधी इतने अभियामो के बावजूद मूल स्थिति म काई अन्तर नही आया है। यह अन्तर तब तक नही आएगा जब तक दश की आस्था नही बदलेगी।

सबसे पहले बडा आश्चय तो यह है कि ऐसा काम वे करत है जा धार्मिक कहलाते है। मै नही समझता ऐसी धार्मिकता स किसी का कल्याण हो सकगा। प्रतिदिन मदिर जाना, पूजा करना प्रभु का नाम जपना प्रवचन सुनना रात को नही खाना, उपवास करना आदि उपासना प्रधान धम म गहरी आस्था होन पर भी प्रामाणिकता, नतिकता आदि चरित्र मूलक धम का आचरण नही है तो वह व्यक्ति अपने आपको धार्मिक कस मान सकता है ?

अणुव्रत एक चरित्र मूलक आदोलन है। अणुव्रती व्यक्ति को यह सकल्प होता है कि वह किसी प्रकार की मिलावट नही करेगा। क्योकि यह मनुष्य पर मनुष्य के विश्वास की हत्या है। दश के करोडा करोडा व्यक्ति इस सकल्प को स्वीकार करेंगे, तभी व्यवसाय-जगत की इस सक्रामक बीमारी का पत्ता साफ हो सकेगा।

अस्पृश्यता

सदिया पार से चलकर आने वाला धर्म, कला, संस्कृति, साहित्य और संगीत व्यक्ति एवं समाज में संक्रान्त होता है, वैसे ही कुछ अवांछित संस्कार भी आगे से आगे पनपते रहते हैं। अस्पृश्यता की भावना भी एक ऐसा ही संस्कार है, जो चाहे-अनचाहे विकसित और पल्लवित हुआ है। मनुष्य 'मनुष्य' को अस्पृश्य मान, यह किस विकृत दिमाग की उपज है ? शोध का विषय है।

बुराई अस्पृश्य हो सकती है, गंदगी अस्पृश्य हो सकती है, बीमारी अस्पृश्य हो सकती है, पर मनुष्य भी अस्पृश्य होता है यह बात समझ में नहीं आती। वह मनुष्य जो बुरा नहीं, गंदा नहीं, बीमार नहीं, फिर भी वह अस्पृश्य है। क्योंकि यह अमुक कुल में जनमा है, क्योंकि उसका संबंध अमुक जाति से है। क्या कुल और जाति में पैदा होना भी किसी के हाथ की बात है ?

महाभारत का कर्ण जब जाति और कुल के नाम से प्रताडित हुआ तो उसके भीतर सोया हुआ पुरुषार्थ जाग उठा। जातिवाद के पक्षधरों को ललकारते हुए उसने कहा—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्॥

—मैं सारथि हूं, सारथि का बेटा हूं या और कुछ हूं, इससे क्या होना है ? किसी कुल में जन्म लेना भाग्य के अधीन है। मेरे अधीन है मेरा अपना पुरुषार्थ। कुल और जाति के आधार पर मुझे अपमानित करने वाले मेरा पुरुषार्थ तो देखें।

जाति और कुल के आधार पर किसी व्यक्ति को हीन या अस्पृश्य मानने की बीमारी इस युग की देन नहीं है। इसका संबंध उस समय से है जब वर्ण व्यवस्था का युग था, जातिवाद को पनपाने का युग था। इसका मूल खोजना बहुत कठिन है। यह फलते फूलते इस युग तक पहुंच गई इसे हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। इसमें भी बुरी बात यह हुई है कि यह बीमारी हर मजहब में संक्रान्त हो गई। अछूत की बीमारी छूत बनकर सबको लग गई और तो क्या, जैन और बौद्ध, जो सदा से जातिवाद के खिलाफ थे, इसकी गिरफ्त में आ गए।

भगवान म ाीर न जातिवा" के विरोध म मानवीय सत्य को उजागर करते हुए कहा था—

सक्ख ग्गु दीसई तवा विसेसो ।
न दीसई जा विसेस काई ॥

—जाति का वाद वैशिष्ट्य ा ी है। तप ही विशिष्ट है। इस बात को सब प्रत्यक्ष देख रह हैं।

बावजूद इसके बात का प्रभाव बलवान हुआ और जा धम न कुछ सप्रदायो के राम राम म छआछूत का भूत घुस गया।

काई व्यक्ति किसी वग म शादी विवाह ा सबध करे या नही साथ बठकर भोजन कर या न ी, इस विषय म वह स्वतत्र है। कि तु किसी व्यक्ति या वग क प्रति घणा प्रदर्शित कर उसका तिरस्का कर, क्या य दुश्मनी की बुनियाद का पहला पत्थर नही ? क्या यह मानवीय मूल्यो की अवहेलना नही है ?

इस युग म अस्पश्यता के विरोध म सबस पहली आवाज उठायी महात्मा गाधी न। अन्तिम पक्ति म खड वग का आगे लान के लिए उ होंने खुल-आम जो उदघोषणा की वह उनकी अहिंसा और अभय की ही परिणति थी। उनके बाद कई नेता न उस आवाज का दोहराया। पर पीडा क साथ कहना पडता है कि वह आवाज 'आवाज तक' ही सीमित रह गई उसका क्रियात्मक रूप सामन नही आ सका।

आज भी कुछ जातियो क साथ बडे अत्याचार हो रहे हैं। उनका स्पश नही करना, उनक साथ नही बैठना, उन्ह कुए म पानी नही भरन देना उ ह मदिर म प्रवेश नही करन दना और तो क्या, उनको जिन्दा जला देना क्या यह मानवता का क्रूर मजाक नही है ?

जातीय गव म अपन कत्तव्य को भूलकर उन तथाकथित दलित वग क साथ जो अत्याचार किए गए क्या व इसानियत क काबिल थ ? जब धम के सदभ म भी अस्पश्यता को उछाला गया तो उन लोगो न बगावत कर दी। व उस धम को जो उन्ह अन्य लोगो की तरह जीन का अधिकार नही देता, छोडकर दूसरे धम म चले गए। जब सामूहिक धम परिवतन का क्रम शुरू हो गया तब कहीं उन धर्माधिकारियो की आख खुली। पर यह सही तरीका न ी है ? भय और प्रतिक्रिया से मुक्त रहकर केवल मानवीय दष्टि स अस्पश्यता निवारण का प्रयत्न होना चाहिए।

अणुव्रत आन्दोलन न प्रारम्भ स ही इस बात को उठाया। उठाया ही नही, उस सक्रिय रूप म आग बढाया। हमारे साधु साध्वियो उनके मोहल्लो म गए। उनके साथ सपक बढाया। उनके बीच जाकर उपदेश दिया। उनके सम्मेलन बुलाए, शिविर लगाए और जैसे तैसे उन्ह दुव्यसनो और बुराइयो की गिरफ्त

से मुक्त कराने का प्रयत्न किया उनके प्रति पली हुई घृणा मिटाने का प्रयत्न किया। भारतीय संस्कार निर्माण समिति का प्रारम्भ भी इसी उद्देश्य से हुआ। यहां तक कि प्रसंग आने पर उनके घरों से भिक्षा भी ली। इन सब बिन्दुओं को सामने रखकर कहा जा सकता है कि हमने केवल अस्पृश्यता निवारण की बात ही नहीं की, रचनात्मक काम करके दिखाया।

अस्पृश्यता निवारण की दृष्टि से हमने दो काम किए—

- सवर्ण लोगों की अहं भावना मिटाने का प्रयत्न।
- दलित वर्ग के लोगों की हीनभावना को दूर करने का प्रयत्न।

मेरे अभिमत से जातीयता का गर्व जितना बुरा है, हीनभावना भी उससे कम बुरी नहीं है। अपने आपको हीन, दीन और अस्तित्वहीन मानने वाले लोग अनचाहे ही जातीयता की भावना को प्रोत्साहन देते हैं। ऐसे लोगों का विश्वास में लेकर समझाने से ही उन्हें अपने अस्तित्व का बोध हो सकेगा।

संस्कारों की नागफनी की चुभन अब भी काफी तीखी है। इसी दृष्टि से हमने अमृत महोत्सव के उपलक्ष्य में समायोजित अमृत कलश-यात्रा के पांच संकल्पों में अस्पृश्यता निवारण के संकल्प को भी अहम भूमिका रखी है। हजारों हजारों लोगों ने उन संकल्प पत्रों को देखा है पढ़ा है और भरा है। इससे मानसिकता के बदलाव की संभावना पुष्ट हो रही है। भारत के इतिहास में वह दिन सर्वाधिक महनीय होगा, जब यहां की जनता अस्पृश्यता जैसी बेबुनियाद भीत को हटाकर भ्रातृत्व भाव के आकाश में मुक्त रूप से विहार करेगी।

भावात्मक एकता

अद्वैत की परंपरा म समूचा विश्व एक है । वहा दो की कल्पना का कोई आधार ही नही है । दृश्य जगत म जो नानात्व दिखाई देता है वह केवल भ्रान्ति है।

द्वैतवाद की दृष्टि से भेद की कल्पना के पीछे आधार है । हर दार्शनिक परपरा किसी आधार को लेकर ही पनपती है । किन्तु उसी का आग्रह होने के कारण अलग अलग मतवाद और विचारधाराओ को फलने का अवसर मिल जाता है ।

जैन दर्शन के अनुसार अस्तित्व की अपेक्षा से समूचा विश्व एक है । व्यक्ति की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व है । बगीचा एक इकाई है । उसम जितने वृक्ष हैं या जितने प्रकार के फूल है, उन सबकी स्वतन्त्र सत्ता भी है । अनेकता म एकता का चिन्तन और व्यवहार ही भावात्मक एकता है ।

एक राष्ट्र म अनेक प्रान्त होते हैं । एक प्रान्त मे अनेक धर्म होते हैं । एक धर्म मे अनेक जाति के लोगो की आस्था होती है । एक जाति म अनेक व्यवसाय होते है । एक व्यवसाय मे अनेक व्यक्ति होते है और एक व्यक्ति के अनेक विचार होते हैं । क्या इस अनेकता के आधार पर व्यक्ति, व्यवसाय जाति, धर्म प्रान्त या राष्ट्र को बाटा जाता है ? जहा कही बटवारे की स्थिति आती है एकता खण्डित होती है ।

मनुष्य जाति एक है, इस सिद्धान्त की स्वीकृति के बाद भी किसी को मारना सताना, कष्ट पहुचाना, तिरस्कृत करना क्या स्वय को मारने, सताने, कष्ट पहुचाने और तिरस्कृत करने का प्रयत्न नही है ?

इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर जैन आगमो ने उद्घोषणा की—'पुरुष ! तू जिसे हनन योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू आज्ञा मे रखने योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है वह तू ही है । जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है वह तू ही है । जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है ।' इस आत्म-तुला की भूमिका पर विश्व की सब आत्माओ की एकता का प्रतिपादन किया गया है ।

भावात्मक एकता की प्रकल्पना से पहले आत्मतुला के सिद्धांत मे विश्वास होना जरूरी है। विश्वास शक्ति का स्रोत होता है। यह जीवन के अर्थ को बदल सकता है और मूल्यो की नयी अवधारणा दे सकता है।

यह अद्वैत एकत्व या भावात्मक एकता का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थाशील लोकजीवन के कण-कण मे रमा हुआ होना चाहिए। सब मुझमे और मैं सबमे इस विराटता मे ही भावात्मक एकता प्रतिबिम्बित हो सकती है।

जो व्यक्ति इस अद्वैत को अपनी सहमति नही देता है, वह कैसे कह सकता है कि यह मेरा परिवार है यह मेरा भाई है, यह मेरा पुत्र है यह मेरी मा है, यह मेरी पत्नी है आदि? यदि इन सबमे एकता का अनुभव होता है तो किसी अपेक्षा से प्राणी मात्र के प्रति हो सकता है।

विवेक समन्वित मनुष्य होकर भी जो ऐसा अनुभव नही करता, है, वह 'मात्स्य न्याय' को सिद्ध करता है। बडा मत्स्य छोटी मछली को खाता हिंस्र पशु दूसरे पशु को मारता है, इसी प्रकार मनुष्य का आचरण रहा तो फिर मनुष्य और पशु मे अन्तर क्या रहेगा?

जाति, वर्ण वर्ग धर्म प्रान्त, राष्ट्र, ऐश्वर्य, सत्ता आदि कृत्रिम भेद है। इन्हें मुख्य मानकर पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और न्याय की हत्या मानवीय मूल्यो की हत्या है। इन आरोपित भेदो को वास्तविक मानकर किसी को हीन मानना स्वय की हीनता है। इनके आधार पर किसी का अहित करना स्वय का अहित है।

समुद्रविजय के पुत्र अरिष्टनेमि की बारात शौरिपुर से चली। मथुरा के राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ उनका सबध निश्चित हुआ था। बारात मथुरा पहुची। वहा एक बाडे मे बंदी पशु कराह रहे थे। अरिष्टनेमि ने अपने सारथि से पूछा—ये पशु क्या चिल्ला रहे हैं? सारथि बोला—इनका अन्तिम समय निकट आ गया है। ये सब बारातियो के भोजन मे काम आएगे। कुमार अरिष्टनेमि के कानो मे मानो किसी ने सीसा डाल दिया। उनकी चेतना को झटका लगा। मेरे लिए इतने पशुओ की निमम हत्या? मुझे जीना अच्छा लगता है तो इन्हे क्या नही लगेगा? इन निरीह पशुओ की आत्मा भी मेरी आत्मा जैसी ही है। इस विचारधारा ने उनको वहा से मोड दिया। विवाह किए बिना ही वे लौट गए और प्रव्रजित होकर मुनि बन गए।

काल सौकरिक कसाई का पुत्र सुलस परिवार की परपरा का निर्वाह करने के लिए भी भैसे पर वार नही कर सका। पारिवारिक जनो का दबाव पड़ा तो उसने तलवार का वार अपने पाव पर कर लिया। क्योकि उसे अपनी आत्मा और भैंसे की आत्मा मे कही भेद दिखाई नही दिया।

संत नामदेव को बचपन मे उसकी मा ने वृक्ष की लकडी काटकर लाने के

लिए भेजा। नामदेव गया। वहां की आत्मा और अपनी आत्मा में अभेद का दर्शन होते ही उसके हाथ रुक गए। उसने कुल्हाड़ी का प्रहार वृक्ष पर करने के बजाय अपने पांव पर कर लिया।

कबीर का पुत्र कमाल जंगल में घास काटने गया। घास के बीच में खड़ा होते ही उसे अनुभव हुआ कि जो प्राणधारा इस घास में बह रही है, वही तो उसके भीतर है। इस अनुभूति में वह इतना खो गया कि घास काटना भूलकर सांझ तक वहीं खड़ा रहा।

ये सारे प्रसंग भावात्मक एकता की उत्कृष्टता का सार्थक प्रतीकन करते हैं। इनसे प्रेरणा लेकर ही व्यक्ति आन्तरिक दुर्भावना, वैमनस्य, अलगाववादी दृष्टिकोण, तोड़फोड़, लूटखसोट, मारकाट आदि प्रवृत्तियों से दूर रहकर सारी मानव जाति एक भावात्मक एकता रूप ध्वज के नीचे निश्चिन्तता से जी सकती है।

भावात्मक एकता की विस्मृति से अथवा उसके न मथने से जो परिणाम आए हैं, उन्हें इस रूप में जाना जा सकता है—

- स्वयं को बड़ा मानना औरों को हीन समझना।
- अपने दृष्टिकोण को ही महत्त्व देना—जो कुछ मैं सोचता हूं वही सही है ऐसा मानना।
- अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए किसी भी व्यक्ति, वर्ग या राष्ट्र के हितों की परवाह न करना।
- सरकार से अपनी बात मनवाने के लिए राष्ट्रीय सम्पत्ति का नुकसान करना।

इस प्रकार की खण्डित और विध्वंसक चेतना वाली मनःस्थितियों में भावात्मक एकता का बीज नहीं पनप सकता। इसके लिए जरूरत है अखण्डता और आत्मतुला वाली चेतना के जागरण की।

सर्वधर्म सद्भाव

धर्म जीवन का शाश्वत मूल्य है। यह एक सार्वभौम सत्ता है। आत्मसाक्षात्कार या सत्य के साक्षात्कार की प्रक्रिया का नाम धर्म है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो आत्मा ही धर्म है, सत्य ही धर्म है। धर्म एक अखण्ड चेतना है। इसे टुकड़ों में विभक्त करना कठिन है। इस विचार बिन्दु की यात्रा करते समय 'सर्वधर्म सद्भाव' यह शब्द-संकलना सही प्रतीत नहीं हुई। सद्भाव का प्रसंग तब आता है, जब अनेकत्व हो, एकत्व में असद्भाव का बीज बोएगा कौन? यदि हम सर्व धर्म सद्भाव की चर्चा करते हैं तो वह धर्म का अवमूल्यन है। क्योंकि निश्चय नय की दृष्टि से धर्म एक ही है।

व्यवहार के धरातल पर धर्म को अनेक भेदों में रूपायित किया जा सकता है, जैसे—क्षमा, निर्लोभता, ऋजुता, मृदुता, लाघव, संयम, सत्य, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य आदि। इस क्रम से धर्म के हजारों रूप सामने आ जाएं, तो भी उनके प्रति असद्भाव उत्पन्न नहीं होगा। क्योंकि यह तो दर्पण में सभा के प्रतिबिम्बों वाली बात है। एक व्यक्ति के अनेक प्रतिबिम्ब हो सकते हैं, वैसे ही एक धर्म के अनेक रूप हो सकते हैं।

सर्वधर्म सद्भाव का जो नारा है, वह मजहबों को लेकर है। क्योंकि एक युग ऐसा आया जिसमें धर्म अपनी व्यापकता को खोकर सम्प्रदाय के अर्थ में ही रूढ़ हो गया। सम्प्रदायों का अस्तित्व किसी युग विशेष की देन नहीं है। यह तो विचार भेद की स्वाभाविक परिणति है। राजनीति और समाजनीति में जिस प्रकार सिद्धान्त और नीति के आधार पर अलगाववादी मनोवृत्ति उभरती है, वैसे ही धर्म भी इसका अपवाद नहीं है। यह अनहोनी बात भी नहीं है क्योंकि मनुष्य यन्त्र नहीं है। उसे सोचने-समझने की स्वतन्त्रता है। अब तो यन्त्र भी सोचते हैं, परामर्श देते हैं, कविता करते हैं और विवेकपूर्वक निर्णय करते हैं। फिर मनुष्य की तो बात ही क्या?

किसी भी देश में अनेक जातियों, वर्गों या सम्प्रदायों का होना कोई समस्या नहीं है। समस्या है अपने को सर्वोच्च मानकर अन्य सम्प्रदायों को छोटा दिखाने

या तिरस्कृत करने का मनोभाव। धार्मिक असदभाव के बीजो का वपन इसी धरती पर होता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो साम्प्रदायिक भावना को उकसाते रहते हैं। इस काम मे कट्टरतावादी और असामाजिक तत्त्वो का हाथ रहता है। साम्प्रदायिक भावना जब वैमनस्य और सघष का रूप लेती है तब खन खराबे की नौबत आ जाती है। इस साम्प्रदायिक उन्माद ने हजारो हजारो लोगो को मौत के घाट उतार दिया है।

दो भिन्न जातियो या सम्प्रदायो मे सघष की स्थिति उत्पन्न होती है, वैसे ही एक सम्प्रदाय की दो परम्पराओ में भी उपद्रवी तत्त्वो को खुलकर खेलने का मौका मिला है। जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई वैष्णव कोई भी तो सघष की काली छाया से अपना बचाव नही कर सके। छोटी छोटी बातो को लेकर हुए झगडो मे मानवीय मूल्यो की जो निमम हत्या हुई। वह रोमाच पैदा करने वाली है। पर एक बात स्पष्ट है कि यह समस्या आज की नही, प्राचीन है।

कहा जाता है कि राजा भोज के समय मे एक बार मजहबी समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया। बात यहा तक बढी कि राजा भोज को उसमे हस्तक्षेप करना पडा। भविष्य मे वैसी समस्या न उभरे, इस बात को ध्यान म रखकर राजा ने सब धर्माधिकारियो को उपस्थित होने का आदेश दिया। प्रमुख प्रमुख लोग पहुच गए तो राजा ने उन सबको एक कमरे मे बन्द कर निर्देश दिया—आप सब मिलकर चिन्तन करो और एक हो जाओ। एक होने के बाद ही आपको यहा से छुट्टी मिलेगी।

बात पूरे शहर मे फैल गई। वहा प्रवासित सूराचाय को धमगुरुओ पर आई मुसीबत की जानकारी मिली। वे राजा के पास पहुचकर बोले—'राजन्! हम आपसे एक समस्या का समाधान चाहते हैं। राजा विनम्रता के साथ बोला—'हमारा पूरा राज्य आपकी सेवा के लिए तत्पर है। कहिए आपके सामने क्या समस्या है?' सूराचाय ने कहा—राजन! बात यह है कि शहर मे एक ही चीज की सैकडा सकडो दुकाने हैं। हर दुकानदार अपने माल को अच्छा बताता है। इससे ग्राहको को मतिभ्रम हो जाता है। अपनी प्रजा के लिए आप एक काम करें। एक समान चीजो वाली अनेक दुकानो को उठाकर एक कर दें।

राजा गभीर होकर बोला—'महात्मन्! आपका कथन ठीक है। पर क्या यह सभव है? इस क्रम से व्यापारियो और ग्राहको—दोनो की समस्या बढेगी।' सूराचाय ने कहा— आप मालिक हैं। चाहे तो सब कुछ कर सकते हैं।' राजा ने अपनी अक्षमता प्रकट करते हुए कहा—'यदि ऐसा कुछ हुआ तो विप्लव मच जाएगा।' सूराचाय बाले—तो फिर सब धम-सम्प्रदायो मे एकत्व कैसे होगा?

सबकी आस्थाएं और रुचियां भिन्न भिन्न हैं। उनको एक ही रास्ते पर चलाने से विप्लव नहीं मचेगा?" बात राजा की समझ में आ गई। उसने तत्काल सब धर्मगुरुओं को मुक्त कर दिया।

आस्था, रुचि या विचार में जो अन्तर है, वह समाप्त हो जाए, यह कभी संभव नहीं लगता। संभावना इतनी ही हो सकती है कि व्यक्ति अपनी धार्मिक आस्था के प्रति अडिग रहता हुआ दूसरों के प्रति सद्भाव रखे। प्रश्न हो सकता है कि दूसरों के जो विचार ग्राह्य नहीं हैं, मान्य नहीं हैं और जिनका कोई औचित्य भी नहीं है, उनके प्रति सद्भाव कैसे रखा जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर इतना-सा ही है कि जो विचार किसी को ठीक न लगे, वह स्वीकार न करे। सामने वाले व्यक्ति को प्रेम से समझाए। वह समझे तो ठीक अन्यथा स्वयं तटस्थ हो जाए ज्ञाता-द्रष्टाभाव का विकास करें। किसी भी विरोधी विचारधारा को लेकर वैमनस्य रखना, घृणा फैलाना, कलह करना, हिंसा पर उतारू होना क्रूरता है। धर्म के नाम पर यह सब करना तो किसी भी स्थिति में वांछनीय नहीं है।

कुछ लोग 'सर्वधर्म सद्भाव' के नाम पर गलत तत्त्वों को प्रोत्साहन देते हैं। यह धार्मिक सद्भावना की विडम्बना है। मेरे अभिमत से सर्वधर्म सद्भाव का अर्थ इतना ही होना चाहिए कि अपने द्वारा स्वीकृत सही सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ विश्वास और दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णुता। दूसरों के जो विचार जनता में अंधविश्वास, मिथ्यात्व और गलत अवधारणा के जनक हों, उनके प्रति सद्भावना कैसे होगी? जैसे कोई मजहब या धर्मगुरु हिंसा को प्रश्रय देता है मांसभक्षण को प्रोत्साहन देता है अब्रह्मचर्य को साधना का अंग मानता है इसी प्रकार की अन्य बातें कहता है उन्हें आंख मूंदकर स्वीकार कर लेना धार्मिक सद्भावना नहीं है। यह तो पतन का रास्ता है। संभव हो सके तो ऐसी अवधारणाओं का अहिंसात्मक प्रतिकार करना चाहिए।

सर्वधर्म सद्भाव का विचार अनाग्रह की पृष्ठभूमि पर ही फलित हो सकता है। किसी भी व्यक्ति या सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर आक्षेप करना किसी के प्रति घृणा व तिरस्कार के भाव फैलाना किसी के साथ अवांछनीय व्यवहार करना सद्भावना की बाधाएं हैं। वैचारिक सहिष्णुता का विकास और धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को लोक जीवन में उतारने का सामूहिक प्रयत्न ये दो बातें ऐसी हैं, जो धार्मिक सद्भावना की निष्पत्ति हो सकती हैं।

कुल मिलाकर समझने की बात इतनी ही है कोई भी सम्प्रदाय बुरा नहीं होता। बुरी होती है साम्प्रदायिकता। सम्प्रदाय का अर्थ है गतिशील परम्परा। इस

रूढ बनाने से साम्प्रदायिकता का जन्म होता है। सम्प्रदाय सत्य की उपलब्धि का माध्यम है। माध्यम म उलझन वाले सत्य तक नही पहुच सकते। सत्य तक पहुचने या सत्य को पाने का एक रास्ता ह। सम्प्रदाय मे रहते हुए भी साम्प्रदायिक सकीणता से ऊपर उठना। सकीणता के सस्कार छूटने से ही सब धर्मों के प्रति सदभावना पूण विचार रख जा सकते हैं।

समग्र क्रांति और अणुव्रत

प्रश्न—कुछ व्यक्ति परम्परावादी होते है और कुछ क्रान्तिकारी। आपकी दृष्टि मे किस श्रेणी के व्यक्ति अपना और अपने देश का भला कर सकते हैं?

उत्तर—मेरे अभिमत मे कोई भी व्यक्ति परम्परा का नितान्त उपजीवी नही हो सकता और एकान्तत क्रान्त विचारो का सवाहक भी नही हो सकता। कोई भी क्रांति हो उसे किसी-न किसी आधार की अपेक्षा रहती है। आधारशून्य क्रांति एक बार तो जन जीवन को झकझोर देती है पर अन्तत उसका परिणाम सुखद और स्थायी नही होता। इसलिए मैं यह मानता हू कि व्यक्ति अपनी विचार शक्ति को जागत करने के क्षेत्र म भी किसी न किसी परम्परा का आभारी रहता ही है। भले उस परपरा का सूत्र व्यक्ति को सीधा मिला हो या परम्परित मिला हो।

क्रान्ति की निष्पत्ति क्रमु धातु से होती है, जिसका अथ है पादक्षेप। व्यक्ति जिस स्थिति म आज तक रहता आया है, उसे परम्परित कर नयी स्थिति का निर्माण कर देना, क्रान्ति का प्रथम चरण है। विकासशील चेतना के लिए यह आवश्यक भी है कि वह नय सजन म अपनी क्षमता का उपयोग करे। व्यक्ति की किसी भी प्रवत्ति से नया सृजन नही होता है तो मान लेना चाहिए वह व्यक्ति शक्ति-सम्पन्न नही है। पर शक्ति का उन्माद मेरे अभिमत से अभीष्ट नही है। अत किसी जीवन्त और सशक्त परम्परा की पष्ठभूमि मे रखकर की जाने वाली क्रांति को मैं अधिक अच्छा समझता हू।

प्रश्न—परम्परित क्रान्ति दबाव या शक्ति के आधार पर होगी। दबाव से निष्पन्न क्रांति अन्तहीन प्रतिक्रांतियो को जन्म देती है, ऐसी एक मान्यता है। आप इस सबध म क्या सोचते है?

उत्तर—दबाव और शक्ति के प्रयोग को मैं परम्परा के निर्वाह म भी उचित नही मानता क्योकि परम्परा भी तो हृदय से स्वीकृत होती है तभी उसका अन्त तक निर्वाह हो सकता है। भय प्रलोभन या दबाव से व्यक्ति के जीवन म जो परम्परा आती है वह एक झटका लगते ही छूट सकती है। समझपूर्वक स्वीकृत

परम्परा मे स्थायित्व ही नही, गति भी होती है। फिर जहा क्राति का प्रश्न है, वहा दबाव या भय से काम तो हो सकता है पर उस स्थिति को क्रान्ति नाम से रूपायित करने मे मुझे सकोच होता है।

टर्की के बादशाह कमालपाशा ने अपने देश म एक क्रान्ति की। उसने उद्घोषणा की कि आज सूर्योदय होने से पहले-पहले सारी महिलाए अपने बुर्के उतार दें, अन्यथा उन्ह बन्दूक की नली का निशाना बना दिया जायेगा। महिला समाज मे अप्रत्याशित भय व्याप्त हो गया। उसे यह सोचने के लिए अवकाश ही नहीं मिला कि बुर्के उतारने का प्रयोजन क्या है ? उन्ह तो सामने दिखाई दे रही थी गोली दागती हुई बन्दूकें। इस दृश्य की कल्पना मात्र से व सिहर उठी। बिना कुछ सोचे समझे उनको अपने बुर्के उतारने पडे। कुछ लोगो ने कहा—कमालपाशा ने बहुत बडी क्रान्ति की है। ऊपर ऊपर से देखने पर ऐसी प्रतीति भी होती है। किन्तु केवल परिवेश का परिवतन है। भय का भाव कम होते ही वह परिवेश फिर से बदल सकता है। यदि एक एक महिला को पर्दे के दोष और उसके दुष्परिणाम समझाकर, उनके विचार बदलकर यह काम किया जाता तो अधिक अच्छे ढग से इसकी क्रियान्विति होती।

यहा तर्क हो सकता है कि जो काम करना है उसके लिए सबको समझाना और धीरे धीरे उसे लागू करना क्रान्ति कैसे हो सकती है ? क्योकि क्रान्ति का अर्थ ही है एकदम बदलाव ? प्रश्न अपने सन्दभ म बिलकुल सही है। एकदम बदलाव के बिना क्रान्ति हो ही नही सकती। पर उक्त घटना मे जो बदलाव आया है वह एकदम नही है। एक साथ बदलाव होना एक बात है और समग्रता से बदलाव होना दूसरी बात है। समग्रता से बदलाव जहा भी होगा वहा दबाव, भय या प्रलोभन की सत्ता अपने आप डगमगा जाएगी।

प्रश्न—पिछले कुछ अर्से से लोकनायक जयप्रकाश नारायण समग्र क्रान्ति का नारा दे रहे हैं। आपकी बात सुनकर ऐसा लगता है कि क्रान्ति शब्द ही समग्रता का प्रतीक है। समग्रता से बदलाव के बिना क्रान्ति हो ही नही सकती। फिर यह क्रान्ति के पीछे समग्र विशेषण क्या जोडा गया है ?

उत्तर—यह ठीक है कि क्रान्ति शब्द स्वय ही समग्रता का सवाहक है। पर यह उसी सीमा मे समग्रता का वहन करता है जिस सीमा म क्रान्ति घटित होने वाली है। जयप्रकाशजी अपनी क्रान्ति के लिए एक सप्तसूत्री कायक्रम देते हैं। उनके अनुसार राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, सास्कृतिक नतिक और वैचारिक इन सब क्षेत्रो मे युगपत बदलाव का नाम समग्र क्रान्ति है। क्रान्ति शब्द सुनने मे बहुत प्रिय लगता है। कुछ व्यक्ति परिवतन को सर्वथा नकारते हुए भी स्वय को क्रान्तिकारी प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। वसे जे० पी० ने भी क्रान्ति का जो अभियान चलाया उसका कोई बहुत बडा सुफल सामने नही आया

है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जब तक जनता की न्यूनतम आवश्यकताए पूरी नही होती हैं, वह क्रान्ति जैसी घटना पर सोच ही नही सकता। जयप्रकाशजी की समग्र क्रान्ति के उद्देश्य और फलित पर प्रामाणिक जानकारी वे ही दे सकेंगे। पर इस तथ्य को नजरअदाज नही किया जा सकता कि वे एकाधिक सन्दर्भों म क्राति की सभावना के प्रेरक हैं। इस दृष्टि से समग्र शब्द का भी अपना विशेष अर्थ स्थापित हो जाता है।

प्रश्न—राममनोहर लोहिया ने भी अपन समय म सप्त क्रान्ति की परिकल्पना की थी। उनकी क्रान्तिकारी योजना के सात सूत्र हैं—

- जातिगत विषमता का अन्त
- विदेशी दासता का अवसान
- स्त्री-पुरुष के मध्य समानता के स्तर की स्थापना
- रग पर आधारित विषमता की समाप्ति
- सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति
- अन्याय का प्रतिकार
- हिंसामूलक प्रवृत्तियो का विरोध।

जयप्रकाशजी और लोहियाजी की क्रातिमूलक परिकल्पना मे मुख्य भेद क्या है? क्या उनकी यह योजना सफल हुई?

उत्तर—उद्देश्य के अनुसार फलित होता है। दो व्यक्ति एक ही काम दो भिन्न उद्देश्यो से करते हैं तो उनके फलित भी अलग-अलग होते हैं। वैसे जे० पी० और लोहियाजी की परिकल्पना म किसी बडे मतभेद की प्रतीति नही होती। काफी बातें एक दूसरे म समाहित होने जैसी हैं। फिर भी जे० पी० की परिकल्पना गूढ है। उसका शाब्दिक परिवेश अस्पष्ट है और लोहियाजी न अपनी सप्तसूत्री योजना स्पष्टता के साथ रखी थी। पर चूकि अब लोहियाजी नही रहे और उनकी भावना का पूरा प्रतिनिधित्व समग्र क्राति की योजना मे हो जाता है। इसलिए उक्त दोनो परिकल्पनाओ मे विभेद की बात स्वत गौण हो जाती है।

अब रहा प्रश्न योजना की सफलता का। मैं ऐसा सोचता हू कि कोई भी योजना तब तक सफल नही होती जब तक उसके अनुकूल जनमत जागृत न हो जाए। जनमत को जागृत करने के लिए आवश्यक है कि उसे सम्बन्धित परिकल्पना के लाभ की अनुभूति कराई जाए। अब तक हमारे देश की पाच प्रतिशत जनता भी समग्र क्रान्ति के उद्देश्य, उसकी प्रक्रिया और फलित से अज्ञात है। ऐसी स्थिति मे उसकी सफलता का स्वप्न एक स्वप्न से अधिक सार्थक कैसे हो सकता है?

प्रश्न—आपका अणुव्रत आदोलन भी एक क्रातिकारी आदोलन है। समाज के सडे गले मूल्यो को बदलन और जीवन के जीवन्त मूल्यो को समाज म प्रतिष्ठित

करने के लिए आप प्रयत्नशील हैं। क्या आप यह कल्पना करते हैं कि समग्र क्रान्ति का स्वप्न अणुव्रत के मंच पर साकार हो सकता है ?

उत्तर—मैं कल्पनाशील अवश्य हूं, पर अति आशावाद में मेरा विश्वास नहीं है। अणुव्रत के आदर्शों के अनुरूप जीवनयापन करने वाले समाज का रेखाचित्र मेरी आंखों के सामने है, पर उसमें रंग भरने के लिए समय, शक्ति और समायोजना की पद्धति को निखारने की जरूरत है। अणुव्रत अपने लक्ष्य से सदा प्रतिबद्ध है। इसने लाखों-लाखों व्यक्तियों को जीवन विकास की न्यूनतम आचार-संहिता का बोध दिया है। हजारों व्यक्तियों ने इसके माध्यम से अपने जीवन की दिशा बदली है। वैचारिक क्रान्ति की भूमिका पर मैं इसके परिणाम आशातीत मानता हूं। किन्तु मेरे अभिमत से वह क्रांति अधूरी क्रान्ति है, जब तक उसका मूर्त रूप समाज के सामने नहीं आता है।

समग्र क्रान्ति और अणुव्रत के उद्देश्य भिन्न हैं। इसलिए मैं यह तो नहीं मानता कि अणुव्रत के मंच से प्रस्तुत क्रान्ति घटित हो सकती है। किन्तु यह मेरा विश्वास है कि जहां अणुव्रत दर्शन प्रभावी होकर लोक जीवन में प्रतिबिम्बित हो जाता है वहां समग्र क्रान्ति के फलित दृश्यगत होने लगते हैं।

वैसे समग्र विश्व में नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना हेतु अणुव्रत अपना योग दे सकता है, पर मैं इसे अतिरंजन समझता हूं। हर आंदोलन की अपनी सीमाएं होती हैं और उसकी अपनी कार्यपद्धति होती है। अपनी सीमा में अणुव्रत ने क्रान्ति की है और करता रहेगा। मैं यह सोचता हूं, अणुव्रती समाज नैतिक और आध्यात्मिक क्रांति में अगुआ बन जाए तो अन्य क्रान्तियों के लिए अच्छी पृष्ठभूमि तैयार हो सकती है।

प्रश्न—अणुव्रत द्वारा संभावित क्रांति के प्रमुख मुद्दे क्या हैं ?

उत्तर—अणुव्रत सबसे पहले ज्ञान और आचरण की दूरी मिटाना चाहता है। जब तक मनुष्य द्वारा अनुमोदित सिद्धांत उसके व्यवहार में नहीं आते हैं, कोई भी क्रान्ति घटित नहीं हो सकती।

अणुव्रत धर्म के मौलिक तथ्यों को जनधर्म के रूप में प्रस्तुति दे रहा है। इससे साम्प्रदायिक संकीर्ण मनोवृत्ति व्यापक और उदारवादी बन सकती है। इससे मानवीय एकता और विश्व-बन्धुत्व के लिए एक ठोस धरातल तैयार हो जाता है।

व्यसन मुक्ति और तनाव मुक्ति अणुव्रत क्रान्ति का प्रथम किन्तु महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। व्यसन मुक्त समाज समग्र क्रांति का आधार बन सकता है। जब तक एक भी दुर्व्यसन मानव जाति में है, वह अपने आदर्श की ऊंचाई का स्पर्श नहीं कर सकती।

तनाव इस युग की सबसे जटिल समस्या है। अणुव्रत ने प्रेक्षा ध्यान के

प्रयोग से तनाव मुक्ति की एक व्यावहारिक प्रक्रिया प्रस्तुत की है। प्रेक्षा ध्यान की साधना से अणुव्रत के सिद्धान्त जीवन में स्वतः अवतरित होने लगते हैं। अणुव्रत क्रान्ति के लिए वह क्षण सर्वोत्तम सिद्ध होगा जब अणुव्रत और प्रेक्षा के प्रयोग से मनुष्य मानसिक शान्ति का अनुभव करने लगेगा। किसी भी क्रान्ति की सार्थकता आकस्मिक विस्फोट में नहीं, किन्तु एक स्वस्थ और उन्नत समाज की संरचना में है। इस दृष्टि से अणुव्रत आन्दोलन को और अधिक सशक्त और सक्रिय होकर काम करना है।

अणुव्रत और जनतंत्र

अणुव्रत का यह सोलहवां वार्षिक अधिवेशन है। इसमें अणुव्रतियों को विगत कार्यक्रम का सिंहावलोकन और भावी कार्यक्रम का निश्चय करना है। उनके कार्यक्रम का मूल आधार नैतिक विकास है।

विकास की अनेक रेखाएं हैं—आर्थिक विकास, शैक्षणिक विकास, वैज्ञानिक विकास, सांस्कृतिक विकास, नैतिक विकास आदि-आदि।

जीवन-पद्धति के परिवर्तन की मांग

इस परिवर्तनशील संसार में सर्वथा अपरिवर्तनीय क्या है? हम हर वस्तु में परिवर्तन देख रहे हैं। हम परिवर्तन में भी विश्वास करते हैं, किसी वस्तु से इसलिए चिपके रहना नहीं चाहते कि वह पुरानी है। किसी वस्तु से इसलिए दूर भागना नहीं चाहते कि वह नयी है। बहुत बार पुरानी वस्तु को छोड़कर नयी को अपनाना आवश्यक होता है, ऐसा करना विवेक का अनुरोध और समय की मांग होती है।

आज जीवन की पद्धति को बदलने की मांग समय के कक्ष से आ रही है और विवेक के द्वारा उसकी पुष्टि की जा रही है। जीवन की वह पद्धति, जो राजतन्त्र के युग में विकसित हुई थी, जनतन्त्र के अनुकूल नहीं है। जीवन के वे मूल्य जो सामंतशाही के युग में मान्य हुए थे, जनतन्त्र के वातावरण में मान्य नहीं हो सकते। जीवन की पद्धति और उसके मूल्यों में परिवर्तन लाने का अर्थ है अणुव्रती होना और अणुव्रती होने का अर्थ है जीवन की पद्धति और उसके मूल्यों में परिवर्तन लाना।

जीवन-पद्धति और उसके मूल्य

राजतन्त्र के युग की जीवन-पद्धति के निम्न तत्त्व हैं—

१ परावलम्बन
२ दूसरे के श्रम का अधिक लाभ उठाना
३ असमानता को मान्यता देना
४ विलास या आराम-तलबी
५ स्वतन्त्रता की अपेक्षा सुविधा का अधिक महत्त्व देना।

जनतन्त्र में ये सारे तत्त्व बदल जाते हैं। इनके प्रतिपक्षी तत्त्व विकसित होते हैं—

१ स्वावलम्बन
२ अपने श्रम का लाभ प्राप्त करना
३ समानता को मान्यता देना
४ श्रमपूर्ण जीवन
५ सुविधा की अपेक्षा स्वतन्त्रता को अधिक महत्त्व देना।

यह जीवन-पद्धति और उसके मूल्यों का नया प्रारूप है। इससे परिचित होकर इसे प्राप्त करने के लिए भारतीय जनता को काफी परिवर्तन करना होगा।

परिवर्तन का पहला चरण है—विचार-परिवर्तन और दूसरा है—स्वभाव परिवर्तन। अभी भारतीय लोग कठिनाइयों का अनुभव कर रहे हैं पर इसलिए कर रहे हैं कि उनके विचार और स्वभाव हैं राजतन्त्र युग के और वे जी रहे हैं जनतन्त्र की छाया में। जनतन्त्र के युग में जनतन्त्र के विचार और स्वभाव को लेकर जीने वालों के लिए कोई कठिनाई नहीं है। जनतन्त्रीय जीवन पद्धति से जीने वालों के लिए अणुव्रत को अपनाने में कोई कठिनाई नहीं है। अणुव्रत जनतन्त्रीय जीवन पद्धति के अधिक अनुकूल है। परावलम्बन आदि जीवन-तत्त्व अर्थ-संग्रह वृत्ति को उत्तेजित करते हैं। अर्थ संग्रह की वृत्ति से उत्तेजित होकर मनुष्य अनैतिक साधनों का प्रयोग करता है इस प्रकार सामयिक जीवन पद्धति विकृत हो जाती है।

अनैतिकता तब तक उन्मूलित नहीं हो सकती, जब तक जीवन पद्धति के तत्त्व दूषित हैं। इसलिए नैतिकता का विकास चाहने वाले लोगों के लिए यह स्वयं प्राप्त होता है कि वे जीवन-पद्धति के मूल तत्त्वों में परिवर्तन लाएं।

मानसिक शिक्षण और व्यवस्था

सामाजिक परिवर्तन दो उपायों से होता है—एक उपाय है मानसिक शिक्षण और दूसरा है शासन व्यवस्था। मानसिक शिक्षण क्रम अनिवार्य नहीं होता इसलिए उससे अनिवार्य सामूहिक परिवर्तन की कल्पना करना सम्भव नहीं है। हम चाहते हैं कि सब लोग अणुव्रती बनें। किन्तु यह जानते हैं कि सब लोग अणुव्रती बनने वाले

नहीं हैं। हम अणुव्रतियों का नया समाज खड़ा करना नहीं चाहते। हम चाहते हैं कि सारा समाज आदर्शों से अनुप्राणित हो जाए। वह अणुव्रती ही समाज कहलाये या न कहलाये, इसकी कोई चिन्ता नहीं है।

शासन व्यवस्था के विवेकपूर्ण नियमन और अणुव्रत मानसिक शिक्षण का समुचित योग हो जाए तो मुझे विश्वास है कि नैतिक विकास तेजी से हो सकता है।

राष्ट्रीय आचार-संहिता

अणुव्रत का असाम्प्रदायिक रूप प्रारम्भ से रहा है। सब सम्प्रदायों या धर्मों का समन्वय करने के लिए अणुव्रत की आचार संहिता नहीं बनाई गई। वह व्यक्ति के सम्प्रदाय निरपेक्ष धर्म के आधार पर बनाई गई है। इसलिए विशुद्ध अर्थ में वह सब धर्म-समन्वय की नहीं किन्तु धर्म की आचार-संहिता है।

अणुव्रत की आचार-संहिता का मूल आधार व्यक्ति है। जिस संस्था के पास शासन शक्ति की अनिवार्यता नहीं होती, उसका आधार व्यक्ति ही हो सकता है। विशुद्ध अर्थ में यह आचार-संहिता वैयक्तिक है किन्तु राष्ट्र के हर व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है। इसलिए इसे राष्ट्रीय नैतिक विकास की आचार संहिता का स्थान स्वतः प्राप्त हो जाता है।

सोलह वर्ष तक अणुव्रत का कार्यक्रम व्यक्ति के स्तर पर चला है। अब हम इसे सामूहिक स्तर पर चलाना चाहते हैं। अणुव्रती परिवार, अणुव्रती गांव—इस प्रकार इसे सामुदायिक रूप देना आवश्यक है। जीवन पद्धति का परिवर्तन व्यक्तिशः नहीं हो सकता, सामूहिक परिवर्तन होने से ही वह हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में

मानसिक शिक्षण की आवश्यकता हिन्दुस्तान को ही नहीं है उसकी अपेक्षा उन राष्ट्रों को भी है जो भौतिक और वैज्ञानिक विकास के शिखर पर हैं। आप सोचेंगे, वहां भी बहुत धर्म हैं फिर अणुव्रत क्या अधिक करेगा? मैं आपसे स्पष्ट कहना चाहता हूं कि धर्म आज यह काम नहीं कर सकता। उसके साथ सम्प्रदाय के इतने कर्मकाण्ड एवं ऐसी अवैज्ञानिक परम्पराएं जुड़ी हुई हैं कि वह आज वैज्ञानिक युग को प्रभावित नहीं कर सकता।

अणुव्रत का कार्यक्रम आध्यात्मिक या धार्मिक होते हुए भी किसी कर्मकाण्ड या परम्परा से जकड़ा हुआ नहीं है। यह मनुष्य की मूलवृत्तियों के परिमार्जन का कार्यक्रम है। इसलिए यह वैज्ञानिक युग को प्रभावित कर सकता है। मैं चाहता हूं

कि अणुव्रत का यह नया अध्याय अन्तर्राष्ट्रीय मैत्र से सम्बद्ध हो।

कार्य-पद्धति

मुख्य रूप से अब तक अणुव्रत की कार्य पद्धति प्रचारात्मक रही है, अब प्रचार की आवश्यकता नही रही, यह तो मैं नही मानता। किन्तु यह अनुभव करता हू कि अब रचनात्मक पद्धति का विकास भी अपेक्षित है। अनैतिकता और नैतिकता के परिणामो से लोग परिचित हुए हैं। किन्तु इतने मात्र से व अनैतिकता को छोडने और नैतिकता को अपनाने मे क्षम नही हो सकते। इसके लिए उन्हे प्रशिक्षण देना और प्रायोगिक जीवन का अभ्यास कराना आवश्यक है। इन सारे उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अणुव्रत विहार की स्थापना हुई है। वह इन सारी प्रवृत्तियो को क्रियान्वित करने के लिए अपनी योजनाए तयार कर रहा है।

कार्यकर्त्ता

अणुव्रत के कार्यकर्त्ता दो श्रेणी के है—एक मुनि और दूसरे गृहस्थ। मुनि अपनी साधना करते हुए हिन्दुस्तान के सुदूर प्रांतो तक विहार करते हैं। नैतिक विकास का प्रयत्न भी साधना है। इसलिए वे उस दिशा म प्रयत्न करत ह। हमारे साधु साध्वियो ने अणुव्रत कार्यक्रम को जितना आग बढाया है, उतना दूसरे लोग सभवत लाखो रुपये लगाकर भी नही बढा पाते।

गृहस्थ कार्यकर्त्ताओ का सहयोग भी अणुव्रत को मिला है, पर जितना मिला है उससे और अधिक अपेक्षित है। आज एसे कार्यकर्त्ताओ की अपेक्षा है, जिनका लक्ष्य हो अपना नतिक विकास और जिनका कार्यक्रम भी जनता के नैतिक विकास पर आधारित हो।

कार्य की गति

अणुव्रत क काम की गति बहुत धीमी नही तो बदलते हुए जमाने के साथ चल सके, उतनी तेज भी नही है। इसके साधन सीमित हैं इसलिए हर क्षेत्र मे तेजी से चलना कठिन हो रहा है, यह चिन्तनीय है।

आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक परिवर्तनो से अपरिचित रहकर अणुव्रत के कार्यकर्त्ता नतिकता की बात करें तो उनकी बात का युग मानस पर कोई प्रभाव नहा होगा। उन्हे इन सारी प्रवृत्तियो के गुण-दोषो को समझकर नतिक विकास का कार्यक्रम प्रस्तुत करना चाहिए। ऐसा करने पर ही अणुव्रत की गति युग की गति के साथ हो सकती है।

नयी आचार संहिता

अणुव्रत का सोलहवर्षीय अध्याय समाप्त हो चुका है। दूसरा अध्याय प्रारम्भ हो रहा है। आचार-संहिता के परिवर्तित रूप में केवल अणुव्रत है, आन्दोलन नहीं है। हमारे भावी कार्यक्रम में भी आन्दोलन का स्थान गौण और रचनात्मक प्रवृत्तियों का स्थान मुख्य होगा।

नयी आचार-संहिता शब्दों की अपेक्षा विवेक जागरण पर आधारित है। इसमें अभ्यासात्मक या साधनात्मक संभावना को अधिक सुरक्षित रखा गया है। बौद्धिक जनता के लिए यह अधिक उपादेय होगी।

अणुव्रती, अणुव्रत के समर्थक, अणुव्रत के कार्यकर्ता—सभी लोगों को इस शुभ अवसर पर मैं साधुवाद देता हूं कि वे नैतिकता की लौ को प्रदीप्त रखने के लिए कृतसंकल्प हैं।

अणुव्रत आन्दोलन का भावी चरण

अणुव्रत आन्दोलन दो दशक पूरे कर तीसरे दशक मे प्रवेश कर रहा है। गत दो दशकों में उसने जो किया है वह उसकी शक्ति के संदर्भ में पर्याप्त है पर अपेक्षा के संदर्भ में पर्याप्त नहीं है। आज के विश्व को नैतिकता की बहुत अपेक्षा है। उसकी पूर्ति के लिए जो किया उससे हजार गुना कार्य करना जरूरी है। अगले दशक में अधिक त्वरता से अधिक कार्य करना है इसी संकल्प के साथ हम उसका अभिनन्दन कर रहे हैं।

नैतिकता की समस्या

नैतिकता की समस्या समाज की स्थायी समस्या है। वह अतीत में रही है, आज है और यह भविष्यवाणी नहीं की जा सकती कि वह भविष्य में नहीं रहेगी। क्योंकि मनुष्य के मन में अपने और पराये का भेद बद्धमूल है। वह अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरों की सुख-सुविधा की उपेक्षा करता है। वह अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिए दूसरों से अतिरिक्त बनने की स्थिति उत्पन्न करता है। ये दोनों कारण उसकी अनैतिकता के मूल स्रोत हैं।

नैतिकता की समस्या है और वह मनुष्य की अपरिमार्जित आकांक्षा से जीवित है। उसे मानवीय आकांक्षा का परिमार्जन करके ही सुलझाया जा सकता है। स्व और पर की दूरी जितनी कम होती है उतनी ही अनैतिकता कम हो जाती है। इसी सत्य को ध्यान में रखकर अणुव्रत-आन्दोलन के परिपार्श्व में मानवीय एकता का स्वर प्रबल किया गया।

जिन लोगों में राष्ट्रीय एकता की अनुभूति प्रबल हुई है वे लोग नैतिकता के क्षेत्र में दो कदम आगे बढ़े हैं। जिनके साथ अपनत्व का तार जुड़ जाता है उनके प्रति अनैतिकता का व्यवहार नहीं किया जा सकता। अनैतिक व्यवहार भेद की अनुभूति में ही होता है।

जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय सीमाओं को व्यापक किए बिना मानवीय

एकता के विचार को आगे नही बढाया जा सकता। इस दृष्टि से अणुव्रत ने जनता के सामने एक चिन्तन सूत्र प्रस्तुत किया। वह यह है— मैं सबसे पहले मनुष्य हू, फिर और और हू। इसलिए मैं दूसरे मनुष्यो के साथ मनुष्य की भूमिका का अतिक्रमण करने वाला कोई व्यवहार नही करूगा।'

इस व्यापक अनुभूति के द्वारा अनतिकता की पकड को शिथिल किया जा सकता है।

नतिक विकास मे धार्मिक अवरोध

यह अधकार सूय ने फैलाया है, इस वाक्य मे जितना अन्तर्विरोध है उतना ही अतर्विरोध इसमे है कि धम न अनतिकता का पाला पोसा है। सूय से अधकार नष्ट होता है और धम से अनतिकता समाप्त होती है, फिर भी धम की वतमान धारणा ने ऐसा नही किया है, इससे विपरीत किया है। धार्मिक लोगो ने धम का उपयोग नैतिकता के अस्त्र के रूप म नही, किन्तु अनतिकता पर पर्दा डालने के रूप मे किया है। एक ओर जीवन म धम चलता है और दूसरी ओर अनतिक व्यवहार चलता है। अनतिक व्यवहार इस धारणा के आधार पर चलता है कि उसके बिना गहस्थी का काम नही चलता। धम इस धारणा से चलता है कि जीवन म जो भी अनुचित काय होता है उसका धम के प्रताप से फल न मिले। इसका अथ यही हुआ कि जीवन म अनतिकता भी चलती रहे और धम भी चलता रहे। क्या यह सूय से फैलने वाला अधकार नही है? क्या यह धम से पलने पुसने वाली अनतिकता नही है?

अणुव्रत ने धम के क्षेत्र म फली हुई ऐसी अनेक भ्रान्त धारणाओ का निरसन किया है और जनता को यह समझाने का प्रयत्न किया है कि धम की पहली कक्षा नतिकता है। जिस व्यक्ति ने नतिकता की कक्षा म प्रवेश नही पाया है वह धम की अगली कक्षा म प्रवेश नही पा सकता।

अणुव्रत-आन्दोलन ने नतिक विकास के लिए धम क्रान्ति का आह्वान किया है।

विचार-क्रान्ति की मजिल

गत दो दशको म हमने विचार क्रान्ति की मजिल तय की है। इस अवधि म मैंने, मेरे सहयोगी साधु सघ ने और अणुव्रत-कायकर्त्ताओ ने लम्बी-लम्बी यात्राए की है। नैतिकता की समस्याओ का अध्ययन किया है, उन पर विमश किया है और इस निष्कष पर पहुचे हैं कि अनतिकता केवल परिस्थिति की उपज नहीं है।

मनुष्य की स्वार्थ मनोवृत्ति, अनैतिक आचरण के परिणाम का अज्ञान और त्रुटिपूर्ण सामाजिक व राजकीय व्यवस्था, ये सब मिलकर अनैतिकता को जन्म देते हैं। केवल व्रत (अध्यात्म) से नैतिकता विकसित हो जाएगी, ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। स्वार्थ का विसर्जन, नैतिकता के लाभ का बोध और सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था के होने पर नैतिकता विकसित हो सकती है। इस पूरी प्रक्रिया से पूर्व विचार क्रांति की आवश्यकता है। जनता का मानस बदले बिना किसी परिवर्तन की संभावना नहीं की जा सकती। अणुव्रत-आन्दोलन ने नैतिक विकास के लिए विचार क्रान्ति की है और जनता को अनैतिकता और नैतिकता के परिणामों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया है। मैं समझता हूं कि इस मंजिल को हम एक सीमा तक पार कर चुके हैं। अब हमें अगली मंजिल के लिए तैयारी करनी चाहिए।

संघर्ष की तैयारी

स्वयं नैतिक बन जाना अच्छी बात है पर आज के समुदायनिष्ठ सामाजिक जीवन में यह पर्याप्त नहीं है। यदि नैतिक व्यक्ति में अनैतिकता से लड़ने की शक्ति न आयी तो अनैतिकता नैतिकता को कभी आगे नहीं आने देगी। शक्ति नैतिक लोगों के हाथ में हो, नैतिक विकास के लिए यह अत्यन्त जरूरी है। अर्थ और सत्ता की शक्ति अनैतिकता के हाथों में जाए और नैतिकता में निष्ठा रखने वाले चाहें कि नैतिकता का विकास हो, पर यह कैसे होगा? आकर्षण का केंद्र वही होगा, जिसके पास शक्ति है और विकास भी उसी का होगा जिसके प्रति जनता का आकर्षण है। नैतिकता के प्रति इसीलिए जनता का आकर्षण नहीं है कि शक्ति का बहाव उसकी ओर नहीं है। क्या स्थिति को बदलना जरूरी नहीं है? यदि है तो क्या संघर्ष के बिना उसे बदला जा सकता है? यदि नहीं बदला जा सकता तो क्या नैतिकता का स्वप्न देखने वालों को संघर्ष के लिए तैयार नहीं रहना चाहिए? मुझे विश्वास है कि इस प्रश्न का उत्तर कोई भी चिंतनशील व्यक्ति नकार में नहीं देगा।

संघर्ष कैसे किया जाए?

अनैतिकता के साथ संघर्ष करने की पद्धति भी नैतिक होनी चाहिए। उसका पहला कदम है—स्वार्थों का विसर्जन करने की क्षमता।

दूसरा है—प्रेम और मैत्री का विकास। जिसके प्रति संघर्ष करना है, उनके प्रति हृदय में अगाध प्रेम और मैत्री का भाव होना चाहिए।

तीसरा है—कठोर संयम और कष्ट सहिष्णुता।

चौथा है—धैर्य और मानसिक संतुलन।

पांचवां है—विवेकपूर्ण निर्णय और मार्गदर्शन। इस पद्धति के सहारे अनैतिकता के विरुद्ध संघर्ष करने वाले कुछेक लोग आगे आए तो शक्ति संतुलन नैतिकता के हाथों में होगा।

अणुव्रत-सेवक-दल

मैं जिस मंजिल की चर्चा करता हूं, वह विचार क्रान्ति के बाद की मंजिल है। तीसरे दशक में आन्दोलन को इसकी ओर बढ़ाना है। आज मैं केवल उसकी ओर इंगित कर रहा हूं। उसका पूरा कार्यक्रम तभी निर्धारित होगा, जब इस काम के लिए समर्थ अणुव्रत-सेवकों का एक दल तैयार हो जाएगा। दशक के प्रारम्भ में हम 'अणुव्रत-सेवक-दल' का निर्माण करना है। अणुव्रती में अनैतिकता से बचने की शक्ति हो, यह स्वाभाविक बात है। किन्तु प्रत्येक अणुव्रती में अनैतिकता से संघर्ष करने की क्षमता की संभावना नहीं की जा सकती। यह क्षमता उन्हीं लोगों में होगी, जो सेवक का जीवन स्वीकार करेंगे। अणुव्रत के संदर्भ में सेवा का अर्थ होगा—अपने और पराये की दीवार को तोड़कर मनुष्य मात्र में अपनेपन का अनुभव करना और सबके साथ अपनत्व का व्यवहार करना।

अणुव्रत सेवक प्रत्येक सामाजिक सहयोग को एक परिवार या भाईचारे की भावना के आधार पर सम्पन्न करेगा। उसके सामने आदर्श होगा कि सब मनुष्य एक परिवार के सदस्य हैं। असमर्थ सदस्य को सहारा देना उसी भावना पर अवलंबित होगा, जिसके सहारे बड़ा भाई छोटे भाई को सहारा देता है। अणुव्रत-सेवक अपने को उसी परिवार का एक सदस्य मानेगा जिस परिवार के लोग उसके सहयोग की अपेक्षा रखते हैं। मेरा दृढ़ अभिमत है कि इस कोटि का सेवक इतनी नैतिक शक्ति अर्जित कर लेगा कि उसके सामने अर्थ और सत्ता की शक्ति अभिभूत हो जाएगी। अणुव्रत कार्यकर्ताओं को अब इस दिशा में प्रयत्न करना होगा और मुझे विश्वास है कि उसके प्रयत्न बहुत सफल होंगे।

गतिशील प्रक्रिया

अणुव्रत-आन्दोलन सतत गतिशील प्रक्रिया है। वह किसी परम्परा या उपासना-पद्धति से आबद्ध नहीं है, इसलिए वह व्यापक है। इसमें उन लोगों के लिए अधिक अवकाश है जो व्यापक दृष्टि से सोचते हैं। जातीयता और साम्प्रदायिकता के कटु परिणाम हमने देखे हैं। उनके कारण धर्म भी दूषित-सा हो रहा है।

वर्तमान का राजनीतिक वातावरण भी स्वस्थ नहीं है। मैं जब विगत वर्ष

की घटनाओं का सिंहावलोकन करता हूं तो मुझे लगता है कि संकल्पी (प्रयोजन शून्य) हिंसा की गति तीव्र हो रही है। महात्मा गांधी ने दो दशक तक जहां से अहिंसा का संदेश दिया, उसी साबरमती आश्रम के आस पास साम्प्रदायिकता का भद्दा प्रदर्शन हुआ और वह तब हुआ जब महात्मा गांधी की शताब्दी मनाई जा रही थी और उसके अहिंसा-संदेश का विदेशों तक प्रसार किया जा रहा था।

इस प्रकार की घटनाओं को देखकर क्षणभर के लिए पर रुक जाते हैं। गांधीजी के प्रयत्नों का यह परिणाम आया तब क्या हमारे प्रयत्नों का इससे भिन्न परिणाम आएगा? फिर दूसरे क्षण सोचता हूं कि मनुष्य अपूर्ण है, उसे सहज ही पूर्ण नहीं बनाया जा सकता, किंतु उसकी अपूर्णता के सामने पूर्णता की दिशा न खोली जाए तो वह अधिक भयंकर हो सकती है। यदि हमारे पूर्वजों ने अहिंसा के प्रयत्न नहीं किए होते तो संभवतः मनुष्य और अधिक क्रूर हो जाता। इस चिंतन से यह प्रेरणा मिलती है कि हम अहिंसा और अपरिग्रह की दिशा को उन्मुक्त करना चाहिए और वर्तमान परिस्थिति के संदर्भ में और तीव्रता से करना चाहिए।

प्रस्तुत अधिवेशन

पिछला अधिवेशन मद्रास में हुआ था, यह बंगलौर में हो रहा है। मद्रास से बंगलौर बहुत दूर नहीं है पर हम बहुत लम्बी दूरी को पार कर यहां पहुंचे हैं। यात्रा के मध्य हमने देखा, अणुव्रत के प्रति जनता में आकर्षण है। बहुत लोग नैतिक विकास के लिए उत्सुक हैं। उन्हें यदि सहज मार्ग दर्शन मिले तो वे इस दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। अणुव्रत कार्यकर्ताओं की शक्ति और साधन सामग्री सीमित है इसलिए बहुत बड़ा काम उठा लेना भी संभव नहीं है पर जितना भी कार्य हो, वह सुनियोजित व व्यवस्थित ढंग से हो तो अल्प प्रयत्न भी बहुत परिणाम ला सकता है।

अणुव्रत आन्दोलन के प्रसार में जो प्रमुख शक्ति काम कर रही है वह साधु साध्वी वर्ग है। उसके वर्ग सुदूर क्षेत्रों में जाते हैं और जनता को अणुव्रत की ओर आकृष्ट करते हैं। इस वर्ष भी अनेक वर्गों ने अच्छा काम किया है। अणुव्रत कार्यकर्ता कार्य करते हैं पर यह कहना वस्तुस्थिति के साथ न्याय नहीं होगा कि वे अपने निजी कार्यों में इतने व्यस्त हैं कि आन्दोलन के लिए सीमित ही समय निकाल पाते हैं। अब यह बहुत जरूरी हो गया है कि कुछ कार्यकर्ता अपने स्वार्थों का विसर्जन कर आगे आएं।

दूसरे समानधर्मी आन्दोलनों के द्वारा भी इस वर्ष हमें अच्छा समर्थन और सहयोग मिला है। सर्वोदय आश्रम में हमारा चातुर्मासिक प्रवास उसी का एक

उदाहरण है। मैं चाहता हूँ कि इस दिशा में हमारी खोज और अधिक बढ़नी चाहिए और समाज शिक्षा में हमारे कदम एक साथ आगे बढ़ने चाहिए।

तमिलनाडु, केरल व मसूर का राज्य सरकारों ने अणुव्रत के व्यापक स्वरूप का यथार्थ मूल्यांकन किया और उसके प्रसार को मानवता के हित में माना और उसे उचित सुविधाएं दीं, यह सब आंदोलन के लिए तुष्टि का विषय है।

तमिलनाडु, केरल और मसूर के समाचारपत्रों ने आंदोलन को काफी सहयोग किया है। उत्तर भारत के समाचारपत्रों ने भी इस दिशा में कुछ काम किया है। मुझे लगता है कि यह समय की मांग है, मानवता की अपेक्षा है। इसलिए सभी वर्गों के लोग इसमें हमारा सहयोग कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि जैसे जैसे हमारा काम आगे बढ़ेगा, वैसे वैसे जनता का सहयोग भी बढ़ता जाएगा। यह सबका काम है, सबके हित में है और सबके द्वारा करने का है। इस वर्ष में इसकी और विशेष उपयोगिता होगी।

अणुव्रत-प्रेरित समाज-रचना

अणुव्रत आन्दोलन का प्रस्तुत अधिवेशन राजनीतिक संक्रमण-काल में हो रहा है। लोकसभा भंग हो चुकी है। नये चुनाव सामने हैं। लोकतन्त्र में चुनाव होते रहते हैं पर वर्तमान चुनाव एक विशेष स्थिति से जुड़ा हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि यह इसका निर्णायक होगा कि हिंदुस्तान समाजवादी व्यवस्था को लाना चाहता है या आर्थिक विषमता को पूर्ववत बनाए रखना चाहता है।

युग का चिंतन इतना आगे बढ़ चुका है कि अब कोई भी दल आर्थिक विषमता का खुला समर्थन नहीं कर सकता। किन्तु मैं नहीं समझ पा रहा हूं कि क्या सभी समस्याओं का हेतु केवल आर्थिक विषमता ही है। वह बहुत बड़ा हेतु है, इसे मैं मानता हूं किन्तु एकमात्र हेतु नहीं मानता।

समस्या का एकमात्र हेतु है वैचारिक विपर्यय। मनुष्य का दृष्टिकोण सही हो, विचार की भित्ति यथार्थ हो तो क्या आर्थिक विषमता टिक सकती है? वह इसीलिए टिक रही है कि मनुष्य का दृष्टिकोण यथार्थ नहीं है।

जाति भेद और रंग भेद की समस्या आज भी उग्र है। मनुष्य के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण सही नहीं है, इसीलिए वह चल रही है। अमरीका जैसा सभ्य और सुसंस्कृत देश आज रंग भेद की समस्या में उलझ रहा है। हिंदुस्तान जैसा धार्मिक देश आज जाति भेद की समस्या से संत्रस्त है। गरीबी भी इसीलिए चल रही है कि मनुष्य के प्रति मनुष्य में पूर्ण प्रेम नहीं है, करुणा नहीं है।

बेरोजगारी मिटाने के लिए श्रम, बुद्धि, परंपरा मुक्त विचार और उचित संयोजन आवश्यक है। इनके होने पर भी गरीबी रहती है यानी कुछ लोग बहुत संपन्न हो जाते हैं और कुछ लोग बहुत विपन्न—इसका कारण प्रेम का अभाव ही है। यदि बौद्धिक क्षमता से संपन्न लोगों में अक्षम लोगों के प्रति प्रेम हो तो यह विषमता की स्थिति नहीं आ सकती। चालीस व्यक्तियों के परिवार को एक सक्षम व्यक्ति पाल लेता है। उसका हेतु क्या है? यही तो है कि परिवार को वह अपना मानता है और उसके प्रति प्रेम का सूत्र जुड़ा रहता है।

आज उस प्रेम को विस्तार देने की आवश्यकता है। समूचे समाज को एक

परिहार मान लेने की आवश्यकता है। राजनीति के विचारक मई दशक पूव मा
चके हैं। आश्चय और खेद है कि धम के विचारक आज भी इस सत्य का स्वीका
नहीं कर रहे हैं। यदि आर्थिक समानता की बात किसी धार्मिक मच से आती त
बहुत स्वाभाविक होती, किन्तु एसा नहीं हुआ।

अपरिग्रह और असग्रह के सिद्धात की स्थापना भगवान महावीर ने प्रखर रू
म की। अन्य धर्माचार्यों ने भी उनका साथ दिया। किन्तु समाज के क्षेत्र म उसक
व्यावहारिक प्रयोग किसी धार्मिक ने नहीं किया।

बुभुक्षित किं न करोति पापम ?
भूखे भजन न होहिं गोपाला !

हमारे कवि और शास्त्रकार इस सत्य की अनुभूति करते रहे पर उसक
समाधान खोजने की दिशा का उद्घाटन नहीं किया।

आज का युग उसके समाधान का सिंहद्वार खोल चुका है। अब गरीब
ईश्वरीय इच्छा न होकर मनुष्यकृत समाज व्यवस्था की त्रुटियों का परिणा
प्रमाणित हो चुकी है। अब दीनता का सहारा देने वाला चिंतन निरस्त हो चुक
है। आज का चिंतन है—त्रुटिपूर्ण समाज व्यवस्था को बनाए रखकर दीनता क
सहारा मत दो किंतु उसका परिमार्जन करो।

इस परिमार्जन के युग में हर व्यक्ति को नया दृष्टिकोण अपनाने क
आवश्यकता है। दीन वग का धम पुण्य के नाम पर उद्धार की पुरानी धारणा म प्राय
सुधार हो गया है। समाज के समथ वग द्वारा इन वर्गों के लोग म विपन्न वग
उत्तेजित हुआ है। फलत उनम हिंसा उभरी है। इस हिंसा को उभारने के दो
का प्रायश्चित्त उन कारणों को निरस्त करके ही किया जा सकता है। मैं वर्तमान
म हो रहे परिवतन को बहुत बडा सुधार नहीं मानता मात्र अतीत की भूलों क
प्रायश्चित्त मानता हू।

भूल की अनुभूति हुए बिना प्रायश्चित्त कम हो सकता है ? अनुभूति होने पर
भी भविष्य म उसकी पुनरावृत्ति न करने का सकल्प किए बिना प्रायश्चित्त कैसे
हो सकता है ? अणुव्रत इन दोनों की भूमिका पर खड़ा होकर अपना चिंतन प्रस्तुत
कर रहा है। चिंतन की दिशा में वह आगे भी बढ़ा है। अब उसे सफल करना है।
चिंतन की सफलता की कसौटी है क्रिया। क्रिया और क्या है ? चिंतन का चरम-
बिंदु ही क्रिया है।

अणुव्रत के कायकर्ताओं को अब चिंतन का प्रयोग की भूमिका पर लाना है।
मनुष्य जाति एक है—यह अणुव्रत का मुख्य सिद्धांत है। क्या यह कोरा आदश
है या व्यावहारिक भी है ? यदि व्यावहारिक है तो वह फलित कैसे हो सकता है ?
मानवीय व्यक्तित्व के दो रूप हैं—आंतरिक और बाह्य। धम ने आंतरिक व्यक्तित्व
म समानता लाने का दिशा बोध भी दिया है। अर्जित संस्कारों एव आवरणों को

क्षमता का अभ्यास करने पर आन्तरिक समानता साधी जा सकती है। अणुव्रत का आन्दोलन इस माध्यम से यह काम करता है, वह परम्परा से हट कर नहीं आध्यात्मिक स्तर पर करता है।

दूसरी बात—अणुव्रत ऐसे समाज की रचना करना चाहता है, जिसमें मनुष्य जाति की एकता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब हो। उसके मुख्य आधार चार हो सकते हैं—नैतिक निष्ठा, प्रेम, सहानुभूति और अनाग्रही दृष्टिकोण।

नैतिक निष्ठा के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी के हितों का विघटन करता है। उसे ठगता है। उसका शोषण करता है।

प्रेम के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी से घृणा करता है। उसे हीन मानता है, तिरस्कृत करता है।

सहानुभूति के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी की कठिनाइयों की उपेक्षा करता है। अपने ही सुख-दुःख की समस्या को प्राथमिकता देता है।

अनाग्रही दृष्टिकोण के अभाव में मनुष्य वैचारिक स्वतन्त्रता का हनन करता है। मतभेद के आधार पर एक-दूसरे को कुचलने का प्रयत्न करता है।

आज का विश्व दो समस्याओं का सामना कर रहा है। विश्व का एक भाग व्यक्तिगत स्वामित्व का विसर्जन कर सामुदायिक व्यवस्था चला रहा है। उसे व्यक्तिगत आर्थिक विकास की प्रेरणा की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। व्यक्तिगत लाभ से जो आर्थिक विकास की प्रेरणा मिलती है, वह सामुदायिकता के क्षेत्र में अपनी तीव्रता खो देती है।

विश्व का दूसरा भाग व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था चला रहा है। उसे गरीबी तथा आर्थिक वैषम्य की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। क्या विसर्जन इन दोनों समस्याओं का समाधान है? उसमें व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था का लाभ भी रहता है और अतिरिक्त संग्रह की बुराई भी नहीं रहती। किन्तु विसर्जन ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं है। इसलिए उसको सामुदायिक बनाना कठिन है। इस दुनिया की प्रकृति ही ऐसी है कि कोई भी वस्तु पूर्णरूपेण कठिनाई से मुक्त नहीं होती।

पूर्वोक्त दोनों प्रयोग राज्यीय व्यवस्था द्वारा संचालित हैं। विसर्जन का प्रयोग किसी तंत्र द्वारा नहीं, एक नैतिक प्रेरणा द्वारा संचालित हो सकता है। अणुव्रत को अवश्य ही इसका संचालन करना है। मनुष्य जाति की एकता और विसर्जन—ये दोनों अणुव्रत प्रेरित समाज रचना के मुख्य सूत्र हैं। इस प्रकार की समाज रचना समतावाद के अनुकूल ही नहीं होगी, अपितु उससे उत्पन्न क्रिया और प्रतिक्रिया की समस्याओं का समाधान देने वाली होगी।

यह बहुत बड़ा काम है, बहुत जटिल और बहुत श्रम साध्य। इसकी संपूर्ति के लिए दृढ़ निष्ठा, दृढ़ संकल्प और दृढ़ अध्यवसाय लेकर चलने वाले कार्यकर्ताओं

की आवश्यकता है। विभक्त निष्ठा वाले कायकर्ता बहुत नही कर पाते। ऐसे कायकर्ताओं की उपलब्धि या निर्माण आवश्यक है। अब परिस्थितिया इतनी तेजी से बदल रही हैं कि इस काय मे विलम्ब क्षम्य नही है। कालातिक्रात काय स्वय अर्थहीन हो जाता है। क्या मैं आशा करू कि अणुव्रत के कायकर्ता इस पर गम्भीरतापूवक विचार करेंगे?

युग-चेतना की दिशा : अणुव्रत

मैं शाश्वत के प्रति आस्थावान हूं और इसीलिए हूं कि परिवर्तन को मैं ध्रुव सत्य मानता हूं। सत्य का अर्थ शाश्वत परिवर्तन नहीं है। उसका अर्थ है शाश्वत और परिवर्तन का समन्वय।

युग कोरा वर्तमान नहीं है। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य का योग है। जो व्यक्ति वर्तमान पर अतीत के प्रभाव को नहीं जानता, वह युग की गति को नहीं जान सकता। जो व्यक्ति वर्तमान क्रिया के भावी परिणाम को नहीं जानता वह युग की गति को नहीं जानता। मैंने युग को अतीत, वर्तमान और भविष्य के संदर्भ में समझने का विनम्र प्रयत्न किया है।

युग-सन्दर्भ में नैतिकता

मैंने देखा—विगत पीढ़ी की समझ का फल वर्तमान पीढ़ी भोगती है और वर्तमान पीढ़ी की समझ का फल भावी पीढ़ी। इसी प्रकार विगत पीढ़ी की भूलों का परिणाम वर्तमान पीढ़ी और वर्तमान पीढ़ी की भूलों का फल भावी पीढ़ी भोगती है। यह जितना दार्शनिक सत्य है उतना ही ऐतिहासिक तथ्य है।

विगत पीढ़ी के बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है। वर्तमान पीढ़ी का अपना और भावी पीढ़ी का—दोनों का कल्याण उसी के हाथ में है। इसलिए उसी की समस्याओं पर हमें विचार करना चाहिए।

वर्तमान पीढ़ी के सामने सर्वोपरि समस्या मूल्य-परिवर्तन की है। समाज का समूचा व्यवहार मूल्यों के आधार पर चलता है। जिस समय पुराने मूल्य विस्थापित और नए मूल्य प्रस्थापित होते हैं, वह समय सर्वाधिक संकट का होता है। वर्तमान पीढ़ी इस संकटकाल से गुजर रही है।

इस अधिवेशन की वेला में मैं सब लोगों से एक बात कहना चाहता हूं कि वे स्थायी मूल्यों का अवमूल्यन न करें। नैतिकता समाज का स्थायी मूल्य है। उसके अवमूल्यन का अर्थ होता है विषमता के बीज का वपन। आज की आर्थिक विषमता

क्या अनीत की अनैतिक धारणाओं का परिणाम नहीं है ? मेरी दृष्टि म आर्थिक विषमता और सामाजिक अन्याय का मूल हेतु अनैतिकता है।

समाज के सन्दर्भ मे नैतिकता

जनता मुझसे युगचेतना का जागरण चाहती है। मैं उससे मर्यादा-बोध की अपेक्षा करता हूँ। मुझे आश्चय होता है कि आज क अनेक प्रबुद्ध लोग नैतिकता को पुराने जमाने की वस्तु मानते हैं। वे मानें और उस अस्वीकार करें। किन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि नैतिकता को नकारने वाला समाजवाद क प्रति आस्थावान नहीं हो सकता।

समाजवाद नैतिक सिद्धान्तो का मूर्त रूप है। उसमे व्यक्ति के सामाजिक हित की निश्चित रेखाए होती हैं जिसे व्यक्ति अर्थ का अर्जन कर सकता है पर एक सीमा से आगे नहीं कर सकता, गलत मूल्यो की पुष्टि के लिए नहीं कर सकता, गलत तरीका से नहीं कर सकता।

विद्यार्थी परीक्षा मे उत्तीर्ण होने के लिए धन का उपयोग करे और अध्यापक उससे धन लेकर उत्तीर्ण करे—क्या यह समाज के हित-पक्ष मे है ?

कुछ लोग इस भाषा मे सोचते हैं कि अध्यापक को जीवन निर्वाह के लिए उचित वेतन नहीं मिलता, तब वह क्या करे ? इस अभाव के बहाने आप अध्यापक के कार्य का औचित्य सिद्ध करते हैं किन्तु विद्यार्थी परीक्षा म उत्तीर्ण होने के लिए धन देता है, क्या वह भी उचित है ? उसे किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। फिर अनुचित काय को सहारा देना उचित कैसे हो सकता है ? अभाव की पूर्ति के लिए उचित साधनो को खोजना एक बात है और उसके लिए अनुचित साधनो को बढ़ावा देना दूसरी बात है।

मूल्य बदलने के साथ समाज की व्यवस्था बदल जानी चाहिए, इस चिंतन म मैं कोई त्रुटि नहीं देखता। व्यवस्था परिवतनशील है, उसे शाश्वत का रूप नहीं मिलना चाहिए। किन्तु व्यवस्था के न बदलने पर नैतिकता का मूल्य बदल देना कदापि उचित नहीं है।

नैतिकता का मूल प्रामाणिकता है। अप्रामाणिक समाज कभी उन्नत नहीं हो सकता। अत वतमान पीढ़ी को प्रामाणिकता की उतनी ही आवश्यकता है जितनी पहले थी और भावी पीढ़ी के लिए यह उतनी ही आवश्यक होगी जितनी आज है।

लोकतंत्र के सन्दर्भ में नैतिकता

लोकतंत्र का मौलिक आधार है व्यक्ति की स्वतंत्रता। व्यक्ति की स्वतंत्रता को समाज सीमित करता है और वह इस आधार पर करता है कि व्यक्ति अपनी हित-साधना के लिए सामुदायिक हितों का हनन न करे।

सामाजिक सन्दर्भ में व्यक्तिगत हितों या स्वार्थों को सीमित करना नैतिकता है। समुदाय के हितों की ओर से उदासीन होकर व्यक्ति अपने हितों की पूर्ति में लग जाता है तब वह अनैतिक हो जाता है। आज की अनेक समस्याएं इस अनैतिक व्यवहार से उभरी हुई हैं।

आज का हिन्दुस्तान समाजवादी समाज की स्थापना की दहलीज पर खड़ा है। इसलिए हर नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह अपनी मर्यादा को समझे और अपने नैतिक मूल्यों को प्राणवान बनाए।

नैतिकता की समग्र ध्वनि

मैं बार-बार नैतिकता की बात कहता हूं विद्यार्थियों के लिए और अध्यापकों के लिए, व्यापारियों के लिए और राज्य कर्मचारियों के लिए, समाजसेवियों के लिए और राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए और उन सबके लिए, जो समाज में जीते हैं और सामाजिक शक्ति का उपयोग करते हैं।

इन सबसे जो प्रामाणिकता की अपेक्षा है, वही अणुव्रत आचार संहिता है। अणुव्रत आचार संहिता नैतिकता की आचार संहिता है।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि सभी लोगों ने नैतिकता के संदेश को सुना है। यह सन्देश किसी सम्प्रदाय का संदेश नहीं है। यह युग का सन्देश है। युग की प्रगति के लिए इसका मनन अत्यन्त आवश्यक है।

विद्यार्थियों की अणुव्रत आचार-संहिता

१ मैं परीक्षा में अवैधानिक तरीकों से उत्तीर्ण होने का प्रयत्न नहीं करूंगा।
२ मैं हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
३ मैं अश्लील शब्दों का प्रयोग नहीं करूंगा व अश्लील साहित्य नहीं पढ़ूंगा।
४ मैं मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
५ मैं रुपये व अन्य प्रलोभन से मत (वोट) न लूंगा और न दूंगा।
६ मैं व्यवहार में सत्य व प्रामाणिकता की साधना करूंगा।
७ मैं माता पिता व गुरुजनों के प्रति विनम्र रहूंगा।

अध्यापकों की अणुव्रत आचार संहिता

१ मैं विद्यार्थी के बौद्धिक विकास के साथ साथ उसके चारित्रिक विकास का ध्यान रखूगा।

२ मैं अवैध उपायों से विद्यार्थी के उत्तीर्ण होने में सहायक नहीं बनूगा।

३ मैं अपने विद्यालय में दलगत राजनीति को स्थान नहीं दूगा।

४ मैं मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूगा।

५ मैं शिक्षा प्रसार के लिए प्रतिदिन एक घंटा निःशुल्क सेवा करूगा।

व्यापारियों की अणुव्रत आचार संहिता

१ मैं व्यापार में प्रामाणिक रहूगा।

२ किसी वस्तु में मिलावट कर व नकली को असली बताकर नहीं बेचूगा।

३ मैं तोल माप में कम ज्यादा नहीं करूगा।

४ मैं चोरबाजारी नहीं करूगा।

५ मैं राज्य निषिद्ध वस्तु का व्यापार व आयात निर्यात नहीं करूगा।

६ मैं सौंपी या धरी (बयाना) वस्तु के लिए इनकार नहीं करूगा।

राज्य-कर्मचारियों की अणुव्रत आचार-संहिता

१ मैं रिश्वत नहीं लूगा।

२ मैं अपने प्राप्त अधिकारों का अनुचित प्रयोग नहीं करूगा।

३ मैं अपने कर्तव्य पालन में जान बूझकर विलम्ब या अन्याय नहीं करूगा।

४ मैं मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूगा।

कार्यकर्त्ता की आचार संहिता

१ मैं अपने कार्य में प्रामाणिकता रखूगा।

२ मैं सेवाभाव से रहित स्वार्थ व नाम की भावना से पद ग्रहण नहीं करूगा।

३ मैं मतभेद को मनभेद व विग्रह का रूप नहीं दूगा।

विधायक की आचार संहिता

१ मैं विधान या कानून के निर्माण में निष्पक्ष रहूंगा।
२ मैं किसी एक दल के टिकट से निर्वाचित होकर बिना पुनः चुनाव के दल परिवर्तन नहीं करूंगा।
३ मैं विरोध के नाते विरोध और पक्ष के नाते पक्ष नहीं करूंगा।
४ मैं सदन की शिष्टता का उल्लंघन नहीं करूंगा।
५ मैं राष्ट्र की भावात्मक एकता के विकास में प्रयत्नशील रहूंगा।

समाजवाद का आधार—नैतिक विकास

अणुव्रत के बीसवें वार्षिक अधिवेशन पर मैं आप लोगों से कुछ बात करना चाहता हूं। पहली बात मैं अणुव्रत के सम्बन्ध में ही करूंगा। अणुव्रत आन्दोलन नैतिक व चारित्रिक विकास का आन्दोलन है। यह मानव मानव के बीच होने वाले सम्बन्ध में परिवर्तन लाने का आन्दोलन है। मानवीय सम्बन्धों की पवित्रता के मामले में कभी हिन्दुस्तान बहुत आगे था, पर आज उसकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है।

बादशाह खान अभी हिन्दुस्तान के अतिथि हैं। एक अतिथि दूसरे देश के बारे में ऐसी बातें नहीं कह सकता जो बादशाह खान ने कही हैं। वे अतिथि की अपेक्षा आत्मीय अधिक हैं। उन्हें महात्मा गांधी और पं० नेहरू के देश की स्वार्थ लोलुपता, सत्ता-लोलुपता और अर्थ-लोलुपता से बड़ा कष्ट हुआ है। वे गांधी और नेहरू के देश को त्यागी और निःस्वार्थ भाव से कार्यरत देखना चाहते थे। किन्तु उन्हें उनकी कल्पना का हिन्दुस्तान देखने को नहीं मिला। अणुव्रत आंदोलन दो दशकों से इसी समस्या को जनता के सामने प्रस्तुत करता रहा है। जिस देश के चरित्र में मानवीय सम्बन्धों की स्वस्थता, सहयोग, निःस्वार्थ कर्म और त्याग की भावना समाप्त हो जाती है, वह कभी भी शक्तिशाली और आत्म-निर्भर नहीं हो सकता। वर्तमान स्थिति के संदर्भ में मुझे लगता है कि आन्दोलन को और अधिक सक्रिय होना चाहिए तथा इस सत्य की जनता को और अधिक गहरी अनुभूति करानी चाहिए। इस कार्य के लिए अणुव्रत संवाहकों के संगठन की एक योजना तैयार की जा रही है।

अणुव्रत आन्दोलन सामाजिक और आर्थिक वैषम्य की स्थिति समाप्त होने के पक्ष में है किन्तु वह इस पक्ष में नहीं है कि यह कार्य हिंसा के द्वारा किया जाए। इस कार्य के लिए अहिंसा और अपरिग्रह के प्रयोगों को शक्तिशाली बनाना जरूरी है। आज हिन्दुस्तान के सम्पन्न वर्ग के सम्मुख मैं विसर्जन की पद्धति प्रस्तुत करना चाहता हूं। जिनके पास अतिरिक्त अर्थ है वे स्वेच्छा से उसका विसर्जन करें। स्वेच्छा से अपने अधिकृत अर्थ का विसर्जन करना संभव नहीं लगता होगा पर वर्तमान परिस्थिति के दर्पण में जो भावी का प्रतिबिंब देखते हैं उन्हें दिखाई देता

है कि ऐसा करके वे राज्यसत्ता के असीम नियंत्रण और रक्तक्रान्ति से बच सकेंगे। अगले वर्ष में हिंसा की बढ़ती हुई स्थिति और संभावनाओं को कम करने के लिए अणुव्रत आन्दोलन इस दिशा में विशेष प्रयत्न करेगा। समाजवाद लाने वाले कर्णधारों को मैं कहना चाहता हूं कि वे इस बात को न भुलाएं कि नैतिक विकास, त्याग व कठोर जीवन जीने की परम्परा डाले बिना समाजवाद का स्वप्न कभी पूरा नहीं हो सकेगा।

इस अवसर पर मैं आपका ध्यान दूसरे तथ्य की ओर खींचना चाहता हूं वह है भगवान महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी जो सन् १९७४ में मनाई जाएगी। भगवान महावीर अहिंसा, अपरिग्रह, सहअस्तित्व, समानता तथा जातीय और साम्प्रदायिक एकता के सिद्धान्त के महान प्रवर्तक थे। उनकी पच्चीसवीं शताब्दी मनाने का अर्थ है मानवता के महान प्रवक्ता के चरणों में कृतज्ञतापूर्ण श्रद्धांजलि समर्पित करना। इसके लिए जैन समाज प्रयत्नशील है ही और एक प्रतिनिधि समिति भी बनी है, जिसका कार्यालय बम्बई में है। यह समिति साहित्य की एक बड़ी योजना को क्रियान्वित करने में संलग्न है। केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार भी अपने कर्तव्य के विषय में सोच रही हैं ऐसा ज्ञात हुआ है। किन्तु इस विषय में उनका ध्यान आकृष्ट करना मैं जरूरी समझता हूं कि सरकार अपने कर्तव्य का ध्यान में रखते हुए इस पर तत्परता से विचार करे।

इस पुण्य जयंती पर हमारे संघ ने जैन विश्व भारती की स्थापना का संकल्प लिया है। यह संस्थान विशाल दृष्टिकोण से समग्र भारतीय विचारधारा के गम्भीर अध्ययन व शोध की व्यवस्था करेगा। इसकी रूपरेखा आपके हाथों में आने वाली है।

चरित्र विकास, नैतिक विकास व अन्य कार्यों की क्रियान्विति के लिए एक युवक परिषद की स्थापना की गई है। यह संगठन बहुत ही उदार व व्यापक दृष्टिकोण से कार्य कर रहा है। मुझे आशा है कि हमारी भावी कल्पनाओं में यह बहुत योग देगा।

अहिंसा के तीन मार्ग

मेरे यहां आगमन पर मेरा नागरिकों द्वारा स्वागत व अभिनंदन किया गया। मैं इस अपना स्वागत नहीं मानता। यह सत्य और अहिंसा का स्वागत है।

मुझे प्रसन्नता है कि मैं आज प्रेस प्रतिनिधियों के बीच में हूं। मैं प्रेस प्रतिनिधियों को नारद की भाषा में पवनदूत मानता हूं। एक प्राचीन कवि की भाषा में सुगंध पुष्प में होती है किन्तु उसे फैलाने का काम पवन करता है। अणुव्रत में मानवधर्म की सुगंध है उसे फैलाने के लिए आपका बहुत बड़ा दायित्व है। मुझे आशा है उस दायित्व को आप पूर्णरूपेण निभाएंगे।

पिछले तीन पचीस वर्षों से अणुव्रत का कार्य चल रहा है। भावनात्मक एकता, धार्मिक सद्भावना व सहिष्णुता तथा नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना के लिए अणुव्रत निरंतर कार्य करता रहा है। मैं और मेरे लगभग सात सौ साधु साध्वियां तथा अनेक कार्यकर्त्ता इस कार्य में संलग्न हैं। इसी कार्य को ध्यान में रखकर मैंने पंजाब से कन्याकुमारी तक लगभग चालीस हजार मील की पदयात्रा की। मेरे शिष्यों ने भी हजारों हजार मील की पद-यात्रा की है।

साम्प्रदायिक संकीर्णता, रूढ़िवाद और प्राचीनता के मोह से जर्जरित हिन्दुस्तान आज भी प्रगति से वंचित है। इस देश की नौका को खेने के लिए एकमात्र राजनीति और राजनीतिज्ञ आगे आ चुका है। यह देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। इसलिए आज हमारे धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों के साथ एक प्रकार की खिलवाड़ हो रही है। मैं चाहता हूं कि देश का भविष्य रचनात्मक कार्य करने वाले संस्थानों के हाथों में हो। अणुव्रत एक रचनात्मक कार्य करने वाला संगठन है। देश को ऐसे अनेक संगठन की जरूरत है।

अणुव्रत मानवधर्म व नैतिक मूल्यों की स्थापना के क्षेत्र में आगे बढ़ा था और बढ़ रहा है। इस बार रायपुर में उसके कार्यक्षेत्र में एक बड़ा अवरोध पैदा किया गया। उस अवरोध का सबसे प्रमुख लक्ष्य था—अणुव्रत-कार्य में विघ्न उपस्थित करना। उसमें माध्यम बनाया गया राम और सीता को। राम और सीता हमारे लिए उतने ही श्रद्धास्पद हैं जितने दूसरों के लिए हैं। फिर भी इस

सामने रखकर लोकभावना को उभारा गया और हिंसक उपद्रव किए गए। उस वातावरण मे मैंने रहना उचित नही समझा और हमने चातुर्मास के मध्य ही वहा से प्रस्थान कर दिया।

भगवान महावीर ने अहिंसा के लिए तीन माग बताए हैं—हृदय परिवतन, मौन और एकातगमन। दोनो के बाद मैंने तीसरा माग स्वीकार किया।

जहा तक 'अग्निपरीक्षा' पुस्तक का प्रश्न है मेरी दृष्टि मे उसमे कोई भी आपत्तिजनक अश है ही नही फिर भी वह कुछ नागरिकों द्वारा न्यायालय मे प्रविष्ट है अत उसके विषय मे मैं कुछ कहना नही चाहता। इतना मैं कह सकता हू कि राम और सीता के प्रति अभद्र शब्दो का प्रयोग करने की मैं स्वप्न मे भी कल्पना नही कर सकता। आशा है आप थोडे मे बहुत समझ लेंगे।

इस प्रकार के अवरोध आने पर भी मूल काय को रोका नही जा सकता। उस काय को अब अधिक वेग देने की आवश्यकता है। उसमे आप सबका सहयोग प्राप्त रहेगा।

मानव-मानव का धर्म अणुव्रत

नैतिक और सास्कृतिक मूल्यो की खोज करने वाला समाज प्रकाश की खोज करता है अमृत की खोज करता है और आनन्द की खोज करता है। जिस समाज म नीति और सस्कृति का वचस्व है, वह समाज उन्नत एव समद्ध समाज है। उन्नति और समृद्धि का मानदण्ड बडे बडे भवन मिलें, कारखाने या लम्बे चौडी सडकें नही होती, उसका मानक है नीति और सस्कृति से भरा हुआ लोक-जीवन।

भारतीय लोक-जीवन को नैतिक और सास्कृतिक मूल्य विरासत मे मिले हुए हैं। विरासत म प्राप्त मूल्यो की सुरक्षा और विकास का दायित्व वतमान पीढ़ी पर होता है। भारत की वतमान पीढी के सामने एक जीवित और प्रतीक्षातुर सन्नाटा छाया हुआ है। उसके सामने एक ओर है अपने पुरखा द्वारा बोयी गयी नीति की फसल तथा दूसरी ओर है दूर-दूर तक फला हुआ नतिक मरुस्थल। उस मरुस्थल म नीति की लहर लाने के लिए दृढ सकल्प और तीव्र प्रलय की अपेक्षा है। सकल्पहीनता एव अकमण्यता जीवन के लिए अभिशाप हैं। जिस समाज या देश म सकल्पहीनता और अकमण्य व्यक्तियो की सख्या बढने लगती है उसकी प्रगति के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है।

आज से चार दशक पहले तक भारतवष राजनतिक दासता के घेरे म बदी था। देश के अधिसख्य लोगा न उस दासता को सहज भाव से अपन ऊपर ओढ़ लिया था। उनके मन म भारत को स्वतन्त्र देखन का न तो कोई स्वप्न था और न कोई सकल्प। कुछ चेतनाशील युवको म अन्तद्वन्द्व जगा। उन्होंने देश को दासता की गिरफ्त से मुक्त करने का सकल्प किया और वे अहिंसक शक्ति का आलम्बन लेकर मैदान म उतर आये। वर्षों तक शारीरिक और मानसिक यातना भोगकर भी उन्होंने हिंसा का सहारा नही लिया। आखिर अहिंसा की जीत हुई, भारत स्वतन्त्र हुआ और भारतीय जनता स्वतन्त्रता की खुशियो मे झूम उठी। अणुव्रत आन्दोलन का इतिहास काल के उसी बिन्दु पर आकर रुकता है।

अणुव्रत का लक्ष्य है—व्यक्ति समाज और राष्ट्र के जीवन म पनपने वाली बुराइयो को दूर कर एक नीतिमान और चरित्रनिष्ठ पीढी का निर्माण। इसकी

संरचना असाम्प्रदायिक और मानवीय दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि पर की गयी है। सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण—अणुव्रत का कार्यक्रम है। यह अपराध चेतना को बदलने का आंदोलन है। अपराधी मनोवृत्ति का शोधन इसे अभीष्ट है। इसके लिए यह किसी दण्ड या कानून से भी अधिक महत्व हृदय परिवर्तन को देता है। इसमें देश, काल परिस्थिति, जाति और मजहब आदि को गौण कर सब धर्म सम्मत तत्वों का समाकलन किया गया है। नि:शस्त्रीकरण मानवीय एकता, धार्मिक सहिष्णुता, सामाजिक कुरूढ़ियों का बहिष्कार व्यसन मुक्ति और नैतिक मूल्यों की स्थापना इस युग की समस्याओं का सीधा समाधान है। अणुव्रत मनुष्य को यही समाधान देने का उपक्रम है।

अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन एक सुचिन्तित विचार-यात्रा की निष्पत्ति है। उस यात्रा के कुछ विचार बिन्दु ये हैं—

धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं है। यह एक मान्यता है। किन्तु सम्प्रदायविहीन धर्म का कोई रूप नहीं है।

धर्म के दो रूप है—चरित्र और उपासना। चरित्र का पालन कठिन है, उपासना की प्रक्रिया सरल है। फिर भी चरित्र मुख्य है और उपासना गौण है। उस चरित्र प्रधान धर्म को उपासना प्रधान बनाकर मनुष्य क्रियाकाण्ड में ही उलझ रहा है। इससे धर्म रूढ़ बन रहा है और उसका प्रायोगिक रूप विस्मृत हो रहा है।

धर्म के क्षेत्र में भय और प्रलोभन को स्थान नहीं है। नरक का भय और स्वर्ग का प्रलोभन यदि इसी प्रेरणा में धर्म का आचरण किया जाता है तो इससे वर्तमान का क्या लाभ मिलेगा? वर्तमान जीवन की शुद्धि के अभाव में परलोक सुधार के रंगीन सपने मन को कब तक आश्वस्त करते रहेंगे।

धर्म पर किसी जाति प्रान्त वर्ग या मजहब का आधिपत्य नहीं होना चाहिए। धर्म की प्रभुसत्ता अखण्ड है। जब जब उसे बांटने का प्रयत्न होता है धर्म के नाम पर मोर्चे खड़े हो जाते हैं। इस आत्मघाती स्थिति से बचने के लिए धर्म को सब सीमाओं से मुक्त रखना चाहिए।

कुछ ऐसी जातियां हैं जिनका कोई धर्म ही नहीं है। शास्त्रों की दुहाई देकर उन्हें धार्मिक अधिकारों से वंचित रखा जाता है। ब्राह्मणों क्षत्रियों और वैश्यों का अपना धर्म है, पर उन तथाकथित धार्मिकों के अनुसार शूद्रों का कोई धर्म ही नहीं है। क्या कोई ऐसा धर्म नहीं हो सकता जो मानव मात्र को गले लगाकर उसका मार्गदर्शन कर सके।

मनुष्य दिन भर करणीय और अकरणीय का भेद किये बिना कर्म करता रहता है क्योंकि उसके सामने सबसे बड़ा आलम्बन है धर्म स्थान। बुरे से बुरा काम करने वाला भी मन्दिर मस्जिद चर्च आदि धर्म स्थानों में जाता है, पूजा

पाठ करता है और सोचता है कि मेरे सारे पाप धुल गये। यह धर्म और भगवान के साथ खिलवाड़ है। क्या कोई ऐसा धर्म नहीं हो सकता, जो व्यक्ति के इस भ्रम को तोड़कर उसे अपने प्रति प्रामाणिक बना सके?

इन्हीं सब बातों की परिक्रमा करते करते अणुव्रत की परिकल्पना सामने आ गयी। अणु और व्रत—इन दो शब्दों के योग से अणुव्रत बना है। अणु का अर्थ है सूक्ष्म और व्रत का अर्थ है संकल्प। संकल्प कितना ही सूक्ष्म या छोटा क्यों न हो उसकी शक्ति असीम है। अणुबम के इस युग में अणुव्रत जैसे धर्म की ही अपेक्षा थी। आकार में सूक्ष्म होने पर भी अणुबम एक शक्ति-सम्पन्न अस्त्र है। इसी प्रकार अणुव्रत में भी असीम शक्ति है। यह दूसरी बात है कि अणुबम की शक्ति विध्वंसात्मक है और अणुव्रत की शक्ति सृजनात्मक है। अणुबम मानवजाति का संहारक है, जबकि अणुव्रत मानव-जीवन का निर्माता है।

अणुव्रत एक धर्म है, किन्तु इसके पीछे कोई सम्प्रदाय नहीं है। सभी सम्प्रदायों के लोग इसे अपना धर्म मानते हैं, किन्तु इस पर किसी सम्प्रदाय विशेष की मुद्रा नहीं है।

अणुव्रत में उपासना का तत्त्व गौण है और चरित्र की प्रधानता है। यह धर्म को रूढ़ियों और आडम्बरों के घेरे से मुक्त कर प्रयोग का धरातल देता है।

अणुव्रत वर्तमानजीवी है। यह परलोक-सुधार का आश्वासन नहीं देता है, पर इस जीवन को शान्त, स्वस्थ एवं सुखमय बनाने का दिशादर्शन देता है।

अणुव्रत जाति, प्रान्त, भाषा आदि संकीर्णताओं से जकड़ा हुआ नहीं है। इसका द्वार मानव मात्र के लिए खुला है। कोई भी मनुष्य अणुव्रती बनकर सही अर्थ में मनुष्य बन सकता है।

अणुव्रत का धर्म स्थान है व्यक्ति का कार्यक्षेत्र। कोई व्यक्ति मन्दिर, मस्जिद आदि धर्म स्थानों में जाए या नहीं? उपासना करे या नहीं, पर अपने कर्म के प्रति ईमानदार रहे यही उसकी धार्मिकता है।

बढ़ती हुई आकांक्षाएं दुःख का प्रमुख कारण हैं। अणुव्रत ने आकांक्षाओं को सीमित करने का मार्गदर्शन देते हुए एक घोष दिया—'संयमः खलु जीवनम्'—संयम ही जीवन है। इस आदर्श की स्वीकृति जीने की सबसे बड़ी कला है।

अणुव्रत एक मानवीय आचार-संहिता है। मुख्य रूप से इसकी जितनी धाराएं हैं उनका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थितियों और जीवन की शुद्धि के साथ है। देश में बढ़ रही हिंसा को नियन्त्रित करने और अनाक्रमण के सिद्धान्त को अपनाने के लिए इसकी धाराएं हैं—

- चलने फिरने वाले निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करना,
- आक्रमण नहीं करना, आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करना।
- हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लेना।

मानवीय एकता मे विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही अणुव्रती बन सकता है। इस दृष्टि से उसकी दो धाराए हैं—

- जाति वर्ण आदि के आधार पर किसी को अस्पृश्य या उच्च-नीच नही मानना।
- सम्पत्ति, सत्ता आदि के आधार पर किसी को छोटा-बडा नही मानना।

अणुव्रत कोई सम्प्रदाय नही है, वह सब धर्मों के प्रति आदरभाव रखने की प्रेरणा देता है। इस सन्दर्भ मे इसकी एक धारा है—

- सब धर्म सम्प्रदायो के प्रति सहिष्णुता रखना।

राजनैतिक बुराई को दूर करने के लिए अथवा लोकतान्त्रिक मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिए अणुव्रत के सूत्र हैं—

- रुपये तथा अन्य प्रलोभन से मत (वोट) न लेना और न देना।
- रिश्वत नही लेना।

व्यवसाय के क्षेत्र मे प्रामाणिक रहने के लिए अणुव्रत की आचार-संहिता है—

- किसी वस्तु मे मिलावट नही करना नकली वस्तु को असली बताकर नही बेचना।
- तोल माप मे कमी-बेशी नही करना।
- तस्करी नही करना।

सामाजिक कुरूढियो का बहिष्कार करने के लिए अणुव्रत का कार्यक्रम है—

- विवाह के प्रसग मे दहेज का ठहराव नही करना।
- बाल विवाह वृद्ध विवाह मृत्युभोज जैसी परम्पराओ को प्रश्रय नहीं देना।

व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता के लिए अणुव्रत ने व्यसन मुक्ति का अभियान चलाया। इसके अन्तर्गत एक सकल्प है—

- मादक व नशील पदार्थों का सेवन नही करना।

लोक-जीवन को सस्कारी बनाने मे अणुव्रत की जो भूमिका रही है उसे देखते हुए इसे मानव धर्म की अभिधा दी जा सकती है। यह जीवन का समग्र दर्शन है। अणुयुग की विभीषिका से सत्रस्त मानवजाति को आज एक घोष की अपेक्षा है और वह घोष यह हो सकता है—

- अणुबम नही अणुव्रत चाहिए।'

अणुव्रत की शीतल छाया के नीचे मानवजाति अपना नया इतिहास लिखे और भावी पीढी के लिए एक ऐसी स्वस्थ यादगार छोड जाए जो उसको युग-युग तक दिशा-दर्शन देती रहे यह अपेक्षा है।

अणुव्रत की क्रान्तिकारी पृष्ठभूमि

संसार में दो प्रकार के व्यक्ति हैं। प्रथम कोटि के व्यक्ति वे हैं, जो अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना चाहते हैं। दूसरी कोटि में वे व्यक्ति आते हैं जो अन्धकार में जीते हैं और अन्धकार में ही जीना पसन्द करते हैं। ऐसे व्यक्तियों के जीवन में कोई क्रांति घटित नहीं हो सकती। क्रांति की बात वहां पैदा होती है, जहां अन्धकार को छोड़ आलोक की यात्रा पर प्रयाण किया जाता है। व्यक्ति और विचार, दोनों स्तरों पर प्रयाण की संगति बैठ सकती है।

क्रान्ति दो तरह की होती है। सीधी समतल सड़क पर सपाट गति की तरह एक क्रान्ति आती है और घुमावदार ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर कुछ झटकों को महसूस करते हुए दूसरी तरह की क्रान्ति आती है। सपाट गति में कोई घटना नहीं होती, इसलिए उसमें कोई अप्रत्याशित परिवर्तन नहीं आता। कोई भी अघटना हमारी स्थूल आंखों की पकड़ में नहीं आ सकती। फिर भी उससे धीरे धीरे जो परिवर्तन आता है, वह समाज की तसवीर को ही बदल देता है। आकस्मिक रूप में किसी भी मोड़ पर कोई झटका लगता है, उससे एक बार तो बहुत बड़ा परिवर्तन-सा प्रतीत होता है। किन्तु उसके स्थायित्व के बारे में आश्वस्ति नहीं मिलती। बहुत-सी क्रान्तियां इसीलिए अर्थहीन हो जाती हैं कि वे क्षणिक चमत्कार दिखाकर अपने प्रभाव को समाप्त कर देती हैं। कुछ घटनाएं स्थायी भी हो सकती हैं किन्तु यह सब निर्भर करता है समकालीन परिस्थितियों और जनता की मनःस्थितियों पर।

हिंसा और भ्रष्टाचार की धधकती हुई ज्वाला मानवीय मूल्यों को जिस रूप में भस्मसात् कर रही है, यह एक बड़ी घटना है। इसके प्रतिबिम्ब बहुत लोगों की आंखों में हैं। इसका परिणाम तत्काल सामने आता है, इसलिए इसकी त्रासदी भयावह है किन्तु अणुव्रत की चिनगारी ने अपनी पैंतीस वर्षों की सुलगती हुई जिन्दगी में चुपचाप जो काम किया है वह किसी की दृष्टि का केन्द्र बने या नहीं, पर ईमानदारी का तकाजा है कि अहिंसा, शान्ति, पवित्रता और चरित्र के क्षेत्र में नयी धारा के उद्गम अणुव्रत का समुचित मूल्यांकन हो और इसी दृष्टि से उसके

विगत कर्तृत्व और भावी संभावनाओं पर एक तटस्थ किन्तु आलोचनात्मक अध्ययन किया जाए।

चरित्र निर्माण का आन्दोलन

अणुव्रत एक आन्दोलन है, इसलिए यह गत्यात्मक है। अणुव्रत चरित्र निर्माण की प्रक्रिया है, इसलिए इसमें स्थितिपालकता भी है। इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि में एक नीतिमान पीढ़ी के निर्माण का सपना था। यह स्वप्न देखा था हमने सन् १९४९ छापर चातुर्मास में। उस समय भारत स्वतंत्र हुआ था। भारतीय लोग स्वतंत्रता की खुशी में झूम रहे थे। उस समय उनके सामने कोई लक्ष्य नहीं था, दिशा नहीं थी, महत्त्वाकांक्षा नहीं थी और साधन-सामग्री भी नहीं थी, जिसके द्वारा वे बेहतर जिन्दगी जीने की बात सोच सकें। उस समय एक ऐसे सचेतन प्रयास की जरूरत थी, जो व्यक्ति-व्यक्ति को मानसिक रूप से स्वायत्तता की अनुभूति देकर अपनी खोयी हुई अस्मिता और नैतिक मूल्यों का बोध करा सके। इस दृष्टि से दूसरे लोग भी सतर्क रहे होंगे। उनके मन में अपने देश की मिट्टी में ऐसे बीज बोने की इच्छा जगी होगी, जो नैतिक मूल्यों की फसल उगा सकें। हमारे मन में उस समय कोई बहुत बड़ी कल्पना और योजना नहीं थी, पर एक सुचिन्तित प्रक्रिया के आधार पर थोड़े से कार्यकर्ताओं के साथ सरदारशहर की धरती पर हमने अपना अभियान शुरू कर दिया।

नैतिक उन्नति का आधार है नैतिक विचार। विचार से आचार प्रभावित होता है और आचार का प्रभाव विचारों पर होता है। विचार और आचार की समन्विति ही जीवन है। किन्तु विचार जगत में उथल-पुथल मचे बिना आचरण की बात पैदा नहीं हो सकती। इसलिए अणुव्रत ने सबसे पहले विचार-क्रान्ति की ओर ध्यान केन्द्रित किया। अणुव्रत का एकमात्र उद्देश्य है जाति, वर्ण, वर्ग, भाषा, प्रान्त और धर्मगत संकीर्णताओं से ऊपर उठकर मानव मात्र को आत्मसंयम और नैतिक मूल्यों के प्रति प्रेरित करना। जिस समय जातीयता, प्रान्तीयता, वर्ण व्यवस्था, भाषा आदि को लेकर संकीर्ण मनोवृत्ति वाले लोगों में एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था, उस समय अणुव्रत ने मानवतावादी दृष्टिकोण लेकर लोक जीवन में चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा देने का संकल्प व्यक्त किया। इस संकल्प की पूर्ति के लिए अणुव्रत यात्राओं का दौर प्रारम्भ हुआ। हमारे पास गृहस्थ कार्यकर्ता सीमित थे, इसलिए हमने अपने साधु-साध्वियों को इस दृष्टि से तैयार किया। उनकी पद-यात्रा का विस्तार हुआ। कश्मीर से कन्याकुमारी तक अणुव्रत के कार्यक्रम होने लगे। जनता ने पूरी गहमागहमी के साथ उनका स्वागत किया और अणुव्रत आन्दोलन भारतवर्ष में चलने वाले नैतिक आन्दोलनों में शीर्षस्थ बन

गया।

यह समाज और देश सौभाग्यशाली होता है जिसमें मानवता या नैतिकता की चर्चा होती रहती है। वे लोग भी कम सौभाग्यशाली नहीं होते जिन्हें ऐसी चर्चा सुनने के अवसर उपलब्ध होते हैं। उन लोगों का सौभाग्य और अधिक होता है, जिनको ऐसी चर्चाओं की प्रस्तुति करने का मौका मिलता है। अणुव्रत आन्दोलन विशुद्ध अर्थ में नैतिक आन्दोलन है। एक दृष्टि से यह आत्मदर्शन का आन्दोलन है। सामाजिक सन्दर्भों में यह अपराध चेतना को बदलने का आन्दोलन है। अणुव्रत परिणाम से अधिक प्रवृत्ति की चिन्ता करता है। प्रवृत्ति नहीं रहेगी तो परिणाम अपने आप समाप्त हो जायगा। हमारे समाज या देश में अपराध बढ़ रहे हैं यह जितनी चिंता का विषय है उससे अधिक चिन्तनीय बिन्दु यह है कि अपराध क्यों बढ़ रहे हैं। अपराध के कारणों को समझकर उनकी रोकथाम के लिए प्रयत्न हो तो नैतिक मूल्यों का अवतरण अपने आप संभव है।

कोई व्यक्ति अपने जीवन को मुड़कर देखे और चिंतन करे—मैं कैसा हूं इस एक वाक्य पर गहरी अनुप्रेक्षा करते करते वह ईमानदारी के साथ अपनी आदतों और व्यवहारों को समझ सकता है तथा गलत आस्था एवं व्यवहारों में परिष्कार कर सकता है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् संकल्प और सम्यक् आचरण—अणुव्रत का यह त्रिसूत्री कार्यक्रम व्यक्ति के जीवन में अकल्पित शांति ला सकता है। वैयक्तिक और सामूहिक रूप में अनेक लोगों ने ऐसा अनुभव किया है।

क्रान्ति के चरण

अणुव्रत ने विचार और आचार—दोनों क्षेत्रों में क्रांति के बीज बोये हैं। जहां जहां वे बीज अंकुरित हुए हैं अणुव्रत के प्रति लोगों का दृष्टिकोण बदला है। वैचारिक दृष्टि से अणुव्रत की भूमिका काफी सशक्त है। हर समझदार और विवेकी व्यक्ति इसकी उपयोगिता से सहमत है। अपने आपको नास्तिक मानने वाले लोग भी अणुव्रत की नीति और आचार-संहिता से प्रभावित हैं। क्योंकि अणुव्रत ने युग की चुनौतियों का सामना कर समाज में चरित्र की प्रतिष्ठा की है। अणुव्रत की आस्था व्यक्ति निर्माण में है। व्यक्ति जितना नैतिक और आचारनिष्ठ होगा समाज उतना ही उन्नत सुसंस्कृत और समृद्ध होगा। व्यक्ति की आचार-निष्ठा और नैतिकता का जीवन्त साक्ष्य होता है उसका अपना मन और व्यवहार। यदि वह चरित्र का सर्वाधिक मूल्य देता है तो किसी भी स्थिति में अवांछनीय तरीकों से व्यवसाय नहीं करेगा। यदि वह चरित्र को अपना जीवन मानता है तो सत्यनिष्ठा और श्रमनिष्ठा से कतराकर अपने स्वीकृत सिद्धांतों के साथ खिलवाड़

नहीं करेगा।

आचार के क्षेत्र में अणुव्रत ने जो काम किया है, उसके सब आंकड़ों का सर्वांगीणता के साथ प्रस्तुतीकरण हो तो वह संसार की एक नयी घटना हो सकती है। किन्तु अणुव्रत कार्य का संपूर्ण आकलन न होने के कारण उसका पूरा विवरण प्राप्त करना संभव नहीं है। फिर भी साधारण रूप में एक विहगावलोकन किया जाए तो कुछ निष्कर्ष इस रूप में निकलते हैं—

- मानवीय एकता का विकास।
- सहअस्तित्व की भावना का विकास।
- समाज में सही मानदण्डों का विकास।
- साम्प्रदायिक सद्भावना का विकास
- राष्ट्रीय चरित्र का विकास।
- धर्म के क्रांतिकारी स्वरूप का विकास।

राष्ट्रीय चरित्र के सन्दर्भ में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं।

- राजनैतिक बुराइयां।
- सामाजिक कुरूढ़ियां।
- दुर्व्यसन।

राजनीति से अलिप्त रहकर भी अणुव्रत ने राजनीति पर प्रभाव छोड़ा है। दलबदल की नीति, स्वार्थपरता और वोटों के विक्रय पर अणुव्रत ने जितना तीखा प्रहार किया है शायद ही किसी आन्दोलन ने किया हो। संसदीय अणुव्रत मंच द्वारा आयोजित कार्यक्रम में सांसदों को जो खरी खरी बातें सुनने को मिली उनकी पलकें झुक गयी। उस वातावरण ने वहां उपस्थित सभी सांसदों को अपना आत्मनिरीक्षण करने के लिए विवश कर दिया।

सामाजिक कुरूढ़ियों से समाज इतना जर्जर और सत्वहीन बन जाता है कि वह युग की किसी चुनौती को झेल ही नहीं सकता। अज्ञान और अंधविश्वासों के चौखटे में पनपने वाली न जाने ऐसी कितनी कुरूढ़ियां हैं जो सामाजिक विकास के आगे बाधाएं बनकर खड़ी हो जाती हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु आदि जीवन के ऐसे कौन से प्रसंग हैं जिनसे संबंधित कुरूढ़ियां समाज की पीड़ा नहीं हैं। आर्थिक दृष्टि से बोझिल और अर्थहीन रूढ़ परम्पराओं के खिलाफ अणुव्रत के क्रांतिकारी चरण आगे बढ़े। फलतः आज भारत की धरती पर अणुव्रत से संस्कारित परिवारों में अशिक्षा, पर्दा, मृत्युभोज, मृत्यु के प्रसंग में प्रथा रूप में रोना, बाल विवाह, वृद्ध विवाह, विधवा स्त्री अवमानना आदि परम्पराएं चरमराकर टूट गयी हैं। दहेज और प्रदर्शन की समस्या आज भी ज्वलंत है। अणुव्रत इस दिशा में भी सक्रिय है। अणुव्रती परिवारों में दहेज का ठहराव किसी भी स्थिति में नहीं होता। इसके साथ साथ सैकड़ों सैकड़ों युवक युवतियों ने हजारों लोगों की

साक्षी से यह संकल्प स्वीकार किया है कि वे जीवन भर कुंवारापन ओढ़कर रह सकेंगे, पर जहां दहेज की मांग होगी वहां शादी नहीं करेंगे।

विवाह आदि प्रसंगों पर होने वाले आडम्बर और अपव्यय पर नियंत्रण करने के लिए अणुव्रत भावना से प्रेरित संस्थाओं ने समाज में जैन संस्कार विधि का प्रचलन किया। इससे आडम्बरहीन शादियों का सिलसिला शुरू हो गया। ऐसी शादियां दिन में होती हैं, फलस्वरूप बहुत सारे अपव्ययों से सहज ही बचाव हो जाता है। इन शादियों में न दहेज की मांग होती है और न ही होता है ठहराव। इससे समाज के मूल्य मानकों में भी तीव्रता के साथ परिवर्तन आ रहा है।

हर प्रदेश और समाज की अलग-अलग रूढ़ियां होती हैं। अणुव्रत के कार्यकर्ता उनका अध्ययन कर उनके निराकरण में संलग्न हैं। जिस दिन समाज में किसी प्रकार की रूढ़ि नहीं रहेगी, और नए सिरे से जड़ें लेने वाली रूढ़ि को पनपने का अवसर नहीं मिलेगा, वह दिन अणुव्रत के इतिहास में विशिष्ट दिन होगा।

अणुव्रत का एक अभियान है—व्यसन मुक्ति। कुछ लोगों की दृष्टि में मादक तथा नशीले पदार्थों का सेवन सांस्कृतिक उच्चता, सभ्यता और स्टैण्डर्ड लाइफ का प्रतीक है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। ऐसे पदार्थों का सेवन करने वाले व्यक्ति अपनी उच्चता, सभ्यता और स्तर को विवादास्पद बना लेते हैं। मादक पदार्थ शरीर, मन और मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव छोड़ते ही हैं धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टि से भी उनके उपयोग का कोई औचित्य नहीं है। अणुव्रत ने व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में व्यसन मुक्ति के लिए व्यापक अभियान चलाया। इस अभियान में हजारों व्यक्ति शराब, सिगरेट, अफीम, जुआ आदि दुर्व्यसनों की गिरफ्त से मुक्त हुए। इससे उनको अन्य लाभों के साथ आर्थिक लाभ भी मिलता है। अतिमात्रा में शराब, सिगरेट, अफीम आदि का सेवन करने वाले लोग जब इनको छोड़ देते हैं, तब उनके परिवार में जो खुशी होती है, वह अनिर्वचनीय होती है।

युवा पीढ़ी पर प्रभाव

आज के धर्मनेताओं और धार्मिक बुजुर्गों को युवा पीढ़ी की धर्मनिरपेक्षता पर बड़ी चिन्ता है। उनकी दृष्टि में यह समय का दोष है, शिक्षा का दोष है और संस्कारों का दोष है। किन्तु मैं इस स्थिति को लेकर कभी चिंतित नहीं होता। मेरे अभिमत से युवा पीढ़ी को धर्म से नहीं, धर्म के नाम पर चलने वाले ढकोसलों से परहेज है। वह चरित्र का नहीं, रूढ़ क्रियाकाण्डों का विरोधी है। अणुव्रत ने धर्म का जिस रूप से व्याख्यायित और निरूपित किया है, कोई भी युवा उससे विमुख नहीं हो सकता। यही कारण है हमारी धर्म-सभाओं में सैकड़ों हजारों युवक-

युवतियां जिज्ञासुभाव से निरन्तर उपस्थित होते हैं। अपनी चारित्रिक उज्ज्वलता के प्रति वे जागरूक भी रहते हैं। युवा पीढ़ी की शक्ति का सही दिशा में नियोजित करने की अपेक्षा है। वास्तव में यह एक कार्यकारी पीढ़ी है।

धर्म के क्रियाकाण्डी रूप को बदलने के लिए अणुव्रत ने धर्मक्रांति के पांच सूत्र दिये—

१ बौद्धिकता
२ प्रायोगिकता
३ समाधानपरकता
४ वर्तमान प्रधानता
५ धर्म सद्भावना

इन सूत्रों से धर्म के क्षेत्र में व्याप्त चिन्तनहीनता, रूढ़ता, अंधविश्वास परलोक सुधार और साम्प्रदायिक कट्टरता के भाव विगलित हुए हैं। धर्म की वैज्ञानिकता और वर्तमान जीवन में उससे प्राप्त होने वाले लाभ का अनुभव हो जाए तो कोई भी प्रबुद्ध विचारक या युवक धर्म से विमुख नहीं हो सकता।

अणुव्रत के सिद्धान्त बहुत ऊंचे हैं, पर सकल्प करने मात्र से वे जीवनगत होते नहीं। आदमी नैतिक बनना चाहता है पर परिस्थितियों का दबाव आते ही उसका मन बदल जाता है। ऐसी स्थिति में अणुव्रत का उद्देश्य फलित नहीं हो सकता। इस समस्या को समाधान देने के लिए अणुव्रत के साथ प्रेक्षाध्यान का कार्यक्रम जोड़ा गया। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करने से ग्रन्थियों के स्राव बदलने लगते हैं। उस रासायनिक परिवर्तन का प्रभाव मनुष्य की आदतों पर पड़ता है। अनेक व्यक्तियों ने इस प्रयोग से अपने जीवन में अद्भुत रूपान्तरण अनुभव किया है। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान एक-दूसरे के पूरक हैं। अणुव्रत आन्दोलन को रचनात्मक आन्दोलन का रूप देने में प्रेक्षाध्यान की अहम भूमिका रही है।

अणुव्रत का कार्यक्रम व्यापक कार्यक्रम है। इसने देश की सीमाओं से बाहर भी अपनी आवाज पहुंचायी है। इसका प्रभाव उन सब लोगों पर पड़ा है जो वैयक्तिक और राष्ट्रीय चरित्र को उन्नत देखना चाहते हैं। अणुव्रत से प्रभावित अनेक प्रबुद्ध व्यक्ति सक्रिय रूप से इसके साथ जुड़े हैं। उन सबके आत्मीय सहयोग से ही अणुव्रत का रूप उत्तरोत्तर निखरता जा रहा है। उन लोगों में अणुव्रत प्रवक्ता यशपालजी जैन का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने वर्षों तक अखिल भारतीय अणुव्रत समिति का अध्यक्षीय दायित्व संभाला। 'अणुव्रत' पत्र के लिए भी ये समय-समय पर लिखते रहते हैं। अणुव्रत दर्शन के ये उच्चकोटिक व्याख्याता हैं। अणुव्रत को इनकी सेवाओं से बहुत लाभ मिला है और भविष्य में भी मिलता रहे, यही अपेक्षा है।

ग्राम-निर्माण की नयी योजना

प्रत्येक राष्ट्र के नागरिक दो प्रकार का जीवन जीते हैं—शहरी और ग्रामीण। दोनो जीवन पद्धतियो का अपना महत्त्व है और दोनो के अपने अपने तौर-तरीके हैं। कोई भी जीवन पद्धति किसी से कम या अधिक नही है। दोनो मे कुछ अच्छाइया हैं तो दोनो मे ही कुछ कमिया भी है। कमियो को दूर कर अच्छाइयो को अपनाने से दोनो जीवन पद्धतिया सर्वांगीण हो सकती हैं।

एक ग्रामीण व्यक्ति अपने मित्र के निमत्रण पर देश की राजधानी मे गया। पहली बार शहर गया था। वह व्यक्ति विचारशील था। उसने शहर की हर गतिविधि का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। शहर से गाव लौटने पर गाववालो ने उससे पूछा—गाव और शहर मे क्या फर्क है? वह बोला—गाव के लोग सध्या के समय थके हुए घर आते हैं, पर सुबह उठते हैं तब ताजगी से भरे हुए होते हैं। इसके विपरीत शहर के लोग सध्याकाल मे ताजगी से भरे रहते हैं। क्लबो, होटलो और छविगृहो मे आकर जिन्दगी का मजा लेते है। किन्तु प्रात-काल उठते हैं, तब अलसाए रहते हैं, मुर्दा से बन जाते हैं।

एक व्यक्ति का यह अनुभव शहरो की कृत्रिमता और गावो की सहजता का पूरा चित्र खीच देता है। शहरी लोगो ने अपने बाह्य पर्यावरण और आतरिक परिवेश दोनो बिन्दुओ पर कृत्रिमता का इतना सघन खोल चढा लिया है कि वास्तविकता की पहचान ही मुश्किल हो गयी है। एक समय था, जब लोग गाव छोडकर शहरो मे जाते थे, वह उनकी विवशता थी। शहरो मे जाने के बाद भी उनका मन अपने गाव की यादो मे खोया रहता था और गाव के प्रति प्रगाढ आकर्षण होता था। किन्तु कुछ लोग शहर मे जाकर अपने आपको बडा आदमी समझने लगे और उस अन्धानुकरण मे अच्छे अच्छे आदमी बह गये। परिणाम यह हुआ कि सबका ध्यान शहरो की ओर केन्द्रित होने लगा और गावो के प्रति उपेक्षा का भाव जन्मने लगा। शायद इसी बात से आहत होकर गाधीजी को कहना पडा—'शहर अपनी हिफाजत आप कर सकते है। हम तो अपना ध्यान गावो की ओर लगाना चाहिए। हमे उनकी सकुचित दृष्टि, पूर्वाग्रहो और

वहमों से मुक्त करना है। इस काम के लिए इसके सिवा और कोई तरीका नहीं है कि हम उनके साथ उनके बीच में रहें, उनके सुख दुःख में हिस्सा लें और उनमें शिक्षा का तथा उपयोगी ज्ञान प्रचार करें।'

गांधीजी के इस कथन में उनकी दूरगामी सूझ बूझ ही नहीं उस पीड़ा का भी प्रतिबिम्ब है, जिसे हमारे देश की ग्रामीण जनता भोग रही है। देश को स्वतंत्र हुए सैंतीस वर्ष हो गये। इस अवधि में देश में कुछ नहीं हुआ, यह बात नहीं है। पर जो कुछ हुआ है, हो रहा है उससे गावों को कितना लाभ मिला है? आज भी देश में ऐसे गांवों की कमी नहीं है जहां लोगों को पीने के लिए पानी नहीं मिलता। कुछ गावों के आदमी तो यहां तक कह देते हैं—पानी तो अब केवल आंखों में रहा है, पीने के लिए कैसे मिलेगा? एक भाई ने तो यात्रियों से यहां तक कहा कि आप घी का लोटा ले लीजिए, पर पानी मत मांगिए। बड़ी-बड़ी योजनाओं पर बहुत लोग सोचते हैं, पर इस सबसे छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण योजना पर ध्यान कौन दे? गावों में पानी ही सुलभ न हो तो सड़कों और बिजली के बारे में तो कहना ही व्यर्थ है। गावों में तो सड़कें हैं ही नहीं, पर जो हैं उनकी भी दुर्गति हो रही है। नंगे पांव पैदल चलने वाले लोग ही सड़कों की असलियत को समझ सकते हैं। इस वर्ष जोधपुर की यात्रा में एक ऐसी ही सड़क पर चलते समय मेरे मुंह से राजस्थानी भाषा में अनायास ही यह दोहा निकल पड़ा—

सड़का राजस्थान री, बड़ी बणी कमाल।
कूड़ी स्यूं जोधण पथ, देखो चाला हाल॥

आदमी की न्यूनतम आवश्यकता है—रोटी, पानी, वस्त्र, मकान, चिकित्सा और शिक्षा। गांव के आदमी श्रमशील होते हैं। वे कड़ी मेहनत करना जानते हैं। पर क्या उनके श्रम का शोषण नहीं होता है? जी-तोड़ मेहनत कर वे फसल उगाते हैं, पर क्या वे अपने अनाज का उचित मूल्य पर बेच पाते हैं? सरकार उनके लिए कितनी ही व्यवस्थाएं करे पर क्या वे उनका सही लाभ उठा पाते हैं?

इस सन्दर्भ में दो सवाल सिर उठाये खड़े हैं—

१ गांव के लोग इतना श्रम करके भी अभावों में क्यों जीते हैं?
२ सरकार उनके लिए जो व्यवस्थाएं देती है, उनका लाभ उन्हें क्यों नहीं मिलता?

दोनों प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं और इनके उत्तर भी साफ साफ हैं। ग्रामीण जनता कठोर परिश्रम करके जो पैसा कमाती है, वह उसका सही ढंग से नियोजन करना नहीं जानती। इसलिए अपने पसीने की कमाई को वह शराब, तम्बाकू, भांग, अफीम आदि नशीले पदार्थों के सेवन में पानी की तरह बहा देती है। उसके पास पैसा आया भी लेकिन गलत आदतों के पोषण में लग गया। इस स्थिति में

अभाव की पीड़ा ज्यों की त्यों बनी रहती है।

गाव के लोग सिगरेट तो नहीं बीड़ी अधिक पीते हैं। बीड़ी का एक बण्डल पी लेना उनके लिए साधारण बात है। कुछ लोग दो-तीन बंडल भी पी लेते हैं। एक बंडल के कम से कम ७५ पैसे खर्च होते हैं। प्रतिदिन ७५ पैसों के हिसाब से एक महीने में २२ रुपये ५० पैसे व्यय होते हैं। इस प्रकार एक वर्ष में २७० रुपये खर्च होते हैं। यदि एक घर में बीड़ी पीने वाले पांच व्यक्ति हों तो वर्ष भर का खर्च १३५० रुपये हो जाता है। प्रतिदिन एक बंडल के हिसाब से जो व्यय होता है उसे अगर तीन गुना कर दिया जाए तो वार्षिक व्यय चार हजार हो जाता है। एक वर्ष का यह व्यय पांच या दस वर्ष में कितना हो जाता है। एक व्यसन को छोड़ने से व्यक्ति को इतना आर्थिक लाभ हो जाता है। तम्बाकू के साथ शराब, अफीम आदि के व्यसन छूटने से यह लाभ और अधिक बढ़ जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक संतुलन के लाभ को कोई प्रत्यक्ष रूप में समझे या नहीं, पर आर्थिक लाभ तो सबके सामने है।

कुछ लोग शराब, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करते किन्तु मृत्युभोज आदि सामाजिक कुरीतियों में पैसा खर्च कर देते हैं। यह 'काज किरियावर' ओसर-मोसर घर की बरबादी का कारण बन रहा है फिर भी यह उनके लिए अपरिहार्य बन रहा है। क्यों? ऐसा नहीं करेंगे तो पिता-दादा की सद्गति नहीं होगी। आश्चर्य! जीवनकाल में पिता, दादा को पानी पिलाने की फुरसत नहीं, घर में दिन रात की सिर फुटौवल और मरने के बाद उन्हें हलुवा-पूड़ी खिलाना चाहते हैं। कैसी विडम्बना है! अशिक्षा, अंधविश्वास और सामाजिक कुरूढ़ियों की यह निष्पत्ति इन गावों को कहां ले जाएगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। किसी आदमी के पास पैसा हो और वह अपने पूर्वजों की स्मृति में कुछ करना ही चाहता हो तो उसके लिए करणीय कामों की कमी नहीं है। 'काज किरियावर' में जो पैसा लगता है, इसका उपयोग दूसरे रचनात्मक काम में करके वह अपने पिता की यादगार को स्थायी रख सकता है।

गाव के लोग अपने आपसी मतभेदों और झगड़ों को सरलता से निपटा सकें, इस दृष्टि से गांव-गांव में पंचायतीराज की व्यवस्था हुई। इस व्यवस्था के अनुसार पंचों का निर्णय गाववासियों को सर्वमान्य होना चाहिए था, किन्तु यह क्रम भी शिथिल हो गया। पंच परमेश्वर की बात गौण हो गयी। इसलिए गाववासी अपने छोटे छोटे झगड़ों को अदालतों में ले जाते हैं। वहां जाने के बाद उन्हें न्याय मिलता है या नहीं, यह तो पता नहीं, उनका पैसा वकीलों की जेब में अवश्य चला जाता है। इससे भी गाव का नुकसान होता है। उसी झगड़े को गाव के दो चार आदमी बैठकर निपटा लें तो इज्जत और पैसा—दोनों की सुरक्षा हो जाती है।

छुआछूत समाज के लिए कलंक है। इससे जातिवाद को बढ़ावा मिलता है।

इसे धर्म का अंग मानना मूढ़ता का प्रतीक है। फिर भी गांवों में अस्पृश्यता की भावना प्रबल है। अनुसूचित जातियों के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करना होगा, यह बाध्यता तो है नहीं। फिर किसी को अछूत मानकर उससे घृणा करना, उसे मानवीय अधिकारों से वंचित रखना कहां का न्याय है।

अपनी जोधपुर यात्रा के दौरान हम लोग एक छोटे गांव में ठहरे। वहां हमारी साध्वियां किसी हरिजन भाई के मकान में ठहर गयी। अब तो गांव के लोगों ने बावेला खड़ा कर दिया। उन्होंने यहां तक धमकी दी कि या तो आप इस मकान को छोड़कर दूसरे मकान में चले जाइए अन्यथा भविष्य में आपको ठहरने के लिए सवर्ण लोगों के मकान नहीं मिलेंगे।

साध्वियों ने मुझसे पूछा—हमें क्या करना चाहिए? मैंने उनसे कहा—तुम लोग वहीं रहो। गांववालों को मैं समझाऊंगा। आखिर गांव वाले समझ भी किन्तु थोड़ी देर में मान्होंने इतना खराब कर दिया कि गांव में हड़कम्प-सा मच गया। मैंने उनसे कहा—हम अस्पृश्यता को मानते नहीं, हमारी दृष्टि में जाति से कोई व्यक्ति ऊंचा या नीचा नहीं होता। हमारे अभिमत से अछूत अगर कोई है तो आदमी के भीतर का गुस्सा और झूठा अहं है। यह बात हम सब लोगों के बीच में कहते हैं फिर भी किसी को अछूत मानते रहेंगे तो हमारी कथनी और करनी की एकता कैसे सधेगी?

यह एक घटना है। न जाने ऐसी कितनी घटनाएं घटित होती होंगी। इन घटनाओं का अन्त तभी होगा, जब गांववालों की चेतना जागृत होगी। इसलिए गांववासियों को छुआछूत की बीमारी का समूल उच्छेद कर सबके साथ भाईचारे का व्यवहार करना चाहिए।

शादी विवाह के प्रसंग पर टीका मांगना यह भी एक बीमारी है, जो शहरों की भांति गांव में भी अपने विषैले कीटाणुओं को फैला रही है। यह भी बर्बादी का ही एक रास्ता है। पिता अपनी बेटी को कुछ भी दे, पर उससे मांगकर लेना और उसे बाध्य करना कहां तक उचित है? हमारे नीतिकारों ने तो यहां तक कहा है—

आप दियो सो दूध बराबर, मांग लियो सो पानी।
झगड़ लियो सो खून बराबर, आ सन्तां री बानी॥

गांववासी सन्तों की इस वाणी को भूलकर अपने सगे सम्बंधियों से झगड़कर भी 'टीका' लेते हैं, यह बहुत गलत परंपरा है।

आज हमारे देश में प्रजातन्त्र है। प्रजातन्त्र का आधार है जनता के वोट। प्रत्याशी लोग आते हैं और गांववासियों को शराब पिलाकर या पैसे का प्रलोभन देकर 'वोट' ले जाते हैं। यह प्रजातन्त्र कहां हुआ? गांववासियों को यह अधिकार है कि वे सोच समझकर अच्छे नैतिक आदमी को वोट दें। इसमें जातपात, प्रलोभन

या भय आडे नही आना चाहिए। किन्तु ऐसा होता है। यदि गाववासी इस बुराई से मुक्त हो जाए तो गाव का सुधार हो सकता है।

एसी और भी कई बुराइया हैं, जिनसे गावो म रहने वाले लोगो का ही खास सम्बन्ध है। पर गाव के लोग उन्हे समझते नही हैं। शिक्षा की कमी इसका प्रमुख कारण है। उनको समझाने वाले भी कोई नही मिलते। यदि उन्हे उन्ही की बोली में इन सब बुराइयो से होने वाले दुष्परिणामो के बारे म बताया जाए तो उनमे बहुत जल्दी परिवर्तन हो सकता है। यह बात मैं अपने अनुभव के आधार पर बता रहा हू।

इस वर्ष हमारी यात्रा को तीन भागो म बाटा जा सकता है। तीसरे भाग म लगभग तीन सौ किलोमीटर की हमारी यात्रा गावो की यात्रा थी। इस यात्रा म हमने ग्रामीण जीवन को बहुत निकटता से देखा, परखा और उसका अध्ययन किया। जिस किसी गाव म हम गये, गाववासियो की भीड किसी सूचना या निमत्रण की प्रतीक्षा किए बिना अपने आप एकत्रित हो जाती। उस अनाहूत भीड से बातचीत करने मे मैं इतना भाव विभोर हो जाता कि अपने जीवन के व्यक्तिगत क्षण भी मैं उन्हे अर्पित कर देता। उन लोगो के सुख दुख की कहानी को जितनी निकटता से सुनता, उतना ही अधिक आत्मीय भाव उन लोगो के प्रति उमडता। हमने उनकी समस्याओ को सुना, समझा और उनका समाधान भी सुझाया। प्राकृतिक समस्या का जहा तक प्रश्न है, किसी के हाथ की बात नही है। पर गाव की उपेक्षा से उपजी समस्याओं को ओर यदि देश क विचारशील लेखक, सामाजिक कार्यकर्ता और सत्तारूढ व्यक्ति अपना ध्यान केन्द्रित करें तो बहुत जल्दी उनका समाधान हो सकता है। अब रही उनकी अपनी निजी समस्याए, जिनका सम्बन्ध आदतो, अधविश्वासो, सामाजिक कुरूढियो और अशिक्षा से है, उनके सम्बन्ध म हमने बडे प्रेम से उनको समझाया, एक एक बुराई का प्रतिफल बताया और उन्हे आह्वान किया। बहुत बार हमारे एक ही आह्वान पर सकडो व्यक्ति बुराइया छोडने के लिए तैयार हो जाते और कभी कभी कुछ ही व्यक्ति साहस जुटा पाते। कुल मिलाकर हर गाव म बुराई करने वालो का अनुपात कम हुआ है। इस अनुभव के आधार पर हमने ग्रामीण लोगो के लिए एक आचार संहिता का निर्धारण किया। मेरा यह दृढ विश्वास है कि उस आचार-संहिता का गाव गाव म पालन होने लगे तो बिना किसी लागत के ग्राम विकास या ग्राम निर्माण की एक नयी योजना क्रियान्वित हो जाती है। लागत की बात दूर, इस योजना म तो बचत की पूरी सभावना है। बचत के उन पैसो का उपयोग गावो के विकासमूलक कामो म किया जाए तो गाववासी दोनो ओर से लाभान्वित होकर अपने जन्म और जीवन को सार्थकता दे सकते हैं। ग्राम्य-जीवन के लिए निर्धारित आचार-संहिता के जो सूत्र हमने गाववासियो को बताए, वे ये हैं—

१ बिना प्रयोजन निरापराध जानवरो को नही मारना और अपने अधीन पशुओ की दुर्दशा नही करना।
२ शराब, तम्बाकू भाग, गाजा, जर्दा, अफीम आदि नशाले पदार्थों का सेवन नही करना।
३ मृत्यु भोज नही करना।
४ विवाह के प्रसग म टीका नही मागना।
५ गावो क झगडो को लकर कोर्ट-कचहरियो म नही जाना।
६ जाति क नाम पर किसी को अछूत नही मानना।
७ रुपय या किसी अन्य प्रलोभन स वोट न देना।

इस सप्तसूत्री कार्यक्रम को लकर एक अभियान चलाया जाए और साधु सन्त इस अभियान को आग बढान म अपनी शक्ति, समय और चिन्तन का पूरा उपयोग कर यह अपेक्षा है।

जैन दर्शन और अणुव्रत

दर्शन मनुष्य की सत्याभिमुखी प्रगति का स्वाभाविक क्रम है। इन्द्रिय की प्रवृत्ति बहिर्मुखी है इसलिए पहले बाह्य जगत को देखता है। बाह्य जगत यानी स्थूल सत्य। इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध सत्य मे वह सन्तुष्ट नही होता तब बुद्धि के द्वारा स्थूल से सूक्ष्म सत्य की ओर प्रस्थान करता है। बुद्धि भी उसे पूर्णत सन्तुष्ट नही कर पाती, तब वह अनुभूति के द्वारा सूक्ष्मतम या परिपूर्ण सत्य की ओर प्रस्थान करता है।

दर्शन का यह क्रम सर्वत्र रहा है। इस क्रम के अनुसार मनुष्य ने जगत आत्मा और परमात्मा को देखने का चिर प्रयत्न किया है। यही दर्शन के विकास का इतिहास है।

दर्शनीय तत्त्व यानी सत्य के रूप परस्पर विरोधी नही हैं। देखने की दृष्टिया भिन्न भिन्न हैं, इसलिए सत्य भी परस्पर विरोधी जैसा प्रतिभासित होता है। दर्शन के दो रूप प्राप्त हैं—

१ तार्किक या बौद्धिक।

२ आनुभविक।

जितना दार्शनिक भेद है वह सब बौद्धिक-तार्किक स्तर पर है। अनुभव के स्तर पर मतभेद नही हो सकता।

अनुभव की तीन कक्षाएं हैं। प्रथम कक्षा म सत्य का सक्षेप मे अनुभव व प्रतिपादन होता है। दूसरी कक्षा मे सत्य का आशिक विस्तार से अनुभव व प्रतिपादन होता है। तीसरी कक्षा मे सत्य का समग्रता से अनुभव व प्रतिपादन होता है। जैन दार्शनिको ने इन कक्षाओ की सज्ञा क्रमश द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय और प्रत्यक्ष प्रमाण दी है।

अनुभव की कक्षा का यथार्थ बोध होने पर सत्य के ग्रहण मे कोई मतभेद नहीं होता। यह मतभेद शून्य विद्या ही जैन दर्शन के अनुसार अध्यात्म विद्या है। इसी को भगवद् गीता मे सब विद्याओ मे श्रेष्ठ कहा गया है—'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्।' जैन दर्शन जिन तत्त्वो पर विकासशील हुआ है, वे आधारभूत तत्त्व

चार है।

१ आत्मवाद।
२ लोकवाद।
३ कर्मवाद।
४ क्रियावाद।

भगवान महावीर ने कहा है—

१ आयावाई।
२ लोयावाई।
३ कम्मावाई।
४ किरियावाई।

जैन दर्शन के अनुसार चैतन्य स्वतन्त्र है। वह पंच महाभूतों या देह से निष्पन्न नहीं है। भगवान महावीर से पूछा गया— भंते! आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत है? भगवान ने कहा— आयुष्मन्! द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से (अस्तित्व की दृष्टि से) आत्मा शाश्वत है—अनुत्पन्न और अविनाशी है। पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से (रूपान्तर की दृष्टि से) वह अशाश्वत है—उत्पन्नधर्मा और विनाशधर्मा है।

जैन दर्शन आत्मवादी है इसीलिए वह परम आस्तिक है। उसमें परमात्मा का अस्वीकार नहीं है। आत्मा की तीन कक्षाएं हैं—

१ बहिर आत्मा।
२ अन्तर-आत्मा।
३ परम आत्मा।

१ बहिरात्मा आत्मा की पहली कक्षा है। उसमें देह और आत्मा का भेद ज्ञान नहीं होता।

२ अन्तरात्मा आत्मा की दूसरी कक्षा है। उसमें भेद ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उसके उपलब्ध होने पर उसका प्रस्थान अपने देहमुक्त स्वरूप की ओर हो जाता है।

३ परमात्मा आत्मा की तीसरी कक्षा है। उसमें अपने मौलिक रूप में अवस्थित हो जाता है परमात्मा बन जाता है।

इसी दृष्टि से मैंने कहा कि जैन दर्शन में परमात्मा का अस्वीकार नहीं है उसमें सृष्टि कर्तृत्व का अस्वीकार है।

ईश्वरवादी दर्शन—नैयायिक, वैशेषिक आदि— ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार जगत अनादि अनन्त है। इसलिए उसके कर्तृत्व का भार वहन करने की किसी को आवश्यकता नहीं है।

भगवान महावीर से स्कन्दक संन्यासी ने पूछा— भंते! लोक शाश्वत है या

अशाश्वत है ?'

भगवान ने कहा—आयुष्मन् ! द्रव्यार्थिकनय (अस्तित्व) की दृष्टि से लोक शाश्वत है और पर्यायार्थिकनय (रूपान्तरण) की दृष्टि से वह अशाश्वत है।'

वह अशाश्वत है इस दृष्टि से उसमें सृष्टि-कर्तृत्व का अंश भी सन्निहित है। महावीर के अनुसार वह जीव और पुद्गलों के स्वाभाविक संयोग की प्रक्रिया से सम्पादित होता है। इसी सम्पादन को लक्ष्य में रखकर महान आचार्य हरिभद्रसूरी ने जैन दर्शन की ईश्वरवादी दर्शनों के साथ तुलना की है। उन्होंने लिखा है—

'पारमैश्वर्ययुक्तत्वात् आत्मैव मत ईश्वरः।
स च कर्त्तेति निर्दोष, कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥'

—आत्मा परम ऐश्वर्य सम्पन्न है। अतः वह ईश्वर है। वह कर्ता है। इस दृष्टि से जैन दर्शन कर्तृवादी भी है।

जैन दार्शनिकों ने सत्य को अनेकांत दृष्टि से देखा है इसलिए अनन्तधर्मा तत्त्व के किसी एक धर्म की स्वीकृति को उन्होंने सम्पूर्ण सत्य की स्वीकृति नहीं माना। उनकी दृष्टि में एकांशग्राही जितने दृष्टिकोण हैं वे सब मिथ्या हैं। सर्वांशग्राही दृष्टिकोण ही सम्यक् हो सकता है।

साधारण मनुष्य का ज्ञान अपर्याप्त होता है। इसलिए वह एकांशग्राहिता के वलय से मुक्त नहीं हो सकता और सर्वांशग्राहिता के बिना वह सम्यक् दृष्टि नहीं हो सकता। इस समस्या के समाधान के लिए भगवान महावीर ने सिय (स्यात्) शब्द का आविष्कार किया। 'स्यात्' शब्द सापेक्षता का सूचक है। एकांशग्राही दृष्टिकोण सापेक्ष होता है तब वह मिथ्या नहीं होता। उसमें एक धर्म की स्वीकृति अन्तर्भूत अनन्त धर्मों की स्वीकृति से विभिन्न होकर नहीं होती। यह प्रक्रिया अज्ञात अनन्त सत्य के निषेध की नहीं, किन्तु स्वीकृति की प्रक्रिया है। इसमें मनुष्य ज्ञात को ही अंतिम सत्य मानकर नहीं बैठता, वह ज्ञात के प्रति आसक्त हो अज्ञात की जिज्ञासा का द्वार बन्द नहीं करता।

इस सर्वग्राही दृष्टि के कारण जैन दार्शनिकों का प्रतिपादन ऐसा हो गया है जैसे उसका अपना कोई मौलिक स्वरूप ही न हो। इसीलिए एक जैनाचार्य ने जैन दर्शन की व्याख्या इसी संदर्भ में की है। उनकी व्याख्या है—'जो एकांशग्राही दृष्टिकोण का समूह है वही जैन दर्शन है।

उसकी सप्तभंगी और सप्तनयों ने प्रत्येक दर्शन के साथ अपना नकट्य स्थापित किया है। इसीलिए वह आपात भ्रम, जिसका मैंने उल्लेख किया, सहज ही हो जाता है। किन्तु मैं इसी को जैन दर्शन की मौलिक देन मानता हूं। साम्प्रदायिक आस्था का प्रस्थान दूसरों से विभिन्न होने की दिशा में होता है किंतु सत्यसंधित्सा का प्रस्थान समरसता की दिशा में होता है। इसलिए अपने को दूसरों से विभिन्न रखना उसका लक्ष्य नहीं होता। मेरी दृष्टि में दर्शन का यही अंतिम

ध्येय है। सत्य की एकात्मकता—आत्मौपम्य या आत्माद्वैत जितना शाश्वत सत्य है उतना ही सामयिक समस्याओं का समाधान है।

सामयिक समस्याओं का समाधान करना भी दर्शन का एक अंग है। शाश्वत और सामयिक दोनों की समुचित स्वीकृति ही मेरी दृष्टि में जैन दर्शन है।

अणुव्रत

जैन दर्शन का दृष्टिकोण उदार रहा है। अणुव्रत उसी का प्रतिफल है। यह धर्म का नवनीत है। आज की समस्या है कि धर्म और व्यवहार अलग-थलग हो गए हैं। अणुव्रत धर्म और व्यवहार की दूरी को मिटाने की प्रक्रिया है। धर्मस्थान में जाने वाले को भले ही धर्मगुरु धार्मिक होने का प्रमाणपत्र दे दें किन्तु व्यवहार शुद्धि के बिना अणुव्रत की दृष्टि में वह धार्मिक नहीं है।

आज धर्म क्रियाकांड प्रधान हो गया है। मैं क्रियाकांडों का विरोधी नहीं हूं लेकिन उनको प्रमुख स्थान देने के पक्ष में भी नहीं हूं। क्रियाकांडों की उपयोगिता तभी हो सकती है जब उसकी पृष्ठभूमि में आचार और व्यवहार की पवित्रता है।

मनुष्य जब धर्म से शून्य होता है तब उसमें छलना पनपती है। फिर वह मनुष्य को ही नहीं भगवान को भी धोखा देने लग जाता है। झूठा मामला लड़ता है। जब वह न्यायालय में जाता है तब भगवान से आशीर्वाद मांगकर जाता है और वह जीत जाता है तब भगवान की मनौती करता है। भगवान् यदि झूठा की विजय करता है तो वह भगवान् कैसे होगा? झूठ चलाने के लिए जो भगवान की शरण लेता है वह भक्त कैसे होगा? धार्मिक कैसे होगा? अणुव्रत इस प्रकार की चर्या को धार्मिकता का प्रमाणपत्र नहीं देता और नहीं दे सकता।

जो व्यक्ति अहिंसा और सत्य प्रामाणिकता और पवित्रता का आचरण करता है वह भले भगवान् को न माने पर वह सही अर्थ में भगवान का भक्त है और सच्चा धार्मिक है। अणुव्रत प्रामाणिकता का आन्दोलन है। वह पूजा की अपेक्षा प्रामाणिकता को अधिक महत्त्व देता है।

अणुव्रत जाति व सम्प्रदाय आदि के भेदों से दूर है। किसी भी देश, जाति व सम्प्रदाय का आदमी अणुव्रती बन सकता है यदि वह प्रामाणिकता के पथ पर चलना चाहता है। मैं चाहता हूं कि इस असाम्प्रदायिक आन्दोलन को हर आदमी व्यापक दृष्टि से देखे और उसे व्यापक बनाने के कार्यक्रम में अपना योग दे।

अस्पृश्यता मानसिक गुलामी

अछूत मुक्ति सेना के इस कार्यक्रम को लेकर कई दिनों से चर्चा चल रही थी। कुछ व्यक्ति मेरे पास आए और पूछने लगे कि अछूत मुक्ति सेना के लोग आपके पास क्यों आ रहे हैं? मैंने कहा—'हमारे यहां उन सबको आने का अवकाश है जो जीवन विकास एवं आत्म हित की प्रेरणा लेना चाहते हैं तथा अहिंसात्मक तरीकों से काम करना चाहते हैं।' अछूत मुक्ति सेना के कार्यकर्ता अपने विचार रखने एवं यहां से विचार लेने के लिए इस कड़ी धूप की परवाह न करते हुए यहां आये हैं, इसकी मुझे प्रसन्नता है।

अस्पृश्यता का प्रारम्भ कब से हुआ इसका इतिहास बताना कठिन है किन्तु इतना अवश्य है कि प्रारम्भ में इस समाज का बड़ा महत्त्व था। सेवा करने वालों का यह काम मिला। किसी प्रकार की ग्लानि एवं घृणा के बिना समाज को स्वच्छता एवं स्वास्थ्य प्रदान करने वाले इस समाज को 'महत्तर' शब्द से सम्बोधित किया गया। 'महत्तर' शब्द का अर्थ है—महान से भी महान। अतः इस काम के लिए जो इसे सम्मान प्राप्त हुआ वह इस शब्द से प्रकट होता है। किन्तु शब्दों का उत्कर्ष या अपकर्ष होता रहता है। आज इस शब्द का अपकर्ष हुआ है। यही कारण है कि लोग महत्तर शब्द से भटकते हैं।

मैं इसे विचारों की दासता मानता हूं। इसे मिटाना कठिन है। गांधीजी ने इसे मिटाने का बीड़ा उठाया। बहुत कुछ कार्य हुआ किन्तु वे भी इस कार्य को अधूरा छोड़कर चले गये। सरकार ने अस्पृश्यता निवारण का कानून बनाया। किन्तु मन को बदलने वाला कानून नहीं बन सका। जब अन्तर का कानून काम करेगा तभी आत्मा की आवाज बन सकेगी।

मुझे प्रसन्नता है कि हरिजन स्वयं उठने का प्रयास कर रहे हैं। दूसरों का सहयोग लिया जा सकता है किन्तु उन पर निर्भर हो जाना दासता और दीनता है। जब किसी को उठना या उत्थान करना है तो स्वयं को प्रयत्नशील बनना होगा। पक्षाघात से पीड़ित व्यक्ति दूसरों के सहारे उठकर भी टिक नहीं सकता। जो स्वस्थ है थोड़ा सहारा मिल जाने मात्र से उठ जाता है। अतः उत्थान का प्रारम्भ

स्वय से हो। पुरुषार्थी को ही सहयोग प्राप्त होता है, अन्यथा सहयोग मिलता भी नही।

अस्पश्यता विचारो की गुलामी है। किसी मनुष्य को अस्पृश्य मानना कितना अनुचित है? कुत्ता थाली मे पानी पी सकता है क्योंकि वह अस्पश्य नही है। किंतु मनुष्य के पास बैठना भी स्वीकार नही, यह आश्चर्य की बात है। जातिवाद ने अस्पृश्यता को बढ़ावा दिया किन्तु केवल जातिवाद ही इसका कारण नही है। धर्म-सम्प्रदायो ने भी इसे बढ़ावा दिया है। यदि सब धर्म-गुरु अस्पश्यता का प्रतिकार करना प्रारम्भ कर दें तो लाखो करोड़ो व्यक्तियो को सही चिन्तन मिल सकता है। जब से मेरे सामने यह प्रश्न आया और मुझे लगा कि किसी को अस्पृश्य मानना अपराध है तब से इस विचार को प्रतिष्ठित करने का मैंने प्रयास किया है। मेरी एक सभा म कुछ हरिजन भाई आये। कई व्यक्तियो ने उन्हे रोक दिया। मैं दूर से सारी स्थिति का अंकन कर रहा था। मुझे लगा कि यह मानवता के प्रति न्याय नही हो रहा है। मैंने तत्काल उपस्थित जनसमूह से कहा—'जहा मेरा प्रवचन हो वहा जातीयता के कारण किसी को प्रवचन सुनने से नही रोका जाना चाहिए। उन्हे रोकना मैं अपने को रोकना मानता हू।' परिणाम यह हुआ कि अब समाज के सहस्रो व्यक्तियो के दिमाग से अस्पश्यता नाम नेस्तनाबूद-सा हो गया है।

जब से अणुव्रत का कार्य प्रारम्भ हुआ है तब से महाजन-हरिजन अमीर-गरीब आदि सभी प्रकार के कार्यकर्त्ता एक साथ बैठकर चिन्तन करने लगे हैं। मैं अन्यान्य लोगो से भी कहना चाहूगा कि हरिजन लोग और चाहते भी क्या हैं? वे कब कहते हैं कि आपको बेटी हमे देनी होगी और यह भी कब कहते हैं कि आपको हमारे साथ भोजन करना होगा। इनका यह आग्रह है भी नही और होना भी नही चाहिए। ये तो इतना ही चाहते हैं कि एक वर्ग विशेष के प्रति जो घृणा के भाव हैं उन्हे आप निकाल दें। यह भावना खत्म करना मेरा भी काम है। लोगो के मन म धर्म की भावना भरनी है तो अस्पृश्यता की भावना मिटानी होगी।

अस्पश्य तो अशुचि या गन्दगी है। हरिजन लोग सफाई करते हैं, इसलिए उन्हे अस्पश्य माना जाता है तो मैं पूछता हू कि ऐसा कौन व्यक्ति है जो अपनी सफाई अपने आप नही करता? तब क्या आप अथवा आपके हाथ अस्पश्य नही हो जाएगे? कुछ लोग कहते है कि ये लोग औरो की सफाई करते हैं तो क्या माता अपने पुत्र की सफाई नही करती? क्या परिवार म रुग्ण और अपग सदस्यो की सफाई नही होती? यदि होती है तो आप अस्पश्य नही होगे? यदि नही होते तो समाज की सतह पर सफाई करने वाले ये हरिजन अस्पश्य क्यो होंगे? वस्तुत अस्पश्यता की भावना धार्मिक और सामाजिक दोनो दृष्टियो से हेय है।

भगवान् महावीर ने जुगुप्सा (घृणा) को पाप माना है। जुगुप्सा मोह कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो म से एक है। यदि मोह कर्म को खत्म करना है तो जुगुप्सा

को मिटाना होगा। जुगुप्सा करनी है तो बुराई से करो, जबकि उन्हें सैकडों की संख्या में अपने अन्दर लिये बैठे हैं। बात ऐसी है कि बुराई करने वाला अपने को बुरा नहीं मानता। अपने को बुरा मानने वाला बुराई कर भी नहीं सकता।

महाराष्ट्र के सन्त नामदेव का नाम सबने सुना होगा। कहा जाता है कि वे पहले एक डाकू थे। डाकुओं में एक बात होती है कि उन्हें मृत्यु का भय और जीवन के प्रति आसक्ति नहीं होती। उच्चकोटि के अहिंसक की भी यही स्थिति होती है। भगवान् महावीर ने अहिंसक के लिए कहा है—'जीवियासामरण-भयविप्पमुक्का'—उसे जीवन के प्रति आसक्ति और मृत्यु के भय से मुक्त होना चाहिए। डाकू नामदेव भी ऐसे ही थे। उन्होंने बहुतों का धन और सुहाग लूटा। अनेक व्यक्तियों के प्राण लूटे। उनके नाम से ही लोगों के मन में भय का संचार होने लगा। एक बार किसी सराय में वे बैठे थे। कुछ लोग, जो उन्हें नहीं पहचानते थे, परस्पर बातें करने लगे। एक ने कहा—'डाकू नामू ने मेरे पुत्र को मार डाला।' दूसरा बोला—'उसने मेरे घर का सत्यानाश कर दिया। मेरा तो ऐसा किया, किन्तु उसका क्या होगा? वह अपने पापों से कैसे छुटकारा पाएगा?' तीसरे ने कहा—'मुझे तो उसके नाम से ही घृणा होती है।' अपने कृत्यों से लोगों को हुई पीडा एवं आलोचना सुनकर उनके मन में अपनी बुराइयों के प्रति घृणा जाग उठी। डाकू नामू सत नामदेव बन गए। यदि सन्त नामदेव का चिन्तन सब में जागृत हो जाए तो अस्पृश्यता की समस्या सहज ही हल हो सकती है।

यदि डाका डालना पाप है तो बिना मतलब किसी से घृणा करना भी पाप है। हरिजन लोग आपसे और कुछ नहीं मांगते, केवल सहानुभूति और सौहार्द मांगते हैं। क्या इतना भी आप इन्हें नहीं दे सकते?

अस्पृश्यता का निवारण अछूतों पर दया करने के लिए नहीं किन्तु अपने मन की वृत्तियों को सुधारने के लिए करना चाहिए। किसी को बेचारा मानना ठीक नहीं है। यदि दया करनी है तो अपनी दीनता के प्रति कीजिए। अपने को ठीक कर लें तो दया स्वतः हो जाएगी। आचार्य भिक्षु ने कहा—अपने आपको बचाओ दूसरे अपने-आप बच जाएंगे। अपने पैर को बचाओगे तो चींटियां स्वतः बच जाएंगी।

हरिजन भाइयों से भी मैं कहना चाहता हूं कि आप दूसरों की सहानुभूति चाहते हैं तो अपने आपको भी टटोलें। आपस में भी छुआछूत है, आपस में एक दूसरी जाति के प्रति अस्पृश्यता की भावना है। उनका स्पर्श नहीं करते। उनके हाथ का पानी भी नहीं पीते। परस्पर एक दूसरे को हीन मानते हैं। अतः आप इस जुगुप्सा को जीतने का प्रयास करें। यदि सवर्ण लोगों की अस्पृश्यता की भावना खत्म करवाना चाहते हैं तो परस्पर की अस्पृश्यता को मिटाना होगा।

केवल नारों से कोई लाभ होने वाला नहीं है। इसके लिए चरित्र को ऊंचा

उठाने का प्रयास करना होगा अन्यथा सुधार नहीं हो सकगा। आप ध्यवसन मुक्त रहे। जुआ और शराब छाड़ें। सिनेमा तथा विवाह शादी के अवसर पर अपव्यय से बचें। ऐसा करने के लिए अणव्रती बनें। अणुव्रती बनन का अथ है—अच्छा मनुष्य बनना। अणुव्रत का मच महाजनो तथा नताओ के लिए जितना खुला है उतना ही हरिजनो के लिए भी। अणुव्रत का एक नियम है कि जाति, वण आदि के आधार पर किसी को अस्पृश्य या हीन उच्च नहीं मानें। यदि सब अणुव्रती बन जाते हैं तो अस्पश्यता की बीमारी सहज ही खत्म हो सकती है।

जीवन एक प्रयोगभूमि

हम जीवन क्रम को देखते हैं तब लगता है कि जीवन जीने की कोई निश्चित पद्धति नही है। जिस देश काल म जो धारणाए मान्य होती है, उन्ही के अनुसार जीवन चलता है। धारणाए बदल जाती हैं, जीवन का क्रम बदल जाता है। जीवन का क्रम परिवतनशील है इसलिए नये प्रयोग करने का अवकाश है। इस अवकाश से हम लाभ उठाना चाहते है।

अच्छाई का उभार

मनुष्य के जीवन म अच्छाई और बुराई दोनो के बीज पडे है। निमित्त पाकर व फूट पडते हैं। मनुष्य म अच्छाई नहीं होती तो वह कभी अच्छा नही बन पाता। देश, काल, प्रकृति और व्यवस्था का अनुकूल योग मिलता है, तब अच्छाई को उत्तेजन मिलता है, वह प्रकट होती है और मनुष्य अच्छा बन जाता है।

धम की प्रेरणा

धम ने मनुष्य को अच्छा बनने की प्रेरणा दी है। पर उस प्रेरणा स धमनिष्ठ लोग ही लाभान्वित हुए हैं। धमप्रेमी बहुत लोग हो सकते है पर धमनिष्ठ लोग बहुत थोडे होते हैं। अत धम की प्रेरणा से समाज म अच्छाई का आना सहज नही है। धमप्रेमी लोग धम की प्रेरणा को अच्छा समझते है किन्तु उससे स्वार्थों का सघष होता है, तब बुराई का सहारा लेकर भी वे अपने स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं। इसलिए धम से उनके जीवन म परिवतन नही आ सकता। बहुत लोग कहते हैं—हजारों वष बीत गए, धम स कोई परिवतन नहीं हुआ। समग्र समाज की दृष्टि से देखें तो इस उक्ति मे सचाई है। कुछ लोगो की दृष्टि से देखें तो सचाई यह है कि धर्म की प्रेरणा से जितना परिवतन हुआ, उतना किसी भी व्यवस्था से नही हुआ। अहिंसा, अपरिग्रह, प्रामाणिकता और नतिकता म धमनिष्ठ लोग

सबसे आगे रहे हैं और है।

धर्म और व्यवस्था का योग

धर्म का शासन सबको मनवाया नहीं जा सकता। वह उन्हीं के लिए होता है, जो मानना चाहते हैं। वैधानिक शासन मान्य करना पड़ता है भले फिर वह हृदय से मान्य हो या न हो।

जो धर्मनिष्ठ नहीं होते वे स्ववशता से अपने स्वार्थों का त्याग नहीं कर सकते। वैधानिक व्यवस्था में विवशता होती है इसलिए वहां स्वार्थों का त्याग करना पड़ता है। धर्म के शासन में (हृदय के शासन में) और वैधानिक व्यवस्था में परस्पर सतुलन हो तो सामाजिक जीवन अधिक स्वस्थ हो सकता है। जिन लोगों ने समाज व्यवस्था को समानता के आधार पर प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है उन्होंने धर्म के प्रति ग्लानि का भाव प्रकट किया है। ऐसा करके उन्होंने अपनी व्यवस्था में ज्वालामुखी की शृंखला का अवकाश दिया है। सत्य की निष्ठा को समाप्त कर समस्याओं को सुलझाने की मनोवृत्ति नयी समस्याओं के बीज बोने की मनोवृत्ति होगी।

धर्म के क्षेत्र में मैं क्रान्ति की अपेक्षा मानता हूं। पर धर्म की समाप्ति के लिए नहीं किन्तु उसकी शुद्धि के लिए। जल की गदगी को मिटाने की बात समझ में आ सकती है किन्तु जल के प्रति ग्लानि करने की बात समझ में नहीं आती। पुराने लोगों ने धर्म के साथ समानता पर आधृत समाज व्यवस्था का सम्पादन नहीं करके शायद भूल की थी और आज वे लोग समानता पर आधृत समाज-व्यवस्था में से धर्म को अलग कर भूल रहे हैं। इन दोनों भूलों का परिमार्जन धर्म और समानता पर आधृत समाज व्यवस्था के योग से ही सकता है। अणुव्रत इसी दर्शन की भूमिका पर प्रतिष्ठित है।

अणुव्रत की अपेक्षा

मेरी दृष्टि में मानवीय विकास की सर्वोच्च भूमिका व्रत है। व्रतविहीन मनुष्य का मानवीय एकता में विश्वास नहीं हो सकता। उच्छृंखल व्यवहार व्रत विहीनता या असयम की स्थिति में पनपते हैं। अपने आस-पास देखता हूं तो मुझे दीखता है कि लोग धार्मिक बनना चाहते हैं पर व्रती बनना नहीं चाहते। किन्तु उन्हें समझना चाहिए कि आत्मसयम के बिना धार्मिकता विकसित नहीं हो सकती।

विलासी मनोवृत्ति

विलासी मनोवृत्ति जीवन का सबसे बड़ा खतरा है। जीवन का लक्ष्य जैसे ही शिथिल होता है, वैसे ही विलासी वृत्ति उभर आती है। कठोर जीवन जिए बिना कोई भी राष्ट्र शक्तिशाली नहीं हो सकता। अणुव्रत सादे और स्वावलम्बी जीवन पद्धति का प्रेरक है।

प्रान्तीयता की समस्या

मैंने कुछ स्थायी समस्याओं की चर्चा की। अब मैं वर्तमान समस्याओं की ओर आप लोगों का ध्यान खींचना चाहता हूं। प्रान्तीयता आज की ज्वलंत समस्या है। हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है। फिर भी एक प्रांत के लोग दूसरे प्रान्त में सुरक्षित नहीं हैं। कभी-कभी ऐसा सन्देह होने लगता है कि क्या यह एक राष्ट्र है? प्रान्तीय निष्ठा ने राष्ट्रीय निष्ठा को निस्तेज बना दिया है। प्रान्तीयता के पनपने में कुछ दोष राजनीतिक दलों का है और कुछ व्यापारियों का है। व्यापारिक लोग प्रांतवासी लोगों के साथ सामंजस्य स्थापित करके चलें, उनके स्वार्थों और हितों पर बराबर ध्यान दें तो समस्या को उग्र बनने से रोका जा सकता है। राजनीतिक दलों का भी यह पवित्र कर्तव्य है कि वे प्रान्तीयता को उभार न दें। इसमें न केवल राष्ट्रीय एकता किन्तु मानवता खतरे में पड़ती है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शत्रु बन जाता है। अणुव्रत मानवीय एकता का प्रबल समर्थक है। इसलिए हर अणुव्रती को प्रान्तीयता के विष से मुक्त रहना चाहिए।

हिंसक उपद्रव

हिन्दुस्तान के अनेक भागों में समय-समय पर हिंसक उपद्रव भड़क उठते हैं। महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय वृक्ष को अहिंसा की निष्ठा से सींचने का प्रयत्न किया था, वह प्रयत्न व्यर्थ हो गया, ऐसी अनुभूति हो रही है। अहिंसा के बिना राष्ट्रीय चरित्र विकसित नहीं होता और राष्ट्रीय नीति व जीवन पद्धति में स्थायित्व नहीं आता, हिंसा का आवेश बढ़ता जाता है।

मैं हिंसा को सर्वथा अवांछनीय मानता हूं। फिर भी हिंसा की पृष्ठभूमि में विद्यमान कारणों की उपेक्षा को भी अनुचित मानता हूं। असाधारण विषमता टिक नहीं सकती। प्रबुद्ध युग उसे सह नहीं सकता। उच्चवर्ग इस स्थिति का अनुभव करे तो हिंसा में कमी आ सकती है। शासन तंत्र में बैठे लोग भी अपनी नीति में कुछ हेर-फेर करें तो सहज ही हिंसा टल सकती है। हिंसक उपद्रवों द्वारा

बाध्य हुए बिना सरकार समस्या पर ध्यान नही देती, इस धारणा को बदले बिना समय-समय पर होने वाले गोलीकांडो को नही रोका जा सकता। क्या सरकार कर्तव्य बुद्धि व औचित्य के आधार पर बाध्य हुए बिना समस्या नही सुलझा सकती ?

अन्याय का प्रतिकार

अन्याय का प्रतिकार नही होता है तो अन्याय बढ़ता है। कोई भी आदमी यह कैसे कह सकता है कि अन्याय का प्रतिकार न किया जाए। किन्तु उसके प्रतिकार का तरीका केवल हिंसा ही है ? अहिंसात्मक ढंग से भी उसका प्रतिकार किया जा सकता है। मैने इस बार प्रतिरोधात्मक अहिंसा पर बहुत बल दिया है। मै अणुव्रत कार्यकर्ताओ से कहना चाहता हू कि वे कोई उचित व विवेकपूर्ण मार्ग ढूढे, जिससे अहिंसात्मक पद्धति के द्वारा सामूहिक रूप से अन्याय का प्रतिकार किया जा सके।

जीवन के हर क्षेत्र मे हिंसा के सामने अहिंसा का, स्वार्थपरता के सामने नि स्वार्थता का तथा धन की मूर्च्छा के सामने धन की अनासक्ति का विकल्प प्रस्तुत करना अणुव्रत का लक्ष्य है। इसलिए आगामी वर्ष का कार्यक्रम उसी लक्ष्य की पूर्ति के आधार पर बनना चाहिए। कार्य की प्रयोगात्मक दिशा को विकसित करना अपेक्षित है। मुझे आशा है कि अणुव्रती इस दिशा मे गहराई से चिन्तन करेंगे।

अणुव्रत आचार-संहिता को व्यापक कार्यक्रमो की पृष्ठभूमि के रूप मे विकसित किया गया है। उससे कार्य को गति मिलने की सभावना है।

इस वर्ष हमारे साधु-साध्वियो ने अणुव्रत का व्यापक बनाने मे काफी प्रयत्न किया है। मै उन्हे उनके शुभ प्रयत्न के लिए हार्दिक बधाई देता हू। अनेक कार्यकर्ताओ ने भी इस दिशा मे अपना समय और शक्ति लगाई है उसका मै स्वागत करता हू। मुझे आशा है हम मिलकर कार्य को आगे बढाने मे कृत-सकल्प होगे।

स्वार्थ चेतना नैतिक चेतना

पिछले बीस वर्षों से हम जिस विषय की चर्चा करते आ रहे हैं, उसी विषय की चर्चा करने के लिए आज पुन एकत्र हुए हैं।

चर्चा करना और एकत्र होना अच्छी बात है। किन्तु उसकी अच्छाई का आधार उसका परिणाम हो सकता है। हमारी चर्चा का और हमारे एकत्र होने का क्या कोई परिणाम आ रहा है ? या हम भावना के बल पर ही चर्चा और मिलन के क्रम को आगे बढ़ा रहे हैं ? यह एक प्रश्न है और गभीर प्रश्न है। इसका उत्तर पाये बिना हम भावी कार्यक्रम की रेखा नही खीच सकते।

नैतिक अभियान का सकल्प

एक दिन मुझे लगा कि नैतिक विकास का प्रयत्न होना चाहिए। आसपास रहने वाले लोगो के लिए एक छोटी सी योजना बनायी गयी। उसका नाम रखा गया अणुव्रत।

नाम बहुत पुराना और रूप नया। मेरे आसपास रहने वाले लोग अधिक सख्या मे जन थे। वे जन धर्म के अनुयायी थे। अत उनके लिए नया धर्म चलाने की किसी आवश्यकता का अनुभव नही हो रहा था। इस बात की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था कि उनका व्यवहार नैतिक बने।

धार्मिक का व्यवहार नैतिक न हो यह बहुत आश्चर्य की बात है। पर आज के धार्मिक समाज मे यह बहुत आश्चर्य की बात नही रही है। मैंने धार्मिक को नैतिक बनाने का सकल्प किया और उसके लिए अणुव्रत का काम प्रारम्भ किया।

मानव-धर्म (विश्व धर्म) की स्थापना

कार्य के प्रारम्भ मे मुझे सूझा कि नैतिकता का मार्ग सबके लिए उपयोगी है, फिर इसे कुछ लोगो तक ही सीमित क्यो रखा जाए ? इस चिन्तन के बाद इसे व्यापक

रूप दिया गया। फलस्वरूप—

१ अणुव्रत धार्मिक क्रांति का वाहक बन गया, किसी धर्म सम्प्रदाय का वाहक नहीं रहा।

२ वह मनुष्यमात्र के लिए हो गया किसी जाति या वर्ग विशेष का नहीं रहा।

३ वह सार्वदेशिक हो गया किसी देश विशेष का नहीं रहा।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि अणुव्रत के बहाने जाने अनजाने मानव धर्म की स्थापना हो गई।

- मानव धर्म वही हो सकता है जो केवल धर्म हो, सम्प्रदाय न हो।
- मानव धर्म वही हो सकता है जो किसी के द्वारा अधिकृत न हो।

अणुव्रत आंदोलन का ध्येय और प्रगति

अणुव्रत के माध्यम से मैं तीन काम करना चाहता था—

१ जनसाधारण में नैतिक निष्ठा उत्पन्न करना।

२ धार्मिक के जीवन में व्याप्त धर्म स्थान और कर्म स्थान की विसंगति को दूर करना।

३ व्रत के द्वारा सामाजिक समस्याओं का समाधान करना।

कोई भी ध्येय पूर्ण हुआ है ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रथम ध्येय में कुछ सफलता मिली है दूसरे में कम और तीसरे में उससे भी कम।

नैतिकता के अभियान में कुछ कठिनाइयां हैं

१ गरीबी।

२ बड़प्पन के मानदण्ड।

३ अनैतिकता के प्रत्यक्ष लाभ।

४ बुराई का फल बुरा होता है—इस सिद्धांत के प्रति अनास्था।

५ नैतिकता और अनैतिकता से होने वाले लाभ और अलाभ का अपरिचय।

१ महंगाई के जमाने में पेट भर रोटी नहीं मिलती उस स्थिति में मध्यम वर्ग के कर्मचारी यदि रिश्वत ले लेते हैं और मध्यम वर्ग के व्यापारी यदि अप्रामाणिकता बरतते हैं उसमें कौन सा बड़ा दोष है? इस मान्यता के आधार पर मध्यम वर्ग में अनैतिकता को प्रोत्साहन मिल रहा है।

२ सम्पन्न व्यक्तियों को एक शादी में चालीस पचास हजार रुपये चाहिए। यदि वे अप्रामाणिकता न बरतें तो उनकी लड़कियों की शादी कैसे हो? उनका घरेलू खर्च कैसे चले? इस मान्यता के आधार पर सम्पन्न वर्ग में अनैतिकता

को प्रोत्साहन मिल रहा है।

३ एक आदमी अनैतिक आचरण करता है और दूसरा नहीं करता। अनैतिक आचरण करने वाला सम्पन्न हो जाता है, मकान बना लेता है, उसके अनेक मित्र हो जाते हैं तथा उसे सब प्रकार की सुख-सुविधा और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। नैतिक आचरण करने वाला उतना धन नहीं कमा पाता। इसलिए उसे उतना सामाजिक महत्त्व भी नहीं मिलता और पर्याप्त सुविधाएं भी नहीं मिलतीं। इस स्थिति में अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है।

४ किसी जमाने में इस सिद्धांत—बुराई का फल बुरा होता है—से समाज अनुशासित था। फलतः वह बुराई से बचता था और यदि किसी व्यक्ति से कोई बुराई हो जाती तो वह उसका प्रायश्चित करता था। आज उस सिद्धांत के प्रति आस्था टूट चुकी है। दूसरा नया सूत्र कोई आया नहीं है, जो समाज को बुराई से बचाने में उतना समर्थ हो। इस सैद्धांतिक रिक्तता के कारण भी अनैतिकता को प्रोत्साहन मिल रहा है।

५ कुछ लोग अनैतिक आचरण के द्वारा तात्कालिक लाभ उठा लेते हैं। किन्तु जब अधिकांश लोग अनैतिक आचरण करने लग जाते हैं तब लाभ की अपेक्षा कठिनाइयां अधिक बढ़ जाती हैं किन्तु अनैतिक आचरण करने वालों को इस तथ्य का ज्ञान नहीं है।

समाज एक शृंखला है। उसकी एक कड़ी में गड़बड़ होने पर सारी शृंखला ढीली हो जाती है।

समाज एक जलाशय है। उसमें एक ढेला फेंकने पर इस छोर से उस छोर तक लहरें उठ जाती हैं।

किन्तु जिन्हें व्यक्ति की बुराई के सामाजिक परिणामों का बोध नहीं होता, वे व्यक्तिगत हित साधने के लिए विष बीज बोते रहते हैं और फलतः अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता रहता है।

नैतिक अभियान के सामने आने वाली कठिनाइयों की मैंने संक्षेप में चर्चा की है। विस्तार में जाएं तो अनगिन कठिनाइयां हैं। इन कठिनाइयों के कारण किसी भी नैतिक अभियान के तत्काल व सोलह आना सफल होने की आशा कैसे की जा सकती है।

बल प्रयोग और हृदय परिवर्तन

सत्ता के बल पर किए जाने वाले अभियान भी कठिनाइयों व विफलताओं से मुक्त नहीं होते तब हृदय परिवर्तन के आधार पर चलने वाले अभियान कैसे तत्काल

सफल हो सकते हैं ।

आप पूछ सकते हैं कि फिर ऐसे अभियान क्यो चलाये जाए, जो तत्काल और पूर्णत सफल नही होते ?

तात्कालिक परिणाम की आशा सत्ता से की जा सकती है । पर उसकी कठिनाई यह है कि जैसे-जैसे समय बीतता है उसके परिणाम शिथिल होते जाते हैं ।

हृदय को प्रभावित करने वाले अभियानो का तात्कालिक परिणाम दिखाई नही देता । पर जैसे जैसे समय बीतता है वैसे वैसे उनके परिणाम विकासशील और सुदृढ होते जाते हैं । कोई भी समझदार आदमी तात्कालिक परिणाम के लिए दीर्घकालिक परिणाम की उपेक्षा नही कर सकता ।

भावी कार्यक्रम का आधार

हिंसा, सग्रह और अनैतिक मूल्यो के प्रति जिस वेग से आस्था बढ रही है उसी वेग से यदि नैतिक अभियान ने काम नही किया तो क्या दीर्घकालीन परिणाम की आशा की जा सकती है ? यह प्रश्न बडी तत्परता से पूछा जाता है । किन्तु इसका उत्तर उतनी तत्परता से नही दिया जा सकता ।

आज अधिकाश लोग अपने अपने स्वार्थ की सिद्धि म सलग्न हैं । स्वार्थसिद्धि को बुरा भी नही कहा सकता । किन्तु दूसरो के स्वार्थों को विघटित कर अपना स्वार्थ साधना निश्चित ही बुरा है और बहुत बुरा है । समाज म इस बुराई के प्रति घृणा उत्पन्न हुए बिना नतिकता के भाग्य के बारे म कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती ।

मैं नतिकता को व्यवस्थाओं व विधि विधानो के साथ नत्थी नही करता । मै उसे व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय की अच्छाइ के साथ जोडता हू । जो व्यक्ति अपना हित साधने क लिए दूसरो का विघटन नही करता, दूसरो के प्रति क्रूर व्यवहार और विश्वासघात नही करता उसे मैं नैतिक आदमी मानता हू ।

अणुव्रत अभियान सस्कार निर्माण का अभियान है । एक आदमी सकरी पगडडी द्वारा पहाड पर सीधा चढ सकता है । पर हजारो-हजारो लाग और वाहन वैसे नही चढ सकते । सडक बनाने म समय लगता है पर उसक बनन पर एक बच्चा भी पहाड की चोटी तक पहुच सकता है । हम निष्ठा के साथ काम करना चाहिए । सफलता की उतावली म यथार्थ को नही भुला देना चाहिए । मैं यह चाहता हू कि अभियान के प्रयत्न तीव्र हो सघन हो और व्यवस्थित हो ।

मद अग्नि से पानी गर्म नही होता । अग्नि म पर्याप्त इधन डालने पर ही पानी गरम हो सकता है ।

पांच-पांच हाथ के पचासो गड्ढे खोदने पर भी जल नही निकलता। यदि पचास हाथ का एक ही गड्ढा खोदा जाता है तो जल निकल आता है।

इधर-उधर बिखरी इटो से मकान नही बनता। मकान बनाने के लिए उन्हें व्यवस्थित ढग से जचाना होता है। अणुव्रत अभियान का भावी कार्यक्रम इन्ही तथ्यो पर निर्धारित होना चाहिए।

१ अभियान को तीव्र करने के लिए जनता तक पहुचना व उसे नैतिकता स होने वाले लाभ समझाना जरूरी है। 'तुम्ह नैतिक बनना चाहिए'—यह उपदेश है। इससे बहुत सफलता की आशा नही की जा सकती।

आप नैतिकता और अनैतिकता के परिणामो का विश्लेषण कीजिए। जनता किस ओर आकृष्ट होती है, यह उसी पर छोड दीजिए। यदि आपकी शैली समर्थ है और आप उसके हृदय तक पहुच सकते हैं तो कोई कारण नही कि वह नैतिकता के लाभ से प्रभावित न हो। सूत्र की भाषा मे नैतिकता का उपदेश उस (नैतिकता) के विकास का मद प्रयत्न है और नैतिकता का प्रशिक्षण उसके विकास का तीव्र प्रयत्न है।

यह प्रसन्नता की बात है कि नैतिक शिक्षण की ओर केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकारो का ध्यान आकृष्ट हुआ है। अणुव्रत आन्दोलन को इस काय मे अपनी शक्ति का नियोजन करना चाहिए और नैतिक शिक्षा के कायक्रम को प्राथमिकता देनी चाहिए।

२ नैतिक जीवन जीना चाहिए यह शुभ सकल्प है। जिस आदमी मे थोडी-सी भी सत की मात्रा है, वह सकल्प को स्वीकार करना चाहेगा। किन्तु नैतिक जीवन जीने म आने वाली कठिनाइयो को पार करने का माग न सूझे तब आदमी नैतिक माग स दूर हट जाता है।

इस स्थिति म क्या अणुव्रत समिति का यह कर्तव्य नही होता कि वह नैतिक जीवन जीने के प्रयोग प्रस्तुत करे?

एक शिक्षक, राज्य कमचारी और व्यापारी नैतिक आचरण करते हुए अपना जीवन अच्छे ढग स कैसे चला सकता है इसके प्रयोग प्रस्तुत किये जाए तो नैतिक विकास मे बहुत योग मिल सकता है।

अणुव्रत का भाव यह नही है कि नैतिक बनने के लिए काम छोड दिए जाए। काम छोड देन पर नैतिक और अनैतिक बनने का प्रश्न ही नही उठता। अपना काम करते हुए आदमी अनैतिक आचरण न करे—बस यही अणुव्रत का ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए विकल्पो की खोज करना और उनका प्रयोग जनता के सामने प्रस्तुत करना अणुव्रत समिति का काम है। नैतिकता की प्रतिष्ठा कोरे वाचिक प्रयत्नो से ही नही हो सकती। उसके लिए सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र मे प्रायोगिक काय करना जरूरी होता है।

भगवान ऋषभ जब राजा थे तब उन्होंने प्रजाहित के लिए असि मसि और कृषि का प्रवर्तन किया। एक आचार्य के मन में यह प्रश्न पैदा हुआ कि कृषि आदि में हिंसा है फिर भगवान ऋषभ ने उनका प्रवर्तन कैसे किया? इस प्रश्न का समाधान भी उन्होंने किया है। उनका कहना है कि उस समय प्राकृतिक खाद्य का अभाव हो रहा था। उसके कारण लोग चोरी और छीनाझपटी करने लग गए थे। भगवान ऋषभ ने चोरी छुडाने के लिए जनता को कृषि आदि का प्रशिक्षण दिया।

जीविका के अप्रामाणिक तरीकों के सामने यदि प्रामाणिक तरीके प्रस्तुत न किए जाए तो नैतिक विकास की आशा आत्मविश्वास के साथ नहीं की जा सकती।

अणुव्रत का मुख्य कार्य संस्कार निर्माण है। इसलिए उसका मुख्य कार्यक्षेत्र शिक्षा जगत होना चाहिए। संस्कार निर्माण के क्षेत्र में शिक्षक जितना काम कर सकते हैं उतना अन्य लोग नहीं कर सकते। मैं चाहता हूं कि इस कार्य में शिक्षकों का अधिक से अधिक योग प्राप्त किया जाए।

11801
10/1/1/2001

त्याग और नैतिक चेतना

भोग और स्वार्थ चेतना प्रकृति से जागृत रहती है। इसलिए मनुष्य अपनी सुख सुविधा के लिए निरंतर दौड रहा है। उसमें त्याग और नैतिक चेतना जगानी होती है। अणुव्रत ने इस दिशा में एक प्रेरणा का सूत्रपात किया है। हम यह दावा नहीं कर सकते कि सारी दुनिया में इस प्रकार की चेतना को जगा देंगे। मैं बहुत विनम्रता के साथ कहना चाहता हूं कि मुझे इस काम में सबका हित लगता है। इसलिए मैं और मेरे सहयोगी इस क्षेत्र में काम करते हैं। क्या कितना होगा इसका भार उठाना हमारे लिए संभव नहीं है।

क्या स्वार्थ चेतना समाप्त हो जायगी? क्या मनुष्य कभी पूरा नैतिक बन जायेगा? ऐसे प्रश्नों में उलझे बिना हमारा काम इतना ही है कि हम स्वार्थ चेतना के विरोध में नैतिक चेतना के जागरण का अभियान निरंतर चालू रखें।

मैं समस्या के स्थायी समाधान में कभी विश्वास नहीं करता। सूर्य प्रतिदिन प्रकाश देता है और अंधकार को हरता है। मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है कि वह समस्याओं के सामने समाधान की लौ जलाता रहे।

मेरी दृष्टि में समस्याओं का यही स्थायी समाधान है। चिन्तन की इसी भूमिका के आधार पर हमने अणुव्रत का काम किया है और करते रहेंगे।

□□